मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066

Platinum Edition

(अंक-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018)

संरक्षक

प्रो. राघवेन्द्र पी. तिवारी

कुलपति

प्रधान सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

सम्पादक

प्रो. निवेदिता मैत्रा

डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 264455

ई-मेल : mādhyābhārti.2016@gmāil.com

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

- प्रो. वीरेन्द्र मोहन, हिन्दी विभाग
- प्रो. ए.एन. शर्मा, मानवशास्त्र विभाग
- प्रो. पी.पी. सिंह, विधि विभाग
- प्रो. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव, इतिहास विभाग
- डॉ. अनुपमा कौशिक, राजनीतिशास्त्र विभाग

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

Platinum Edition

अंक-75, जुलाई-दिसम्बर 2018

ISSN 0974-0066 (पूर्व-समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका)

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

प्रकाशित रचनाओं के अभिमत से डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :

मध्य भारती

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर - 470003 (म.प्र.)

दूरभाष : (07582) 264455

ई-मेल : mādhyābhārti.2016@gmāil.com

आवरण : डॉ. छबिल कुमार मेहेर

मुद्रण :

अमन प्रकाशन

कटरा नमक मंडी, सागर (म.प्र.)

सदस्यता शुल्क

	प्रति अंक	आजीवन
व्यक्तिगत	रु. 150/-	रु. 2000/-
संस्थागत	रु. 200/-	रु. 4000/-

अनुक्रमणिका

चारणी पांडुलिपिविज्ञान : स्वरूप-विमर्श 7
बलवंतराय शांतिलाल जानी

गुरुकुल : महत्त्व और आवश्यकता 24
राघवेन्द्र प्रसाद तिवारी

सूफी कवि जायसी और उनका सौन्दर्य-बोध 33
विजय बहादुर सिंह

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जीवन-दर्शन 42
रामदेव शुक्ल

इतिहास-बोध की संस्कृति-सापेक्षता एवं भारतीय इतिहास-बोध 47
कमलनयन

साहित्य और उसका शिक्षण : अर्थ और आयाम 60
रवीन्द्र कुमार पाठक

आलोचना : प्रकृति एवं स्वरूप 74
भवतोष इंद्र गुरु

रमेशचन्द्र शाह : बहुवचनी सृजनात्मकता के शीर्षस्थ साधक 79
छबिल कुमार मेहेर

भारत में औपनिवेशिक हस्तक्षेप की बौद्धिक परियोजनाएँ 88
सर्वेश पाण्डेय

आलोचनात्मक लेखन के सन्दर्भ में कवि कुँवर नारायण पर विचार 108
मिथलेश शरण चौबे

1857 की स्वातंत्र्य-क्रांति के महानायक तात्या टोपे 118
बी.के. श्रीवास्तव

पुरातात्त्विक एवं सांस्कृतिक स्थल नान्दूर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 131
नागेश दुबे

प्राचीन मध्यप्रदेश में सूर्य पूजा 141
आर.पी. सिंह

सच्चिदानंद ब्रह्म और आनंद-विद्या 146
सविता गुप्ता

स्वास्थ्य बीमा कंपनियों की व्यवसायिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन 151
डी.के. नेमा एवं अनुराधा चौरसिया

बलूचिस्तान का भविष्य व भारत : स्वतंत्र राष्ट्र या पाकिस्तान का प्रान्त 157
अनुपमा कौशिक

ब्रिटिश कालीन भारत में रेलवे के विकास पर महात्मा गाँधी के विचार 163
अखिल कुमार गुप्ता

A Note on Pārādoxes ānd Some Applicātions 177
Ram Prasad

Pundit-Trādition in Nineteenth ānd Twentieth Centuries 190
Radhavallabh Tripathi

Hijācking of Vivekānāndā's Views 224
Ashok Modak

Vivekānāndā's Views on Vedās : An Alternātive Reāding 241
Binod Kumar Agarwala

Indo-Angliān : Connotātions ānd Denotātions 268
Susheel Kumar Sharma

Reflections on DeenDāyāl Upādhyāyā's Vision of Chiti ānd Dhārmā-Centric Indiān Culture 292
Sudhir Kumar

Cān one be ā Buddhist without believing in rebirth ? A question before Engāged Buddhist thought 314
P. P. Gokhale

Revisiting Adhyāsā 321
Kanchan Mande

Modernity, Inter-Religious Conflict ānd Buddhism 329
Ambika Datta Sharma

A Bāptist Missionāry's Life ānd Endeāvours : An Epistolāry Study 334
Saptarshi Mallick

Nyāyā Pānchāyāt : A Step Towārds Pārticipātory Justice 347
Vikash Agrawal & P.P. Singh

Rebāti : The Renāissānce Girl of Odiā Literāture 360
Jayanta Kar Sharma

पुस्तक-समीक्षा-संवाद 369
एक भूली विरासत की अविस्मरणीय कथा
विजय बहादुर सिंह

फिर से अकबर 379
राधावल्लभ त्रिपाठी

चारणी पांडुलिपिविज्ञान : स्वरूप-विमर्श

बलवंतराय शांतिलाल जानी

आधुनिक सुख-सुविधाओं से संपन्न अहमदाबाद जैसे मेट्रोपोलिटन सीटी (विविध रंगी शहर) में सिर्फ ज्ञान की आराधना और उपासना को लक्ष्य में रखकर, आप सब पांडुलिपिविज्ञान के प्रशिक्षण के निमित्त समय निकाल रहे हैं, यह एक बड़े राहत की बात है। इस समय आप जो काम कर रहे हैं, उससे पांडुलिपिविज्ञान के क्षेत्र में क्रियाशील हम मित्रों को भी बहुत बल मिलेगा। छुट्टियों को आरामदेह बनाने वाली सुख-सुविधाएँ, उत्तम खाद्य पदार्थ, सिनेमा आदि कितनी ही ललचाने वाली, लुभाने वाली वस्तुएँ हमारे आसपास फैली हुई हैं। इन सभी बातों को एक किनारे रखकर, जो मिले उसी में संतोष करके मात्र ज्ञान की आराधना करना, मेरी समझ से, आज के समय में यह एक नए प्रकार का तप है। इस दृष्टि से आप सभी तपस्वी हैं।

भारत सरकार के 'मैन्यूस्क्रिप्ट मिशन' द्वारा प्राचीन पांडुलेखों के संदर्भ में आरंभ की गई यह योजना मुझे बहुत महत्त्वपूर्ण लगती है। यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसका उपाधिपरक प्रशिक्षण कहीं भी नहीं दिया जाता। आप एम. ए., एम. फिल्. तथा पी-एच्. डी. की जो उपाधि प्राप्त करते हैं, उनमें पुराने पांडुलिपियों के पठन, उनके संपादन तथा मूल्यांकन संबंधी पाठ्यक्रम कहीं भी नहीं होता। तत्त्वदर्शन और साहित्य, भाषाविज्ञान, लोकसाहित्य, आधुनिक साहित्य आदि विषयों के वैकल्पिक पेपर तो होते हैं, परंतु मैन्यूस्क्रिप्टोलॉजी यानी पांडुलिपिविज्ञान को एम.ए., एम.फिल्. तथा पी-एच.डी. के स्तर पर भी कहीं स्थान नहीं दिया जाता। फिर भी, एक अध्यापक से यह अपेक्षा की जाती है कि उसे कुछ नया करना चाहिए। नया कुछ करने के लिए, जिस कुशलता की जरूरत होती है, उसके लिए विश्वविद्यालयों में कही कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी परिस्थिति में 40-50 दिन के कोर्स की यह जो सुविधा तैयार की गई है, वह सराहनीय है। इस प्रकार के यदि दो-तीन कोर्स किए जाएँ, तो नई पीढ़ी के बहुत सारे अध्यापक तथा शोधकर्ता पांडुलिपिविज्ञान में दीक्षित होंगे। हमारे समय में ऐसे अध्ययन के लिए थोड़ा समय मिलता था। उसे 'समर स्कूल' कहा जाता था। 'समर स्कूल' का बड़ा महत्त्व था। जिस अध्यापक को पूना के 'फर्ग्यूसन कॉलेज', 'डेकेन कॉलेज' या हैदराबाद में प्रवेश मिल जाता था, वह उसके लिए बड़ी उपलब्धि मानी जाती थी। समर स्कूल में बहुत अभ्यास कराया जाता था।

आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव, अध्ययन और चिंतन के आधार पर 'जैनपांडुलिपिविज्ञान' के संदर्भ में समस्त भारतीय पांडुलिपिविज्ञान के लिए, उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकने वाले अध्ययनमूलक ग्रंथ 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति और लेखनकला' (सन् 1925) का प्रकाशन किया। उसके कारण जैन श्रमण संस्कृति, पांडुलेख लेखन, संरक्षण और जतन की एक विशिष्ट परंपरा का परिचय प्राप्त होता है।

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 7-23*

मुझे ऐसी ही एक विशिष्ट और अनोखी परंपरा चारणी संस्कृति में प्रतीत होती है। जैन श्रमण संस्कृति की पांडुलिपिविज्ञान से बिल्कुल भिन्न प्रकार की विशिष्ट और अनोखा पांडुलिपिविज्ञान चारणी संस्कृति का विद्यामान है। उसमें न तो कहीं जैन-जैनेतर परंपरा जैसा स्वर्णाक्षरों में या रुपहली स्याही से लिखा हुआ लेख है; या न तो उसके जैसे कागज या पृष्ठ हैं। उनके पास न तो काष्ठपट्टिका होती है, न घूँट; नहीं होती हैं पोथियाँ या उनको सुरक्षित रखने की धातु-निर्मित मंजूषा।

बही बाँचने वाले बारोट या बनियों के हिसाब-किताब की बही के आकार के चमड़े के पूठे से रक्षित, बही के मध्यभाग में डोरी से बँधी हुई खड़ी बही में आड़े अक्षरों से पांडुलिपि के अनुकूल आड़ी लकीर में उनका लेखन किया गया होता है। पड़ी मात्रा, अग्र मात्रा, संख्या-निर्देशक-आलेखन पद्धति, ग्रंथ-लेखन सामग्री, प्रशस्ति और नामछाप आदि प्राचीन भारतीय पांडुलिपिविज्ञान के क्रम में चारणी पांडुलिपि तैयार करने की परंपरा है। इस शोधलेख में मैंने इस बात को केंद्र में रखा है कि चारणी पांडुलिपिविज्ञान पांडुलेखों को लिखने, उनको जतन करने, उनके संरक्षण और प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में कैसे अनोखा है।

1. चारणी साहित्य परंपरा का परिचय

अपने इस शोध लेख में मैंने, चारणी हस्तलेखन की परपंरा के बारे में अपनी समझ, स्वाध्याय और अपने निरीक्षण को आधार बनाकर, इन सभी महत्त्वपूर्ण बातों को एक सैद्धांतिक स्वरूप में प्रस्तुत करने की कोशिश किया है।

1.1. चारणी साहित्य की समस्त विधाओं में सामग्री का मात्र निरूपण नहीं होता; बल्कि उसमें उनका जो एक सुनिश्चित क्रम होता है, वह उनका निजी योगदान माना जाएगा। जैसे सॉनेट की 14 पंक्तियों में एक निश्चित आकार तो होता ही है, परंतु उसमें अलग-अलग क्रम से सामग्री का निरूपण होने के कारण एक निश्चित अर्थ संक्रमित होता है। ऐसा ही चारणी साहित्य की गीत विधा में भी है। इसमें चित्त में निहित आकार को शब्द तथा नाद के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

इसके मूल में परंपरा में से उद्‌भूत हेतु है, उद्देश्य है। अर्थात् प्रयोजन है। हेतु को किसी विधा में ढालते हैं; और विधा को उभारने वाले - प्रकट करने वाले तत्त्व हैं क्रमबद्धता, उसकी संरचना तथा उसकी माध्यम भाषा। भाषा में भी शब्द-चयन और पंक्ति-क्रम मुख्य है।

1.2. चारणेतर कृतियाँ छंदोबद्ध होती भी हैं; और नहीं भी होतीं; तथा उनमें नादतत्त्व बहुधा अनिवार्य नहीं होता; जबकि चारणी साहित्य में तो छंद अनिवार्य हैं; और छंद भी नाद को उभारने तथा प्रकट करने वाले होते हैं। इस तरह चारणी साहित्य अपने मूल स्वरूप में छंदाश्रित तथा नादाश्रित साहित्य है।

वर्णनानुप्राणित कथन चारणी साहित्य की दूसरी विशेषता है। उसमें भावजगत प्रमुख होता है। साथ ही ज्ञानजगत भी प्रमुख होता है। यह भी कह सकते हैं कि भावना-जगत तथा ज्ञान-जगत चारणी साहित्य के दो प्रमुख पक्ष हैं।

हमारे समय के प्रमुख भाषाविज्ञानी चॉम्स्की ने मानव मन को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार मानव मन में अभिव्यक्ति की अपार संभावना निहित है। उसमें से एक भाषा है। उस भाषा का प्रयोग बाह्य जगत से सीखकर नहीं, बल्कि चित्त पर पड़े उसके प्रभाव तथा आनुवंशिक (जेनेटिक) एंडोर्समेंट के कारण होता है। विरासत में मिली आनुवंशिक अभिव्यक्ति की क्षमता उसके सर्जक की विशिष्ट पहचान को प्रकट करने वाली होती है।

एक दूसरे बड़े समर्थ भाषाविज्ञानी याकोब्सन ने भी बड़े सूचक ढंग से 'द सिक्स लेक्चर्स ऑन साउंड एंड मीनिंग' नामक पुस्तक में, शब्द के घटकों के विनियोग में से उभरने वाले साउंड ध्वनि-नाद का भी अर्थ के संदर्भ में अवलोकन किया है। चारणी साहित्य में से उभरता नाद मात्र संवादिता - नादतत्त्व - को ही प्रकट करने

वाला नहीं होता, बल्कि उसका एक अर्थ भी, वर्णन भी और उसके साथ-साथ कथन भी अभिष्ट है। चॉम्स्की तथा याकोब्सन के इन विवरण तथा निष्कर्षों को आधार मान कर आगे चारणी साहित्य के संदर्भ में साहित्यिक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है; क्योंकि चारणी साहित्य इन दोनों बातों से समृद्ध है।

1.3. इस साहित्य की परंपरा को, उसकी भाषा के संदर्भ में, किसी ने चुनौती भी नहीं दी है। और बहुत प्रशंसा भी नहीं की है; अथवा किसी ने कोई आपत्ति भी नहीं की है। मेघाणी ने उसकी प्रशंसा की है। रतुदान रोहडिया ने सब कुछ को इकट्ठा करके एक इतिहास बनाया है। यह सब कुछ देखने और उसका अध्ययन करने का अवसर मुझे मिला। फिर मुझे लगा कि चारणी मनीषियों का सर्जन संरचना की दृष्टि से एकरूपता में भले आबद्ध हो, परंतु वह सिर्फ अनुकरण नहीं है। इस कारण वह अवधारणा के चौखटे में आबद्ध नहीं है; और फिर बिल्कुल सरल चीज भी नहीं है। बल्कि संगीत की भाषा में जिसे 'चीज' कहा जाता है, ऐसी ही चीज चारणी साहित्य है। यह साहित्य, परंपरा के भावकों द्वारा उसका जिस रूप में श्रवण, पान तथा भावन होता रहा है, उसकी उच्चावचता का परिचायक है। कुछ सुनने के इरादे से स्थिर मति बनकर बैठे हुए भावकों द्वारा भावन होता हो, उसमें कुछ समझने की, कुछ पाने की संभावना निहित होती हो, तब ऐसे भावकवृंद के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए रचा गया यह साहित्य है। इसे सिर्फ छपने के लिए, कुतूहल पैदा करने के लिए धारावाहिक रूप में लिखा गया साहित्य नहीं कहा जा सकता। मात्र मनोरंजन या आनंद देनेवाला भी इसे नहीं कहा जा सकता। यह सब भी इसमें से प्राप्त तो होता ही है, परंतु उसकी आड़ में या उसकी पृष्ठभूमि में तो ज्ञान और भाव ही होता है, जिसे प्राप्त करने की - प्राप्त कर सकने की उच्चस्तरीय भावकों की एक फौज खड़ी हुई। इस प्रकार चारणी साहित्य भावना-व्यापार को गढ़ने वाला और परिष्कृत-परिमार्जित करने वाला है।

2. चारणी साहित्य की परंपरा

2.1. झवेरचंद मेघाणी ने चारण और चारणी साहित्य (सन् 1943) की प्रस्तावना में लिखा है कि विषय-क्षेत्र नया है। मुझसे पूर्व किसी ने इसे लगातार समग्र रूप से अध्ययन का विषय बनाया हो, यह मेरी जानकारी में नहीं है। इसलिए मुझे अपने पाठकों की इस विषय के बारे में कोरी स्लेट जैसी मनोभूमि को लक्ष्य में रखकर अपने लेखन को समीक्षात्मक बनाने के बजाय विशेष रूप से सूचनाप्रधान रखना पड़ा है। सूक्ष्म विवेचन और मूल्यांकन की अवस्था तो इसके बाद आएगी; और वह भी मुझसे अधिक अधिकारी जनों के द्वारा।

मीतर कीजे चारणा, अवराँ आळ पंपाळ।
जीवतडाँ जश गावशे, अने मूवा लडावणहार।।

(चारण को मित्र बनाइए। दूसरे सभी बेकार हैं। चापलूस हैं। चारण जीते जी यश गाता है तथा मरने पर भी लाड़ लड़ाता है।)

चारण-हृदय की विशालता और सचाई के भरपूर उदाहरण हैं। साहित्य की उपासना में चिंतन, लेखन, मनन और कंठस्थ प्रस्तुतीकरण इस परंपरा की बहुत बड़ी विशेषता है। यह विशेषता ही इसे विशेष देशज रूप प्रदान करती है। यह अन्य परंपराओं से किस रूप में अलग प्रतीत होती है और कैसे अपनी खुद की व्यक्तिमत्ता स्थापित करती है, इसका निष्कर्ष निकालने से यह पता चलेगा कि चारणी साहित्य कैसे विशिष्ट और अनोखा है। ऐसा करने से ही चारणी साहित्य को सही परिचय मिल सकेगा।

2.2, सन् 1977 से मैं चारणी पांड्लेख भंडार से जुड़ा हुआ हूँ। उसके सूचीपत्र के प्रथम भाग के संपादन में सहायक के रूप में जुड़ने का मुझे अवसर मिला था। चारणी पांडुलेखों की खोज में कवि दाद के बाद बापूभाई गढ़वी के साथ-साथ मैंने भी रतुदानजी के साथ अनेक स्थानों की यात्रा की है। आधुनिक ढंग से पांडुलेखों के संरक्षण के लिए 'एल.डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, अहमदाबाद' जैसी परंपरा की यहाँ स्थापन

का मैं निमित्त रहा हूँ। 'नेशनल आर्काइव्ज ऑफ इंडिया' से अनुदान प्राप्त करके खास तापमान पर तपाकर रँगे गए गेज की स्टील की अलमारियाँ बनवाई थी। सागौन की लकड़ी का बुरादा और धूल भी जिसमें न घुस सके, ऐसी खास डिजाइन वाले सागौन के बक्से बनवाए; और उसमें चारणी पांडुलेखों का संरक्षण आरंभ किया। उसके सूचीपत्र का दूसरा भाग तैयार किया। पहले भाग में ऐतिहासिक अभिगम से विस्तृत भूमिका तैयार की। चारणी कंठ-परंपरा के दोहे एकत्र करने के लिए क्षेत्रकार्य किया। अंबादान रोहड़िया तथा अन्यों को, उनसे चारणी साहित्य में अनुसंधान कार्य कराकर, इस क्षेत्र में सक्रिय बनाया। चारणी पांडुलेखों का संपादन किया; कंठस्थ चारणी परंपरा के दोहा गायक पालरवभा पालिया के व्यक्तित्व और साहित्य की खोज की और चारणी साहित्य के काव्यशास्त्र के महत्त्व को प्रमाणित किया। अनेक रचनाओं का मूल्यांकन किया और यह स्थापित किया कि चारणी साहित्य पेट्रोनेज होते हुए भी तथ्यपूर्ण तथा सत्यपूत है। चारणी साहित्य में एम. ए. तथा एम. फिल. के पाठ्यक्रम तैयार करके यूनिवर्सिटी में मंजूर करवाया। आरंभ भी करवाया। इस प्रकार, अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसंधान के क्षेत्र में चारणी साहित्य की स्थापना कराने में मुझसे जो कुछ भी हो सका, वह इस ज्ञानानुशासन (डिसीप्लीन) की तेजस्विता के कारण हो सका। इसमे गुणवत्ता तथा सत्त्वशीलता का जो सुभग समन्वय मैंने देखा है, उससे अभिभूत हुए बिना पूरी तटस्थता से इस परंपरा का मूल्यांकन करने के लिए विगत तीस सालों से निरंतर सक्रिय हैं। इस संदर्भ में यहाँ मैंने चारणी पांडुलेख तैयार करने के कार्य के वास्तविक स्वरूप तथा उसकी प्रतिभा का परिचय कराने वाली पीठिका तैयार करना चाहता हूँ।

3. पांडुलिपिविज्ञान की परंपरा में चारणी परंपरा

3.1. विगत दो-तीन दशकों से कभी सेमिनार में व्याख्यान देने के लिए तो कभी ग्रंथालय में पुस्तकों की लेन-देन करने के लिए यहाँ 'एल. डी. इंस्ट्यूट ऑफ इंडोलॉजी' में आता रहा हूँ। मैं जब भी यहाँ आया हूँ, तब जैनोलॉजी तथा जैन मैन्यूस्क्रिप्ट की ही बातें की हैं। 'मैन्यूस्क्रिप्ट डिविजन - नेशनल आर्काइव्ज' तथा 'आर्कीयोलॉजी सर्वे ऑफ इंडिया', भारत सरकार के साथ बातचीत करता रहा हूँ। सभी विभागों के साथ मेरी चर्चा का मुख्य मुद्दा सिर्फ यह रहा है कि जिस प्रकार जैन पांडुलेख की परंपरा है, बुद्धिस्ट पांडुलेख की परंपरा है, दक्षिण भारतीय पांडुलेख की परंपरा है, उसी प्रकार एक बार्डिक-चारणी पांडुलेख तैयार करने की परंपरा है। बार्ड-चारणी पांडुलेख परंपरा एक स्वतंत्र, स्वायत्त परंपरा है। उसके लिए एक संपूर्ण शास्त्रीय सैद्धांतिक पीठिका और उसका परिचय अपने पास होना चाहिए। जैन परंपरा से यह एक अलग परंपरा है और गुजरात की जो जैनेतर परंपरा है, यह उससे भी अलग है। गुजरात में बुद्धिस्ट परंपरा बहुत प्राचीन समय से है। जैन, जैनेतर तथा बुद्धिस्ट (बौद्ध) परंपरा यहीं विकसित हुई थी। परंतु उसी समय प्रचलित और गतिमान चारणी परंपरा के अस्तित्व के आधार प्राप्त न थे। चारणी पांडुलेखविज्ञान की परंपरा तो मेरे ख्याल में 12वीं-13वीं शताब्दी से हमारे यहाँ शुरू हुई। परंतु उसके पांडुलेख उतने प्राचीन समय के नहीं मिलते, जितने प्राचीन बौद्ध और जैन परंपरा के मिलते हैं। जैनेतर परंपरा के भी पांडुलेख बहुत प्राचीन नहीं मिलते। जैन परंपरा का शालिभद्रसूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' गुजराती की रचना है।

3.2, उस जमाने में गुजरात का स्वतंत्र अस्तित्व तो था नहीं; परंतु सांस्कृतिक गुजरात का संबंध राजस्थान के साथ था। राजस्थान और गुजरात के अनेक हिस्सों में चारण, बारोट, भाट लोग रहते थे। वे कवि थे; और कवि होने के नाते अपने हाथों से अपनी कविता लिखते थे और संग्रहीत भी करते थे। उनके लेखन का प्रारूप भिन्न प्रकार का था। इस दृष्टि से चारणी साहित्य लेखन की परंपरा पांडुलेखविज्ञान में एक अनोखी परंपरा है। देशज परंपरा है। उसका अपना एक स्वायत्त दर्जा है। उसके लिखने का ढंग, पांडुलेख का आकार,

माप, लिखने की पद्धति और उसके संरक्षण की पद्धति तथा पढ़ने का तौर-तरीका, प्रस्तुत करने की पद्धति, उसकी रीति, छंद-अलंकार-रचना, पदावली भी बिल्कुल विशिष्ट और अलग थी। जैन, बौद्ध या जैनेतर परंपरा में गुजरात में आज तक इन तीनों परंपराओं के पांडुलेखों के संरक्षण का विचार होता रहा है। आज तक उनके बारे में बहुत कुछ कहा गया है। ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा; भो. जे. विद्याभवन, अहमदाबाद; द्वारिकाधीश संस्कृत एकेडेमी, द्वारिका; यहाँ की एल. डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी - इन सभी संस्थाओं में जो पांडुलेख हैं; वे सब या तो जैन हैं; या फिर जैनेतर। प्रेमानंद की ब्राह्मण परंपरा के या ऐसे ही जेनेतर कवियों के पांडुलेख हैं। या तो संस्कृत या प्राकृत परंपरा के पांडुलेख हैं। कहीं भी चारणी पांडुलेखों के संग्रह हों या पांडुलेख के भंडार हों, यह जानकारी में नहीं है। राजस्थान में इसे डिंगली कहा जाता है और इस पर थोड़ा विचार-विमर्श होता रहा है। परंतु राजस्थान में डिंगली को एक अलग किसी अनोखी परंपरा के रूप में स्थापित नहीं किया गया है। वहाँ भी जैन सत्ता का प्रभाव है। जैन परंपरा का ही आधिपत्य है। बौद्ध परंपरा वहाँ न थी। जैन परंपरा का वहाँ इतना अधिक प्रभाव था कि चारणी साहित्य की विशिष्ट परंपरा के पांडुलेख विपुल मात्रा होते हुए भी, उसका संग्रह विपुल मात्रा में होते हुए भी किसी अध्येता ने किसी अन्य पंरपरा के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करके उसको महत्त्व का दर्जा राजस्थान में दिलाया नहीं। ऐसा स्वायत्त दर्जा दिलाने के लिए किसी ने कोशिश भी नहीं की। मात्र पांडुलेखों के विवरण और सूचीपत्र के ग्रंथ ही प्रकाशित होते रहे। अगरचंद नाहटा, भँवरलाल नाहटा, विजयदान देथा आदि के द्वारा थोड़े विवरण कपिला वात्स्यायन के समक्ष 'इंदिरा गांधी सेंटर फॉर आर्ट्स' में रखे गए।

3.3. मैं मीमांसक हूँ। सिद्धांत की बातें थोड़ी समझता हूँ। सन् 1978-79 से मेरा यह प्रयत्न रहा है कि जैन परंपरा के साथ-साथ चारणी परंपरा के पांडुलेखों के लेखन तथा संरक्षण की चर्चा अलग से होनी चाहिए। अलग से करनी चाहिए। उसकी नवीनता तथा भिन्नता को खोजकर बताना चाहिए। इसीलिए इससे संबंधित विवरणों को एकत्र करता रहा हूँ।

प्रो. डॉलर राय माकड़ सौराष्ट्र यूनिवर्सिटी के प्रथम कुलपति थे। वे ऊँचे स्तर के प्राच्य विद्याविद् थे। वे रामायण के संपादन में बड़ौदा की एम.एस. यूनिवर्सिटी के प्राच्य विद्यामंदिर के सहायक थे। उन्होंने विचार किया कि अनेक राजे-रजवाड़े हो चुके हैं और उनके यहाँ कितने ही चारण कवि हुए हैं, जिन्होंने चारणी भाषा में कविताएँ की हैं, जिनमें समाज, इतिहास और पुराण के अंश सुरक्षित हैं। इसलिए उन रचनाओं के पांडुलेखों को अपनी यूनिवर्सिटी में एकत्र करना चाहिए। सौराष्ट्र यूनिवर्सिटी में चारणी साहित्य का पांडूलेख भंडार चारणों द्वारा रचित साहित्य के अध्ययन के लिए तैयार करना चाहिए। अपने इस विचार को उन्होंने व्यवहार में रखा। पांडुलेखों को एकत्र करने का काम शुरू हुआ। सन् 1962 से 1977 तक एकत्र करने का काम चला। चारण कवि परिवारों से अपील करने पर कुछ समय के बाद पांडुलेखों की प्राप्ति का काम पूरा हुआ।

3.4. यहाँ गुजराती भाषा-साहित्य भवन में सन् 1974 में मैं एम.ए. के अध्ययन के लिए जुड़ा। तब हमारे अध्यक्ष डॉ. ईश्वरलाल दवे दिवाली और गरमी की छुट्टियों में यहाँ के चारणी साहित्य के पांडुलेख विभाग के निरीक्षक मूक-वधिर रतुदान रोहड़िया के सहायक के रूप में मुझे यात्रा पर भेजा। भाड़ा-भत्ता तो मिलता ही; परंतु इससे बढ़कर रोहड़िया के साथ रहने का अवसर मिलता। कभी-कभी कवि 'दाद' तथा वीरवदरका के बापुभाई गढ़वी का भी साहचर्य रहता। मेरे घर में मेरे दादाजी का एक प्राचीन पांडुलेखों का एक संग्रह है। मेरे दादाजी के दादाजी व्यवसाय से लहिया (मुंशी) थे। पांडुलेख को पढ़ने की तथा उसे सँभालकर रखने की तालीम मुझे अनौपचारिक रूप से बाल्यावस्था में उन्हीं से मिली थी। वही अनौपचारिक रीति से मिली तालीम बड़े होने पर बहुत विशद रूप में रतुदान रोहड़िया के सान्निध्य में मिली।

3.5. चारणी साहित्य के साथ मेरा अनुबंध दस वर्ष की उम्र में हुआ, ऐसा मुझे स्मरण है। मेरे गाँव कमलीपुर (जसदण) से बहुत करीब के गाँव पारेवाला में चारणों की बस्ती अधिक थी। मेरे दादाजी का चारण महानुभावों के साथ बहुत निकट का संबंध था। जब वे बैलों के व्यापार के लिए गए होते। वहाँ से वे मेरे दादाजी के पास मनीआर्डर से पैसा भेजते। वह पैसा देने के लिए मुझे अक्सर पारेवाल जाना पड़ता। और फिर वे चारण हमारे यजमान भी थे। इसलिए पिताजी के साथ भी कभी-कभी प्रसंगवश पारेवाल गाँव जाना होता। बिलेश्वर महादेव के दर्शन के लिए गए हों, तब भोयरा और खड़काणा चारणों के गाँव भी कभी-कभी चारण परिवारों से मिलने जाया करता था। ऐसा मुझे अच्छी तरह से याद है। इस कारण से स्वाभाविक रूप से चारण समाज, उसकी भाषा, संस्कृति और सन्निवेश से पूरी तरह से परिचय हो गया।

3.6. चारणी पांडुलेखों को एकत्र करने की हमारी यात्रा अधिकतर दस से पंद्रह दिन की होती। चारणी पांडुलेखों को जिस तरह वे पिटारे में से निकालते, सुराग खोजते, पिटारे में रखी गठरी खोलते, पुस्तक का मिलान करते - यह सब मैं अपनी आँखों से देखा करता। अज्ञात भाव से यह सब मुझमें पड़ा रहा। अब मैं यह बताता हूँ कि एम. ए. के बाद पांडुलेख विभाग से मैं कैसे जुड़ा? और एक-दो वर्ष की खंडित सेवाओं के बाद सन् 1977 से तो मैं पांडुलेख निरीक्षक के रूप में चारणी पांडुलेख विभाग में नियुक्त हुआ। उसके बाद से पांडुलेखों के एकत्रीकरण, संरक्षण, जतन, सूचीकरण, वर्गीकरण, संपादन आदि विविध प्रकार के कार्यों में विशेष रूप से संलग्न होने का मौका मिलता रहा। सन् 1979 में गुजराती विषय के अध्यापक के रूप में नियुक्त होने के बाद भी पांडुलेख विभाग से मेरा संबंध लगातार बना रहा। इस कारम चारणी पांड्लेखों के साथ मेरा परिचय। अधिकाधिक गहरा होता रहा। चारणी पांडुलेखों की सूचीपत्र तैयार किया। जब चारणी साहित्य की कृतियों का संपादन किया, तब पांडुलेखों को एकत्र करते समय जो अनुभव प्राप्त हुआ था तथा क्षेत्र कार्य के दौरान चारण परिवारों से पांडुलेखों के बारे में जो जानकारियाँ मिली थीं, वे बहुत उपयोगी सिद्ध हुईं। चारणा पांडुलेख लेखन, जतन, संरक्षण के आधार पर जैन-जैनेतर पांडुलेखों से किस तरह से भिन्न होते हैं। कैसे अपनी विशिष्ट तथा स्वायत्त पहचान रखते हैं। ये सारी बातें मन में पड़ी थीं। चारणी पांडुलेखों का लेखन किस प्रकार जैन-जैनेतर परंपरा से विशिष्ट है और चारणी पांडुलेखों का संरक्षण भी किस प्रकार से विशिष्ट और अनोखा है, ये बातें दर्शाकर चारणी पांडुलेखों का स्वायत्त एवं विशिष्ट स्थान और मान भारतीय पांडुलेखविज्ञान में किन कारणों से है, यहाँ इसकी स्वरूपगत तथा सैद्धांतिक चर्चा करने का लक्ष्य है। इस प्रकार पंद्रह वर्षों तक पांडुलेखों को एकत्र करने का काम चला। जिसके परिणामस्वरूप गुजरात का यह एकमात्र भंडार स्थापित किया, जो अपने ढंग से दो-तीन बातों में विशिष्ट रहा है। चारणी सर्जक गुजरात में बहुत थे। राजस्थान और गुजरात का संबंध था। गुजरात में सबसे अधिक राजे-रजवाड़े सौराष्ट्र में थे। जामनगर स्टेट, जूनागढ़ स्टेट आदि। पूरे सौराष्ट्र में जितने राज्य थे, उनके कवियों की सूची तैयार की। कवियों के वंशज कौन हैं; वे कहाँ रहते हैं; क्या करते हैं - इसकी भी पड़ताल की। उनसे मिला, करोड़ों से अधिक कीमत के पांडुलेखों को भंडार के लिए दान में लिया। यह सबसे बड़ा पांडुलेख भंडार है, जिसमें 20,000 से भी अधिक कृतियाँ (पांडुलेख के रूप में) हैं। राजों-रजवाड़ों से दान स्वीकार करने वालों ने एक विद्या संस्थान को अपनी शब्द-संपदा का दान किया। यह गुजरात के सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अनुदान है।

4. चारणी पांडुलेखविज्ञान : लेखन-संरक्षण का स्वरूप

4.1. सौराष्ट्र यूनिवर्सिटी के गुजराती भाषा-साहित्य भवन के 'चारणी पांडुलेख भंडार' में मौजूद पांडुलेखों को मैंने बहुत ध्यान से देखा है। मुझे लगा कि चारणी साहित्य कृतियों का पांडुलेख के रूप में लेखन या नकल करने का कार्य ज्यादातर रचयिता ने खुद किया है; अथवा रचयिता के परिवारजनों के द्वारा ही किया गया है। मेरे द्वारा संपादित 'चारणी साहित्य प्रदीप भाग-2' में ग्यारह हजार चारणी पांडुलेखों का विवरण दिया गया

है। राजस्थान के कई सूचीपत्र तथा पांडुलेख भंडारों का भी मैंने अवलोकन किया है। यह सब देखने के बाद मुझे चारणी साहित्य पांडुलेखों के लिखने की परंपरा विशिष्ट प्रतीत हुई है। इस परंपरा में पैसा लेकर किया गया लेखन कार्य या लहिया कार्य (मुंशीगीरी) हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। बल्कि पूर्वजों की साहित्य साधना को उनके वंशजों द्वारा अक्षुण्ण बनाए रखने के शुभ आशय से किया गया कार्य है।

पैसा देकर किसी से लिखवाने या मुंशी द्वारा लिखवाने की चारण कवियों की परंपरा न थी। इसलिए चारणी साहित्य में जातिगत कहावतें, भाषिक शैली या कथन-भंगिमा, मालमकता, व्यंग्यपूर्ण तथा कलात्मक ढंग से कहने की भाषा सुरक्षित रही। वह पाठभेद या शब्दभेद की मिलावट के दोषों से बच गया। प्राचीन पांडुलेख लिखने की परंपरा में लेखन की यह पद्धति चारण कवियों की अपनी विशेषता रही। इस कारण अपने द्वारा बनाई गई चारण कवियों द्वारा अपने हाथ से लिखी गई प्रतियाँ भारी संख्या में उपलब्ध हैं। अपने हाथ की लिखी हुई, पुत्र या भतीजा द्वारा नकल की गई प्रतियाँ भी प्राप्त होती हैं। अन्य पांडुलेखों की परंपरा में सारस्वत (रचनाकार) के अपने हाथ से लिखी अथवा कुटुंबी जनों द्वारा नकल की गई कृतियों के पांडुलेख बहुत कम मिलते हैं।

4.2. ये पांडुलेख खुद पढ़ने के लिए थे। अपने लिए एक प्रति ही पर्याप्त होती है। परिवार जनों को आवश्यकता होने पर उन्हें नकल तैयार करना होता है। इस कारण से इन पांडुलेखों का संरक्षण भी अपनी विशिष्ट तरीके से हुआ। चारणों के अलावा जैन-जैनेतर परंपरा में अधिकतर पांडुलेख धार्मिक केंद्रों में या समाज के अग्रणियों द्वारा समूह में रखे या एकत्र किए जाते थे। इस कारण उनका संरक्षण विशेष सावधानीपूर्वक होना स्वाभाविक है। जबकि यहाँ तो कुटुंबी जनों के पास ही प्रति विरासत के रूप में सुरक्षित रहती है। कृति की जतन तो कभी-कभी, जैसे परिवार में जमीन जायदाद, रुपये-पैसे के बँटवारा होता है, वैसे ही पन्नों का बँटवारा होता है। इसी कारण खंडित रूप में एक ही प्रति विविध स्थानों पर सुरक्षित होती है। परंतु यह बात सूझी चारण को पहचानने वाले, यूनिवर्सिटी द्वारा उनके सम्मान का आयोजन करने वाली सौराष्ट्र यूनिवर्सिटी के आद्य कुलपति डालरराय माँकड़ को, जिन्होंने चारण पांडुलेख भंडार की योजना बनाई। उन्होंने रतुदान रोहड़िया जैसे मूक-बधिर चारण विद्वान को धुनाना गाँव के खेत में से खोज निकाला और यूनिवर्सिटी के विद्याधाम में खास स्थितियों में उनकी सेवाएँ ली। उन्होंने अलग-अलग स्थानों से चारण कवियों द्वारा लिखी गई, पारिवारिक परंपरा में सुरक्षित पांडुलेखों का संग्रह यूनिवर्सिटी में किया और इस प्रकार, करोड़ों की कीमत के हजारों चारण पांडुलेखों के रूप में संग्रहीत रचनाओं का संग्रह गुजरात के एक विशिष्ट पांडुलेख भंडार के रूप में प्रस्थापित हुआ। इस प्रकार चारण पांडुलेख धर्माश्रित या समाजाश्रित न थे, बल्कि परिवाराश्रित थे। परंपरागत रीति से उनका संरक्षण-जतन होता चला आ रहा था। यह इसका विशिष्ट तथा अनोखा रूप है। इस तरह चारणी परंपरा की विशिष्ट लेखन परंपरा और संरक्षण परंपरा दृष्टिगोचर होती है।

5. चारणी पांडुलेखविज्ञान : आकार, नकल और संरक्षण का स्वरूप

5.1. लगभग बीस हजार रचनाएँ ग्यारह हजार पांडुलेखों में संग्रहीत हैं। संपूर्ण भंडार दान में मिला है। हमने उनकी सूची बनाने का काम शुरू किया। संरक्षण-परिरक्षण में बहुत सावधानी रखी।

चारण परिवारों में उनके पूर्वजों द्वारा लिखी गई मूल अथवा नकल की गईं प्रतियाँ इनमें हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि जहाँ जैन, जैनेतर या बौद्ध परंपरा की साहित्यिक पांडुलेख धालमक स्थानों में, गच्छ, मठ आदि में संग्रहीत थी, वहीं चारणी पांडुलेख परिवार या परिवारजनों द्वारा सुरक्षित हैं। धार्मिक स्थलों से अच्छी तरह से सुरक्षित पांडुलेखों का कोई भंडार खोज लेना अपेक्षाकृत सरल है। 'एल.डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी का पांडुलेख भंडार किस तरह से बना? छोटे-छोटे देवालयों में जो पांडुलेखों का भंडार था, उन सबको

पुण्यविजयजी महाराज ले आए। बौद्धों का भी ऐसा ही था। जैनेतर का भी ऐसा ही था। रविभाण परंपरा के, नाथ परंपरा के निश्चित स्थल थे; धार्मिक मठ थे; बड़े-बड़े केंद्र थे, जिनमें ये पांडुलेख सुरक्षित थे। इन सभी स्थानों से एकत्र करके पांडुलेख भंडार की स्थापना हुई। जबकि चारण पांडुलेख भंडार तो हजारों चारण परिवारों के बहुत बड़े समर्पण भाव का उदारण है।

5.2. जैन, जैनेतर तथा बौद्ध परंपरा के स्थानों में तो उनके पास लिखवाने वालों - मुंशियों की सुविधा भी थी। धर्माश्रित होने से इन्हें सारी सुविधा मिल जाती। यदि कोई उपवास, व्रत या आर्थिक अनुदान नहीं कर सकता, तो कोई बात नहीं; धर्म-स्थल पर आओ, बैठो और पांडुलेख की नकल करके मुंशीगीरी की सेवा दो। इस प्रकार पांडुलेखन के लिए स्याही, कलम, कागज और लिखने वाले मुंशी को वेतन में दान दो, वैसी महिमा थी। इस तरह ऐसी ज्ञान आराधना भी तप के साथ जुड़ गई। बौद्धों में भी यह परंपरा रही। चर्यापदों में सरहपाद तक की इस परंपरा के दृष्टांत मिलते हैं। चर्यापद, गाथाएँ लिखी गई थीं; उन्हें सुरक्षित रखा गया था। उसके लिखने को प्रोत्साहित करने के लिए स्याही बनाकर देना, विशेष कागज देना, लिखने के लिए लकड़ी की मेज देना - ऐसी सुविधाएँ दान में मिलती थीं। जबकि चारणों को तो ऐसी कोई सुविधा प्राप्त न थी। ये लोग तो राज्याश्रित थे। धर्माश्रित नहीं थे। उनका मूल काम तो कविता लिखना और उन्हें प्रस्तुत करना था। वे लिखते और पुस्तक की नकल अपने पास ही रखते। किसी और के पास न पहुँचने पाए, इसकी सावधानी रखते। अधिकांश चारणी पांडुलेख उनके लेखक के ही हस्ताक्षर में मिलते हैं। चारण कवि तो खुद ही लिखते थे। बहुत-बहुत तो अपने पुत्र, भतीजा, भांजा या बहन से उसकी नकल करा लेते थे। भाई से भी नहीं। यह उनकी अपनी अस्क्यामत थी। उसके आधार पर ही लाख का दान या करोड़ का दान स्वयं प्राप्त करने में समर्थ बने रहते। रचना का सर्जन और लेखन स्वयं करते; खुद ही नकल भी कर लेते। जब भी जहाँ भी समय मिलता, लिखने बैठ जाते। इस कारण उनके पांडुलेख आकार और रूप दोनों में अलग होते। अनोखे होते। अधिकांशतः चारण कवि पांडुलेख की लिखावट की पुस्तक व्यापारी की बही जैसी रखते। वह खड़ा खुलती। उसमें लिखावट आड़ी होती। वे अपनी पुस्तक थैले में हमेशा अपने साथ रखते। जहाँ अनुकूल समय मिलता, लिखना चालू कर देते।

5.3. उन्हें तो अपना साहित्य कंठस्थ ही रहता। चारणी पांडुलेख की तीसरी विशेषता यह थी कि मुख्यतः कवि के हाथ का लिखा होने कारण उसमें पाठभेद नहीं के बराबर मिलता है। दूसरी प्रति यदि मिलती है, तो तभी जब एक से अधिक भाई हों, तो अपने-अपने पाठ के लिए पुस्तक तो चाहिए ही। कभी यदि पुत्र, पौत्र, भांजा या भगिनी जैसे परिजनों को पुस्तक की जरूरत होती, तब वे उसकी नकल खुद ही कर लेते। वह नकल परिवार में ही होती। किसी से सुनकर नकल नहीं होती। इस कारण उसमें पाठभेद का ज्यादा अवकाश नहीं रहता। पाठभेद ज्यादा न होने का एक दूसरा कारण यह है कि चारणी रचनाओं के छंदोबद्ध पाठ मिलता है। पाठ में चुस्त रूप से छंदों का प्रयोग होने के कारण उसमें एकाध शब्द भी इधर-उधर नहीं किया जा सकता। शब्द क्या एक वर्ण भी आगे-पीछे नहीं हो सकता।

इसके लिए किसी रेणकी छंद का उदाहरण सीधे स्मरण में आता है। इसमें कुछ बदला नहीं जा सकता। इसकी छंद चुस्ती इसकी विशेषता है। छंद वे कंठस्थ ही कर लेते और उस माप-मीटर के अनुसार किसी अन्य वर्ण, शब्द को उसमें घुसाया नहीं जा सकता। जिसने नकल की होगी, उनके द्वारा भी इसी कारण पाठभेद नहीं हुआ। इस तरह इसमें कोई प्रक्षेप नहीं है। हाँ, कहीं यदि थोड़ा लंबा मालूम पड़ा, तो प्रस्तुतीकरण के समय थोड़ा हिस्सा समुचित रीति से रद्द किया। परंतु पाठभेद किया हो ऐसा लगता नहीं है। वे पाठ का गान करते। ऐसा करते हुए समझदारी पूर्वक थोड़ा हिस्सा छोड़ देते।

6. पांडुलेखविज्ञान : बहुआयामी रूप

6.1. जैन पांडुलेखों को अपने पास रखते। पांडुलेखों को कैसे रखना है, कैसे पकड़ना है, यह बताते थे। जैनेतर में आख्यानकार भी प्रति को सामने रखते और उसका पठन करते थे या गाते थे। चारणी साहित्य का प्रस्तुतीकरण जैन, बौद्ध, जैनेतर से भिन्न है। चारणी साहित्य बिल्कुल कंठोपकंठ से प्रस्तुत हुआ है। मौखिक रूप से प्रस्तुत हुआ है। भावकों की आँखों में आँखें डालकर गाया जाता है। चारण कवियों का ध्यान कभी भी पुस्तक या पांडुलेख पर नहीं होता। कंठस्थ परंपरा के साथ इनका गहरा रिश्ता रहा है। इस संदर्भ में मौखिक परंपरा के साथ इनका साम्य है। तो भिन्नता यह है कि मौखिक परंपरा के साहित्य में विविधता मिलती है। परंतु चारणी मौखिक परंपरा में ऐसी विविधता नहीं मिलती। इस संदर्भ में चारणी साहित्य अलग और विशिष्ट है। चारणी परंपरा में पांडुलेख और प्रस्तुतीकरण में दो विशेषताएँ बहुत महत्त्व की हैं। उसमें संगम है। कंठस्थ परंपरा को तथा लिखने की परंपरा के अलावा लिखित कविता (टेक्स्ट) को कंठस्थ रूप में प्रस्तुत करने की चारणी पांडुलेख परंपरा बिल्कुल अनोखी बात है। अपनी या किसी और की कविता को देखकर नहीं, गाकर प्रस्तुत करना, इनकी खासियत है। अन्य परंपरा में तो साथ में वाद्ययंत्र भी रखे जाते; जबकि चारणी प्रस्तुतीकरण में वाद्ययंत्रों की सहायता नहीं ली जाती। बुलंद आवाज के साथ प्रस्तुतीकरण चारणी कवियों की विशिष्ट पहचान है। जो सर्जक है, वही प्रस्तुतकर्ता भी है। जैनेतर परंपरा में देखें, तो वे रचना करते हैं, परंतु प्रस्तुत नहीं करते। जबकि यहाँ तो सभी सर्जक प्रस्तुतकर्ता भी हैं। अन्य परंपरा में लिखने की कुशलता है, तो शिष्यों के लिए, औरों के लिए लिखा। चारणी पांडुलेख परंपरा का एक आवश्यक अंग यह है कि जो लिखे, उसे प्रस्तुत करना भी आना चाहिए। पाठ प्रस्तुत करने की कुशलता को अनिवार्यता मानी जाती है। चारणी हस्तलेखन परंपरा के ये चार-पाँच विशिष्ट और अनोखे निजी रूप हैं। ये वंश परंपरा से सुरक्षित रखी गईं प्रतियाँ हैं। परिवार में भाई-भाई, पुत्र-पौत्र के पास से मिली हैं। ये कर्ता के स्वहस्ताक्षर अथवा परिवारजनों द्वारा नकल की गई हैं; और इसमें किसी भी प्रकार का फेरफार पाठभेद नहीं मिलता; इसका प्रस्तुतीकरण साजिदों की सहायता के बिना स्वमुख से होता है।

6.2. इस समय मैं चारणी पांडुलेख 'वखत बलंद' संपादित कर रहा हूँ। 'वखत बलंद' भावनगर के महाराजा वखतसिंह बापु का बलंद पँवाडा है। मैं जब प्रोफेसर पी. ओ. कोराट के इतिहास ग्रंथ 'भावनगर राज्य का इतिहास' के साथ इसका अवलोकन कर रहा था, तब ख्याल आया कि इतिहास में कई ऐसी बातें भी हैं, जो अनुल्लिखित हैं, जिनका आधार प्राप्त नहीं है। यहाँ ये सारी बातें उल्लिखित हैं। 'वखत बलंद' में है कि गंगा स्थान की यात्रा वखतसिंह बापु ने अनेक लोगों के साथ इस तिथि को आठ बार की थी, जबकि इतिहासकार का कहना है कि वखतसिंह बापू ने अनेक बार गंगा-यात्रा की थी। इस प्रकार बिलकुल सच्ची तथ्यपूर्ण, प्रामाणिक, ठोस बातें इन चारणी पांडुलेखों में मिलती हैं। इसके अलावा उनके द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष के लिए जो कार्य होते थे, उनका भी उल्लेख इनमें है। इस प्रकार युद्ध से संबंधित राजकीय ही नहीं, बल्कि उसके अलावा सामाजिक-सांस्कृतिक बातों का भी समावेश हुआ है। यह चारणी साहित्यिक कृतियों में मौजूद इतिहास मूलक सामग्री के लिए एक उल्लेखनीय विशिष्टता है।

6.3. हमारे यहाँ सिंधी जाति और साहित्य के अध्येता प्रो. मिशेल बोविन आए थे। चारणी पांडुलेखों के आकार-प्रकार और स्वरूप को देखकर उन्होंने कहा था : I cān't sāy thāt it is ā mānuscript. It's ā one kind of old books Prof. Jāni - 'मैंने कहा, 'You know the science of mānuscripts, but you don't know the reāl totāl theory of Indiān mānuscripts. Mānuscript meāns not only pāges. Mānuscripts meāns this typs of binding books ālso.' उन्होंने कहा, 'No-one scholār sāid this-

Even Māxmuller' even Rāmānujān, 'मैंने कहा,' Yes Professor, you āre totāly right, but Prof. Bhāyāni sāys thāt some trāder's poet like bārd's hāve this type of Formātion,' पांडुलेख का विश्वस्तरीय स्वरूप है, उसकी तुलना में यह भिन्न प्रकार का है। ये चारणी पांडुलेख अधिक से अधिक 400-500 वर्ष पुराने हैं। ये पुस्तकाकार हैं, क्योंकि वे इन्हें साथ रखते थे। इसलिए मौखिक प्रस्तुतीकरण के लिए यथावकाश इनका पाठ करने तथा कंठस्थ करने की सुगमता रहे। थैले में या खड़िया (कंधे के दोनों तरफ लटकाए जाने वाला झोला) में यात्रा के दौरान रखने के लिए इस पांडुलेख का रूप बनिये-व्यापारी की बही जैसे बीच में सिलाई वाला। परंतु बाँधने की रीति अलग है। खोजाओं के गिनान साहित्य की खोज की भाषा में लिखित गुजराती पांडुलेखों का कद और स्वरूप इसी कारण इस प्रकार का है।

6.4. बौद्ध, जैन और जैनेतर पांडुलेख एक ही समय पटल पर सुविधापूर्ण स्थान में बिल्कुल ठीक-ठाक ढंग से, साज-सिंगार के साथ लिखे जाते थे। जैनेतर और बौद्ध पांडुलेख परंपरा की प्रतियाँ सौन्दर्यात्मक होती हैं, जबकि चारणी प्रतियों में ऐसे रंग की सजावट दृष्टिगोचर नहीं होती। समय मिले, तब लेखन में टेका की व्यवस्था नहीं होती। अपना ही घुटना मोड़कर उसी का टेका लेकर चारण कवि यात्रा के दौरान साथ में रखे पुस्तकनुमा पांडुलेख में लिखने बैठ जाते। भरी गरमी हो, पसीना बह रहा हो, तो भी लिखते रहते हैं। जहाँ बैठने की जगह मिली, वहाँ आनंदपूर्वक लिखने बैठ जाते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि चारण लेखक परिव्राजक लेखक थे। इधर-उधर घूमते-फिरते रहते; जहाँ लिखने की अनुकूलता मिलती, वहीं लिखने बैठ जाते। उनके परिभ्रमण का सारा मार्ग भी उनके उल्लेख के साथ मिलता है। रास्ते में कितने गाँव आए, उनका भी वर्णन। भौगोलिक विस्तार तथा प्राचीन मार्गों को भी इस पर से ख्याल आता है। कभी-कभी तो किस स्थान पर किससे मिले, इसका उल्लेख इसमें से मिलता है। किस गाँव से यात्रा शुरू की, उस समय उसका क्या नाम (स्थान का नाम) होगा, यह भी जानने को मिलता है। यात्रा के दौरान लोगों ने क्या खिलाया, दान में क्या दिया, ये जानकारियाँ भी उसमें दर्ज मिलती हैं। यह सब कुछ कृति की रचना के अतिरिक्त वर्णन के अतिरिक्त भाग के रूप में जुड़ा होता है। अर्थात् चारणी कृति में शामिल पांडुलेखों की ऐसी बातें कृति का हिस्सा नहीं होती, यह बात संपादन के समय ध्यान में रखने की तथा सावधानी रखने की होती है। चारणेतर पांडुलेखों में ऐसी कोई समस्या नहीं होती। इस प्रकार चारणी पांडुलेख मात्र साहित्यिक नहीं, बल्कि तत्कालीन सांस्कृतिक जानकारियाँ भी देते हैं। ऐसी बातें हाशिये पर लिखी गई होती हैं। इसलिए ये मूल पाठ के भाग नहीं होतीं। बल्कि पाठ के साथ संबद्ध अवश्य रहती हैं। जैसे वे लिखते कि किसने उन्हें पगड़ी पहनाई। आधी कविता सुनकर पगड़ी पहनाई। पगड़ी के साथ यहाँ के यजमान समाज के साथ संबंध, प्रशंसा करने की समाज के लोगों की सूझ, पाठ और संदर्भ दोनों दोनों चारणी पांडुलेखों में मिलते हैं। चारणी पांडुलेख के लेखन का यह एक विशिष्ट आयाम है।

7. चारणी पांडुलेखविज्ञान : अपनी विशिष्ट छंद-अलंकार योजना

7.1. रुक-रुककर यह लेखन कार्य लंबे समय तक चलता है। अधिकांश पांडुलेखों में मुझे कोई भी रचना ऐसी नहीं मिली, जो एक ही स्थान पर एक ही स्याही से लिखी गई हो। इसका मतलब यह हुआ कि लेखक का परिभ्रमण सदा चलता रहता था। वे तो परिव्राजक थे। भ्रमण उनकी नियति थी। उपस्थित परिस्थिति के बीच सर्जन और उसकी नकल उनका विशिष्ट पहलू है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि आख्यान या रास एक ही ढाँचे में लिखे जाते हैं; परंतु यहाँ ऐसा नहीं है। छंद वैविध्य यहाँ पुष्कल मिलता है। फिर ये छंद चार या छ पंक्ति के ही रहते हैं। ऐसी चार-चार या छ-छ पंक्ति वाली कविताएँ मिलती हैं। दूसरा यह कि कहीं यदि भाव-साम्य आता तो ही छंद में परिवर्तन देखने को मिलता है। इसके अलावा कहीं भी छंदों का पुनरावर्तन नहीं मिलता। इससे यह बात ध्यान में आती है कि किस भाव के लिए किस छंद का प्रयोग होता था। युद्ध का वर्णन करना हो, तो नाराच, चर्चरी या रेणकी छंद का प्रयोग होता।

शांति की बात करनी हो, तो मोतीदाम छंद का विनियोग वे करते। एकाध पांडुलेखों को पढ़ने के बाद सिद्धांततः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विषय सामग्री तथा भाव के अनुरूप छंद-योजना की सूझ उनमें थी। 'बीरबलाबल' चारणी आख्यान में तथा 'गुजराती चारणी साहित्य-विमर्श' नामक अपनी पुस्तक में मैंने विस्तार के साथ उदाहरण देकर इसकी चर्चा की है। चित्त में सुनिश्चित ही होता होगा कि यह बात मैं इस छंद में कहूँगा। जैन, जैनेतर में तो एक ढाँचा पकड़ लेने के बाद कर्ता को उसी में आगे बढ़ना होता है। जबकि चारणी पांडुलेख की परंपरा की दृष्टि से छंद वैविध्यपूर्ण है, छंदाश्रित है। एक भी प्रति ऐसी नहीं है, जिसमें 20-30 से कम छंदों का प्रयोग हुआ हो। सबसे अधिक प्रयुक्त दोहाबंध है। चारणी पांडुलेखों में से हम दोहा संग्रहीत कर रहे हैं। कल्पना नहीं कर सकते, इतनी संख्या में हमें दोहे मिले हैं। ऐसा भी कह सकते हैं कि चारणी कृति दोहाश्रित है। 'होथलपदमणि' आदि कथाएँ तो संपूर्ण रूप में दोहाबंध में होती हैं। दोहा से कथा क्रमबद्ध रूप में, शृंखला के रूप में याद रहती है। तो इस छंदाश्रितता के कारण दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक तो इससे पाठभेद नहीं आता; और दूसरी सबसे बड़ी बात यह कि छंद-वैविध्य इतने व्यापक रूप में मिलता है कि छंदशास्त्र में स्थापित छदों के अलावा भी नए-नए छंदों का प्रयोग इन कवियों ने किया है। पिंगल छंदशास्त्र के ग्रंथों में 'रघुनाथ रूपक गीतारो', 'हरिपीगल', 'लखपतपीगल' 'हरिजनशनाममाला' जैसे शब्दकोश की तरह के ग्रंथों को यहाँ उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

7.2. कुछ ऐसे भी महत्त्वपूर्ण कवि हैं, जिन्होंने अपनी ओर से नया छंद जोड़ा है। उसको नाम भी दे देता। ऐसा भी हुआ है कि किसी ने दोहा बनाया और दोहा छंद माप में नहीं बैठता, तो उसे 'दुमेलिया' अर्थात् बिना माप का छंद, जिसका कोई मेल न हो, ऐसा लिखा है। अब आप 'दुमेलिया' दूहा सुनिए। दूहा में निरूपित भाव ऐसा है, जिसे छंद के माप में बाँधा नहीं जा सकता। भावानुरूप छंद मुझे नहीं मिला। इसलिए मैंने 'दुमेलिया' दूहा लिख डाला। फिर दूहा का यह एक प्रकार बन गया। छंद के माप के साथ जिसका संबंध न हो, वह दुमेलिया। दूहे के भी इक्कीस या बाईस प्रकार हैं। रा.वि. पाठक के 'पिंगलदर्शन' में भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसे अनेक प्रकार के छंद, दूहा के प्रकार चारणी पांडुलेखों में हैं। चारणी छंदशास्त्र गुजराती छंदशास्त्र से दोगुना, चारगुना नहीं दस गुना बड़ा है। गुजराती में जहाँ मिश्र छंदों में इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा जैसे दो-तीन छंद हैं, वहीं यहाँ ऐसे बारह छंद हैं। एक ही हो और कम पड़े तो नया नाम दे दिया होगा। चारणी पांडुलेखों के लेखन के आधार पर इस छंद-वैविध्य को देखा जा सकता है। इस तरह चारणी छंदशास्त्र विपुल तथा सत्त्वशील मालूम पड़ा है।

शास्त्रीय राग प्रदेश आधारित हैं। सोरठा सोरठ प्रदेश में गाया जाने वाला प्रचलित राग है। जबकि चारणी साहित्य में ऐसी कोई प्रादेशिकता नहीं दिखाई पड़ती। चारणी छंदशास्त्र की विशेषता यह है कि इसका संबंध प्रदेश के साथ नहीं, बल्कि आभूषणों के साथ है। आभूषण की आकृति के साथ इसका संबंध है। 'मोतीदाम' यानी मोती की माला जैसा। कटारी' छंद कटारी की आकृति का। 'खडगबंध' तलवार जैसा होता है। ऐसे ही 'नागप्रबंध' सर्प के आकार का होता है। 'ध्वजबंध' तथा 'चक्रबंध' को भी उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। छंद के संबंध में यह मुझे बहुत अनोखी बात लगी है। चारणी छंदशास्त्र तो इस दृष्टि से गुजराती छंदशास्त्र का विस्तार है। 'प्रवीण सागर' नामक ग्रंथ चारणी परंपरा का गुजरात का सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। कुछ समय पहले मैंने अपने इस स्वाध्याय के आधार पर इसकी विशेषता एक व्याख्यान में बताई, तब सबको यह ख्याल आया कि यह तो हमारी बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जाएगी।

7.3. इस संदर्भ में मैं एक दूसरा सिद्धांत लेख वैकल्पिक काव्यशास्त्र के बारे में तैयार कर रहा हूँ। 'वैकल्पिक काव्यशास्त्र' (अल्टरनेटिव पोएट्री) हमारे पास है। पंडितराज जगन्नाथ के बाद के समय को देखिए। ऐसा नहीं है कि 17 वीं सदी के बाद संस्कृत में लिखना बिल्कुल बंद हो गया। छिटपुट रूप में नए रूप-रंग में यह परंपरा चालू रही।

पंडितराज जगन्नाथ के बाद के आलंकारिकों के बारे में डॉ. अजित ठाकोर ने विस्तार के साथ लिखा है। उसमें भी हमें कोई बड़ा काव्यशास्त्री दिखाई नहीं पड़ता। इसका कारण यह वैकल्पिक काव्यशास्त्र है। 17वीं सदी के बाद प्रादेशिक भाषाएँ स्थिर हो गई थीं। प्रादेशिक भाषाओं का जोर बढ़ा और संस्कृत अधिकांशतः हाशिये पर चली गई। अलग-अलग प्रादेशिक भाषा के कवि प्रादेशिक भाषा के छंदों में प्रादेशिक अलंकारों के विनियोग से अपनी प्रादेशिक भाषा में अपनी रचना, अपना पाठ लिखने लगे। उसमें से प्रकट होता दिखाई पड़ता है। गुजराती भाषा के साहित्य के वैकल्पिक काव्यशास्त्र के उदाहरण चारणी-राजस्थानी में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इस वैकल्पिक काव्यशास्त्र के बारे में हमें विस्तार के साथ अध्ययन करना चाहिए। इस सिद्धांतों के स्वरूप को समझाकर कहना चाहिए कि पंडिराज जगन्नाथ के बाद काव्यशास्त्र किस तरह आगे बढ़ा। वह दर्जनों प्रादेशिक भाषाओं में भारत भर में फैला हुआ है। एक भाषा में से प्रदेशानुरूप अनेक भाषाओं में आ गया है। चारणी साहित्य में अलंकार का प्रयोग देखिए। यहाँ जो यमक है, वह एक ही है। परंतु चारणी में मध्यम यमक, कनिष्ठ यमक, उत्तम यमक - ऐसे तीन प्रकार मिलते हैं। ऐसा कहते हैं कि प्रथम पंक्ति का प्रथम वर्ण यदि 'हा' हो तो प्रत्येक अंतिम शब्द में 'ह' आना चाहिए। कहीं यदि 'ह' का 'हा' हो गया हो तो मध्यम यमक। उदाहरण -

हरख नथी तोय हालवु, हरमत नथी तोय हा।
नो केवाय ना, (तारा) संदेशाने शामला।।

ऐसा लगता है कि अलंकार-निरूपण में उत्कृष्टता के मापदंड में चारणी साहित्य के सर्जक बहुत कड़े अनुशासन के आग्रही थे। खुद के आलोचक भी थे। अपनी कृति के टीकाकार भी थे। इस विषय में वे बड़े ईमानदार थे। गुजराती में उपमा के बाद हीनोपमा एक ही प्रकार मिलता है। जबकि चारणी में तो उपमा के तो अठारह प्रकार मिलते हैं। देवत्व और प्रकृति के साथ उपमा का प्रकार उन्होंने हिमालयोपमा कहा। इस प्रकार से अलंकारों का नामकरण भी उन्होंने खूब किया। चारणी छंदशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र के स्वरूप से संबंधित ग्रंथ भी विपुल मात्रा में रचे गए।

7.4. चारणी साहित्य का अलंकारशास्त्र और छंदशास्त्र अपना है और अलग है। उसमें मात्र लेखन कौशल सर्जक के लिए महत्त्वपूर्ण और पर्याप्त नहीं है, परंतु मात्र पाठ करना या पढ़ना आए, इतनी ही पर्याप्त नहीं है। प्रस्तुत करने का प्रशिक्षण होता था। छंद का उच्चारण करना नहीं आता, तो मार पड़ती। पिता पुत्र को मारता कि उसे छंद प्रस्तुत करना नहीं आता। यह तो सीखना ही पड़ेगा। कितने ही कवियों ने लिखा है, कबूल किया है कि मुझे मार पड़ी है। लाठी से मारा, भोजन भी नहीं मिला। मात्र मधुप्राश किया। दूध के साथ हल्दी का सेवन करने की सजा दी जाती थी। दूसरा कुछ भी खाना नहीं होता। सितोपलादि का हलवा ही खाना होता। दूसरा कुछ नहीं। वास्तव में यह सजा नहीं होती, बल्कि प्रस्तुतीकरण तथा आवाज के रियाज की यह रीति होती। वंश-परंपरा से प्रस्तुत करने की कलाशक्ति प्राप्त करने की यह स्वायत्त परंपरा थी।

8. चारणी पांडुलेखविज्ञान : काव्य-लेखन तथा प्रस्तुतीकरण की विद्या

8.1. शास्त्रीय संगीत घराने की तरह ही यह चारणी घराना है। श्रोता के अनुरूप प्रस्तुतीकरण इसकी विशेषता है। चारणी 'ओखा-हरण' प्रेमानंद के 'ओखा-हरण' से बिल्कुल भिन्न है। किसके सामने प्रस्तुत करना, यह ध्यान में रखकर ही सर्जन और प्रस्तुतीकरण किया जाता था। दरबार में, रनिवास में, राजकुमार के समक्ष - इस तरह अलग-अलग संबंधों और संदर्भों को शामिल करके प्रस्तुतीकरण होता था। अर्थात् श्रोतानुरूप प्रस्तुतीकरण (ऑडिएंस ओरिएंटेड प्रेजेंटेशन) उसकी महत्ता है। इस तरह चारणी साहित्य भाव-केंद्रित टेक्स्ट है।

8.2. चारणी सर्जकों ने किस तरह से सर्जन कौशल प्राप्त किया? लेखक किस तरह से लिखते थे? जैन मुनि बहुत थे। उनमें से जिनको लिखने की रुचि होती, उन्हीं को लिखने का प्रशिक्षण और सुविधा दी जाती। जबकि इससे उल्टी स्थिति या पद्धति चारणी लेखकों को तैयार करने की थी। सर्जन की दीक्षा लेने के

लिए प्रत्येक राज्य में एक पाठशाला होती थी। सबसे प्रसिद्ध तो भईज की 'राओ लखपत ब्रजभाषा काव्यशाला' थी। वह पाठशाला लगभग 250 वर्षों तक कार्यरत थी। लगभग 60 वर्ष हुए उसे बंद हुए। ब्रह्मानंद और दलपतराम ने कविता लिखने का प्रशिक्षण यही प्राप्त की थी। अर्थात् साहित्य सर्जन और प्रस्तुतीकरण की संस्थागत व्यवस्था चारणों को प्राप्त थी।

अधिकांशतः चारण परिवारों के सदस्य वहीं जाते, वही रहते। हमेशा वहीं रहना, रसोई करना, परोसना, रोज सुबह साहित्य कंठस्थ करना, रात को पढ़ना; फिर अचानक परीक्षा के रूप में पूछा जाए कि चतुर्थ सत्र की पचीस कड़ी का दोहा बोलो, तो बोलना पड़ेगा। ऐसी उनकी परीक्षा-पद्धति थी। पाठशाला की परीक्षण-पद्धति, सीखने की पद्धति, किस भाव की कविता (टेक्स्ट) के लिए क्या कथन करना चाहिए, क्या बताना चाहिए - यह सब उदाहरण के साथ याद रखना भी इसमें शामिल था। चारणी सर्जक की सर्जनशीलता विकसित हो, इसके लिए प्रत्येक राज्य के पास अपनी पाठशालाएँ थीं। कविता बनाना सीखना ही पड़ता। यह आजीविका तथा विद्योपासना का साधन था। आशुकवित्व की दीक्षा भी दी जाती थी। समस्या-पूर्ति की कविताएँ भी सिखाई जाती थीं।

'राखो लखपत ब्रजभाषा पाठशाला' में जैन मुनि कुशललाभ, कनककुशल, लक्ष्मीकुशल, कुँवरकुशल आदि आठ शिष्यों की परंपरा ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी शिक्षक के रूप में सेवाएँ दी। उसके बाद चारण कवि आचार्य के पद पर आए। उनमें शंभुदान अयाची अंतिम थे। यहाँ शिक्षार्थियों को अनेक कोश कंठस्थ कराए जाते। प्रासानुप्रास का कोश कंठस्थ कराया जाता। 'वर्णकसमुच्चय' कंठस्थ कराया जाता। छंदों के ग्रंथ कंठस्थ कराए जाते। 'रीस्टसमुच्चय' (शकुन-अपशकुन की बातों का कोश) बिल्कुल वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक ज्ञान के साथ कवियों को तैयार किया जाता। द्वयाश्रयी प्रकार के हमीरजी रत्नकृत 'हरिजश नाममाला' जैसे चारणी ग्रंथ इस पाठशाला की तरफ से भारतीय काव्यशास्त्र विषय के संदर्भ में साहित्य को देन हैं।

8.4. भक्ति कविता भी चारणी साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। ईसरदासजी, सायाँजी झूला, हरदास मिसल, लाँगीदास महेडु और करसनदास बालिया जैसे अनेक भक्त कवि हैं। चारणी पांडुलेख परंपरा में आख्यान काव्य की परंपरा भी देखने को मिलती है, उसमें राजा के अतिरिक्त पुराणाकथाओं की प्रसंगकथाएँ भी मिलती हैं। आशाजी रोहड़िया राज्याश्रित कवि थे। उन्होंने व्यक्तिपरक कविताएँ लिखी। पेट्रोनेग परंपरा में भी चारणी साहित्य का बहुत बड़ा योगदान है। उनके द्वारा रचित राव कल्याणमलजी के बाद सती हुई 'उमादे भाटियाणी के कवित्त' रचना विशेष महत्त्व की है।

जैन, बौद्ध, जैनेतर परंपरा में चारणी साहित्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह जैन जैसा सामाजिक साहित्य है? बौद्ध जैसा धार्मिक साहित्य है? या फिर, जैनेतर जैसा साहित्यिक प्रकार का है? चारणी साहित्यिक कृतियों का गहराई से अध्ययन करने से मुझे पता चला है कि चारणी साहित्य इन तीनों धाराओं का अतिक्रमण करने वाली धारा है। उनकी धार्मिक परंपरा तो देवीपूजा की शाक्त परंपरा है। चारण सर्जकों ने बहुत लिखा है। परंतु जो साहित्यिक भाषा परंपरा मिली, उसे डिंगल नाम मिला। वह साहित्यिक रीति है। प्रस्तुतीकरण की सरणि है। बारोट, भाट, मीर और मोतीसर - ये चार समाज के लोग मूलतः चारणी साहित्य के प्रस्तुतकर्ता हैं, जिन्होंने चारणी साहित्य को जीवंत रखा।

8.5. विश्व में फैले हुए जिप्सिस मूलतः चारण थे। कच्छ-सौराष्ट्र के चारणी समूह के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए जैन और बौद्ध की भाँति काफी संभावनाएँ हैं। सांस्कृतिक अध्ययन के लिए कितनी ही अवधारणाएँ उसके साथ जुड़ी हुई हैं। इसलिए मुझे मूलतः यह कहना है कि चारण राजस्थान से यहाँ आए और यहाँ आकर रहने लगे। ऐसी धारणा प्रचलित है। परंतु वास्तविकता यह नहीं है। वे यहीं के हैं। इसका दस्तावेजी आधार प्रमाणभूत है। पांडुलेखों का अध्ययन करके मैंने प्रमाण खोजा है। लाखा फुलाणी जब राजा थे तो उनके

राजकवि मावल वरसड़ा की रचनाएँ उपलब्ध हैं। उस समय का पांडुलेख सिद्धराज के पहले का मिला है। अर्थात् 13वीं-14वीं सदी के पांडुलेख मिलते हैं। उस समय यहाँ मारु चारण थे; और सोरठिया भी थे। उन सबका काम ही राजवंशों के साथ संबंध रखना था। महत्त्वपूर्ण राजकीय घटनाओं को अपने पास रखना; और समय आने पर उन घटनाओं को दोहा या पँवाड़ा बनाकर प्रस्तुत करना उनका काम था। ऐसे दोहे कंठस्थ परंपरा में प्रचलित हुए।

9. चारणी पांडुलेखविज्ञान : बहुमुखी कविप्रतिभा का परिचायक

9.1. चारणी दूहा साहित्य प्राचीन काल से उपलब्ध है। हेमचंद्राचार्य के अपभ्रंश व्याकरण में भी उदाहरण रूप में ये मिलते हैं। इंडियन फोकलोर कांग्रेस में जब मैंने 'सिद्धहेम व्याकरण' के बार में पेपर पढ़ा था, तब कहा था कि श्री हेमचंद्राचार्य लोक परंपरा के प्रथम स्तर के संपादक हैं। 14वीं 15वीं सदी से यूरोप, फिनिक्स, फिनलेंड में लोक परंपरा के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। फोकलोर नाम तभी से प्रचलन में आया। परंतु इस नामकरण के पूर्व, सिद्धांत रचना के पूर्व हेमचंद्राचार्य ने साहित्यिक व्याकरण के जो उदाहरण लिए हैं, उनमें से कई कविताओं के सर्जक हैं, तो कई सर्जकों का पता नहीं है। कुछ चारणी परंपरा में तथा कुछ लोक परंपरा में प्रचलित हैं। यह लोक कविता दूहा उन्होंने 12वीं-13वीं सदी में संपादित किया। परंतु हमारे यहाँ उसकी साहित्यिक समीक्षा नहीं हुई; या देर से हुई। जैसे कवि हाल की गाथाएँ हैं, जिन्हें कुछ लोगों ने सँभालकर रखा होगा। किसी ने उदाहरण के रूप में रखा होगा। हमारे पास वे पाठ के रूप में आईं। उसी प्रकार चारणी दूहों को पहली बार मूल चारणी पाठ हेमचंद्राचार्य के व्याकरण में उदाहरण के रूप में संपादित होकर सुरक्षित हुआ। यह दृष्टांत चारणी साहित्य की प्राचीनता का परिचाय है।

रामचंद्र तथा गुणवंत नाम के हेमचंद्राचार्य के दो प्रभावशाली शिष्य थे, जिन्होंने नाट्यशास्त्र के ग्रंथों की रचना की थी। उनके बारे में यह प्रचलित है कि वे दोनों चारण थे। रामचंद्र करमानंदजी के भाई तथा आनंद मिसल के पुत्र थे। आनंद-करमानंद को सिद्धराज ने 'मम्माणा' गाँव दिया था। उनसे प्रभावित होकर हेमचंद्राचार्य ने रामचंद्र को शिष्य बनाकर संस्कृत में पारंगत बनाया। कई ऐसे जैन मुनि हैं, जो पूर्वाश्रम में चारण थे। जिस प्रकार स्वामिनारायण संप्रदाय में ब्रह्मानंद और पूर्णानंद का बहुत बड़ा योगदान है, उसी प्रकार मुनि हीरानंद, मेघानंद तथा विजानंद चारणी पंरपरा के जैन कवि हैं। चारणी कवियों के नाम हैं। फिर वही नाम रखना है। उस मूल नाम से ही आगे उनकी पहचान रही होगी। जैन परंपरा में लिखते समय भी उन्होंने चारणी शैली का ही प्रयोग किया। हीरानंदसूक्ति 'वस्तुपाल रासोमाँ वचनिका' है। वह डिंगल छंद में है। कई जैन मुनि पूर्वाश्रम में चारणी कवि के रूप में प्रसिद्ध थे। इसी कारण जैन साहित्य परंपरा में चारणी साहित्य परंपरा की प्रस्तुतीकरण की कला का परिमाण अच्छा खासा है। रामचंद्र-गुणचंद तो हैं ही। उनके विषय में के. का. शास्त्री ने बताया है कि जैन साहित्य में लिखने वाले कौन आए। ब्राह्मण आए; जैन और दूसरे आए। जिन्हें प्रस्तुत करना आता था, वे आए। सभी प्रस्तुतकर्ता सर्जक न हों, ऐसा हो सकता है। परंतु कोई चारणी सर्जक प्रस्तुतकर्ता न हो, ऐसा नहीं है। प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने की कला में चारण सिद्धहस्त हैं। इसी कारण प्रस्तुतीकरण करने वाली मीर, मोतीसर, भाट और बारोट जातियाँ भी चारणी साहित्य परंपरा में लिखने में प्रवृत्त हो गईं। चारणी लेखन परंपरा इस तरह से चारणेतर परंपरा में प्रविष्ट हुई और उन-उन परंपराओं को समृद्ध किया। यह भूलना नहीं चाहिए।

9.2. कई चारण कवि भक्त कवि थे। कइयों ने कथाकाव्य का सर्जन किया। दरबार में तो कथा कर नहीं सकते थे। भक्त कवि का काम दरबार में नहीं होता। एक भी भक्त कवि को दान मिले होने का प्रमाण नहीं मिलता। उन्हें बहुत निमंत्रण भी नहीं मिलता। चारण भक्त कवियों की संख्या बहुत है। ऐतिहासिक कथा-काव्य रचयिता कवियों जितनी संख्या में भक्त कवि भी हैं। परंतु इन कवियों को लाखों का पुरस्कार मिला हो, करोड़ों

का पुरस्कार मिला हो, गाँव मिला हो, जागीर मिली हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। उनका स्थान तो समाज में था। जहाँ भागवत होती, वहाँ वे सहज रूप में उपस्थित हो जाते। ईसरदान, आशाजी के बाद तुरंत ही स्मरण में आ जाते हैं। गोदड़ महेडू का 'छाया भागवत' बहुत महत्त्व का है। करनदास बालिया महत्त्व के हैं। परंतु इन सभी में हरदास मिशण का महत्त्व बहुत अधिक है। 'जालंधरपुराण' महत्त्वपूर्ण कथा कृति है। शौर्य कविता को समाज में ले जाने वाले वे हैं। भक्ति कविता को भी वे समाज में ले गए। शंकरदान देथा, गगुभाई लीला, दुला काग, पिंगलशी मेघानंद, भीखुदान चारणी परंपरा के कवि-कथक हैं। जब ये कलाकर्मी कथक इतने प्रभावशाली प्रस्तुतकर्ता हैं, तो मूल स्वर, सुर और आवाज वाले कविकर्ता कैसे प्रभावशाली रहे होंगे ! इन कथाओं ने और भक्ति कविता ने भी चारणी साहित्य को वित्त वाली तथा निरूपण-कला से परिपूर्ण किया।

10. चारणी पांडुलेख का अपना विशिष्ट रूप

10.1. यह बात हमें भूलनी नहीं चाहिए कि चारणी साहित्य यदि राज्याश्रित न रहा होता, तो उसकी इतनी अधिक रचनाएँ प्राप्त नहीं हुई होती। अधिकांश चारणी साहित्य किसी न किसी राज्य के राजा के गुण या प्रशस्ति का साहित्य है। चारणी साहित्य की दूसरी विशेषता यह है कि उनके कवियों ने इतिहास के साथ कभी छेड़छाड़ नहीं की है। गलत जानकारी वे कभी प्रस्तुत नहीं करते थे। सत्य ही कहते थे, सत्य का ही वर्णन करते थे। अतिशयोक्ति के साथ करते थे और कबूल भी करते थे कि यह वर्णन अतिशयोक्ति अलंकार में है। ऊपर लिखते कि यह अतिशयोक्ति अलंकार है।

नव्य इतिहासवाद के अध्येता यह मानते हैं कि चारणी साहित्य को इतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री मानी जाना चाहिए। 'कान्हड़दे प्रबंध' तथा 'रणमल्ल छंद' ऐतिहासिक हैं। इसमें चारणी धारा की रचनाओं को भी काम में लेना चाहिए। जैन साहित्य परंपरा की रचनाओं में श्रावक के गुणगान को अभिव्यक्ति देने वाली शताधिक रचनाएँ हैं। इस परंपरा के सर्जक किस प्रकार सत्य से काम लेते हैं, इन बातों का मैंने थोड़ा अध्ययन किया है। इसलिए मुझे लगा है कि ऐतिहासिक विषय सामग्री के साथ काम करना और बहुत कठिन है। और फिर, एक स्थिर हुई इमेज के आधार पर साहित्य कृति तैयार हुई हो, तो उसके बारे में काम करना और भी बहुत कठिन है। हेजियोग्राफी और लिजंड को नव्य इतिहासवादी महत्त्व दे रहे हैं। ये दोनों इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि जिन्हें हम दंतकथा कहते हैं, वे भी जिस समय के साथ संबद्ध हैं, उस समय में झूठी नहीं हो सकतीं। हम जिन्हें दंतकथा कहते हैं, वे जिस समय पर आधारित हैं, उस समय में कोई तो ऐसा होता, जो इसका प्रतिवाद करता कि यह झूठी है। हम जीवंत हैं। यह भाई जीवंत है और मैं कहूँ कि ऐसा है, वैसा है, तो दूसरे लोग क्या कहेंगे ? आप झूठे हैं। यह आदमी तो ऐसा नहीं है। मैं झूठ बोला करूंगा, तो ये लोग क्या मान लेंगे?

चारणी साहित्य मूल इतिहास है। इसीलिए नए इतिहासकार रसेल जमीनदार, मकरंद मेहता, डॉ. एस.वी. जानी और पी. जी. कोराट भी चारणी कृतियों को इतिहास लेखन के लिए आधारभूत सामग्री मानते हैं। वे 'कान्हड़दे प्रबंध' को ऐतिहासिक कृति और साहित्यिक कृति मानते हैं। चारणी साहित्य को साहित्यिक के अलावा तीव्र-दृढ़ रूप की ऐतिहासिक कृति के रूप में स्वीकार करना चाहिए। ऐसी कृतियों के बारे में काम होना चाहिए।

10.2. परंपरा, संस्कृति और सभ्यता में कुछ न कुछ जुड़ा करता है। आज भाषा की कई परंपराएँ तो लुप्त होने को हैं। राजस्थानी भाषा पर हिंदी का इतना अधिक आक्रमण है कि शायद राजस्थानी भाषा पचास-सौ वर्ष के बाद न रहे। पश्चिमी भारत की कोंकणी पर मराठी का ऐसा ही आक्रमण है। इसी तरह तीसरी है कच्छी भाषा। सिंधी भी अब बहुत प्रचलित नहीं रही। आज से पचास या सौ वर्ष के बाद राजस्थानी, कोंकणी

या कच्छी का अस्तित्व ही शायद समाप्त हो जाए। वे स्थगित हो जाएँगी। स्थगितता, निधन की निशानी है; अंत की निशानी है। उसमें कुछ जुड़ते रहना चाहिए। वह परंपरा, संस्कृति और सभ्यता का भाग बनी रहे, इसके लिए निरंतर उसमें कुछ सर्जन होते रहना जरूरी है। चारणी साहित्य ऐसी परंपरा है। जैन परंपरा आज भी है। बौद्ध परंपरा चली गई। परंपरा में जब तक कुछ जुड़ता रहता है, तब तक वह टिकी रहती है। चारणी परंपरा का काव्यशास्त्र है; और इसकी सर्जन परंपरा जीवित होने से यह टिकी हुई है। उसमें दर्शाए गए काव्यदोष सामान्य मूल्य पर आधारित हैं। भारतीय संस्कृति के साथ बिल्कुल समांतर समाज, संस्कृति के साथ मिलकर चारणी परंपरा ने 11 काव्यदोष दिए हैं। यह इस अध्ययन का बड़ा विषय है। अनुसंधान का विषय है। मैंने तो इस ग्रंथ में, विद्वानों ने जो कहा है, उसमें से अपने सिद्धांत के प्रतिपादन भर का लिया है। परंतु इस पर विस्तार से काम होना चाहिए। वे नीतिवादी थे; शुद्धतावादी थे; सत्यवक्ता थे। उन्होंने चार प्रकार की उक्ति मानी-परमुख, सम्मुख, पराङ्मुख, श्रीमुख। परंतु जो कौशल जानता है, वह सर्जक एक ही खंड में इन चारों को प्रयुक्त कर सकता है। कविता की मिश्र उक्ति इस चारणी परंपरा की देन है। एक काव्यखंड एक ही उक्ति का हो, तो वह कोई उपलब्धि नहीं मानी जाती है। वह दोष माना जाता है। सौंदर्य का भाग नहीं माना जाता है। वहाँ कहा गया 'उक्तिवैचित्र्यम्', 'मिश्रउक्ति' का पाँचवाँ प्रकार बड़े महत्त्व का लगा है। काव्यशास्त्र संबंधी ऐसी बहुत सारी तथा बड़ी बातें चारणी पांडुलेख परंपरा के साहित्य के आधार पर प्राप्त होती हैं।

चारण तो सच्चा कवि उसी को कहते, जिसकी प्रत्येक पंक्ति अलंकृत हो। मात्र पंक्ति नहीं, पंक्ति का पूर्वार्ध, उत्तरार्ध भी अलंकृत हो, यह जरूरी है। वर्ण-मैत्री सुदृढ़ होनी चाहिए। वे मिश्रण में, सम्मिश्रण में विश्वास रखते थे। परंतु वर्ण-मैत्री अलंकार तो होना ही चाहिए, ऐसी वो मानते थे। उदाहरण के रूप में यहाँ मावल, वरसड़ाकृत 'विप्रवोलावल' का पांडुलेख उसका वाचन। इसमें से छंद, अलंकार और मिश्र उक्ति के उदाहरण हैं।

10.3. वर्ण-मैत्री चारणी साहित्य की पहचान है। उनका शब्द-भंडार समृद्ध होना अनिवार्य माना जाता था। कहीं भी अनुचित शब्द-प्रयोग नहीं मिलता। यह उनकी सबसे बड़ी सार्थकता लगती है। चारणी साहित्य में शब्दों का समुचित रीति से विनियोग हुआ है।

10.4. चारणी साहित्य का जन्म दरबार में, वाद-विवाद के वातावरण में अथवा युद्धभूमि में हुआ। इसके अलावा इसका कार्य परस्पर संवादिता स्थापित करना था। सत्य के साथ रहकर सर्जन चारणी साहित्य की बड़ी विशेषता है। वे जन्मजात कवि नहीं हैं, बल्कि प्रशिक्षित कवि हैं। वे आनुवंशिक रीति से और स्वभावगत कवि थे। स्मृति द्वारा सब कुछ संचित करना, पढ़ना और प्रस्तुत करना। कविपद प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा ने उन्हें प्रेरित किया। कवि बनना हो, तो रियाज करना पड़ेगा। कायरता तथा कंजूसी के वे विरोधी थे। इसका कारण यह है कि वे दान पर निर्भर थे; और वे स्वयं दान करना भी जानते थे। इसीलिए तो कहा जाता है कि चारण ले लाख और दे सवा लाख।

वीररस की बात नैरेशन से, वर्णन से लेकर वीरांगना स्त्री द्वारा प्रस्तुत की गई। चारण कवि हताश हुए, पराजित हुए राजाओं को, योद्धाओं को उत्तेजित करने वाले, प्रोत्साहित करने वाले कवि हैं। चारणी साहित्य समरांगण की ओर प्रेरित करने वाला साहित्य है। शब्द के माध्यम से शौर्य रस का पान कराने वाला साहित्य यानी चारणी साहित्य। यह उसकी बड़ी विशिष्ट और अनोखी छवि है।

10.5. जैन परंपरा में रास, प्रबंध, सज्जाय जैसे पचासों स्वरूप हैं। बौद्ध परंपरा में गाथा, चर्या, कथा जैसे विविध स्वरूप हैं, तो चारणी परंपरा में विपुल मात्रा में दोहा हैं। चारणी साहित्य का पदबंध दूहा है। 'पुराण' नाम वाली अनेक रचनाएँ भी मिलती हैं। धर्म के साथ संलग्न कथा को वे कदाचित् 'पुराण' कहते हैं। जैसे -

'जालंधरपुराण' । परंतु सभी रचनाएँ आख्यान जैसी लगती हैं। 'वात' नाम वाली कृतियाँ भी मिलती हैं। जैसे - चंच राठोड़नी बात, सूअर-सावजरी वात, सदेवंत सावलिंगा वात, 'ढोलामारुनी वात' । यहाँ वात यानी इतिहास, धर्म, पुराण, लौकिक कथानक के साथ जुड़ी हुई वात। इसमें पदमाला सदश बारहमासी है। कवित्त है। 'वखत बलंद अने विभाविलास' उसका उदाहरण है।

10.6. चारणी कवि मुझे 'लॉजिकल पोएट (तर्क कवि) मालूम पड़ते हैं। तर्क के साथ भावक के चित्त में कथा साहित्य, भावविश्व स्वीकृत हो जाए, इस प्रकार सर्जन और कथन करना चारणी साहित्य का विशिष्ट पक्ष है। इस तरह अलंकाश्रित, कायरता को नकारने वाली, हताश व्यक्ति में प्राणशक्ति का संचार करने वाली बहुत तार्किक और विविध स्वरूपों, काव्य प्रकारों से समृद्ध चारणी साहित्य परंपरा है। चारणी पांडुलेखविज्ञान का अध्ययन करने के निमित्त इन सभी मुद्राओं को पहचानना तथा उसकी विशिष्ट पहचान प्रस्तुत करना संभव हो सका।

चारणी पांडुलेखविज्ञान के संदर्भ में परंपरा से प्राप्त विवरणों के दृष्टांतों में पांडुलेख प्राप्ति के स्वयं के अनुभव में से और पांडुलेख अंतर्गत कथित-वर्णित सामग्री में से चारणी पांडुलेख के लेखन जतन, संरक्षण विषयक सामग्री और प्रस्तुतीकरण का जो वैशिष्ट्य निष्पन्न होता है, वह स्वरूप भारतीय पांडुलेखविज्ञान के अंतर्गत चारणी पांडुलेखविज्ञान विषयक विचारणा में विशिष्ट और नूतन अंशों का परिचय कराने वाला होने के कारण भारतीय पांडुलेखविज्ञान की सैद्धांतिक विचारणा में एक महत्त्वपूर्ण वृद्धि बन जाता है। इस कारण से चारणी पांडुलेखविज्ञान का यह भारतीय स्वरूप भारतीय पांडुलेखविज्ञान के संदर्भ में उल्लेखनीय बन जाएगा। यह उल्लेखनीय बात ही चारणी पांडुलेखविज्ञान की महत्ता और महिमा का परिचायक है।

कुलाधिपति
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003 (म.प्र.)

गुरुकुल : महत्त्व और आवश्यकता

राघवेन्द्र प्रसाद तिवारी

शिक्षा एक उत्कृष्ट सांस्कृतिक कर्म है। दुनिया की लगभग प्रत्येक सभ्यता में किसी न किसी रूप में शिक्षा की महत्ता को स्वीकार किया जाता रहा है। इसलिए किसी भी देश की शिक्षा का इतिहास वहाँ की सभ्यता का भी इतिहास होता है। इस दृष्टि से भारतीय शिक्षा का इतिहास, भारतीय सभ्यता और समाज के अब तक के विकास, उसकी चेतना-प्रवाह की दिशा एवं परिवर्तनों का भी इतिहास है। सभ्यता के भिन्न-भिन्न सोपानों में भारतीय शिक्षा निरन्तर पुष्पित-पल्लवित होती रही है। भारतीय शिक्षा परम्परा पर समग्रता में दृष्टिपात करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति कई अर्थों में मनुष्यता के निर्माण की सर्वोच्च कसौटी के रूप में सामने आती है।

किन्तु समय के साथ कई कारणों से उक्त भारतीय शिक्षा व्यवस्था में गिरावट आई। ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति के चलते सायाश ढ़ंग से भारत की प्राचीन शिक्षा व्यवस्था को कमतर बताया और किया गया। वे जानते थे कि भारत का स्वत्व-बोध ज्ञान की उसकी अपनी मूल्यों में निहीत है, और उसे खत्म किये बिना भारत पर शासन नहीं किया जा सकता। समय के साथ भारत की उस महान शिक्षा-पद्धति को कई तरह की चुनौतियों व समस्याओं का सामना करना पड़ा। आज भी वे चुनौतियाँ और समस्याएँ बनी हुई हैं, जिनका समाधान करना आवश्यक है। लगभग 1850 तक भारत में गुरुकुल की परम्परा किसी न किसी रूप में चलती रही थी किन्तु मैकाले द्वारा प्रस्तावित एवं राज्य पोषित अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत की प्राचीन शिक्षा व्यवस्था समाप्त होने लगी। गुरुकुलों की जगह कान्वेंट और पब्लिक स्कूलों ने ले लिया।

गुरुकुल अवासीय विद्यालय होते थे। 'गुरुकुल' का शाब्दिक अर्थ 'गुरु का परिवार' होता है। किन्तु प्राचीन काल से ही इस शब्द का प्रयोग शिक्षा का परिसर या शिक्षा संस्थान के रूप में होता है। इसके लिए 'आचार्यकुल', 'गुरुगृह' इत्यादि संज्ञाएं भी प्रचलन में थीं। भारतीय संस्कृति के उत्थान में इन गुरुकुलों का अत्यधिक महत्व था। इस पद्धति में विद्यार्थी गुरु के पास बैठकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरु विद्यार्थियों का मानसिक एवं बौद्धिक संवर्धन करता था। साथ ही उन्हें शास्त्रों, पुराणों एवं अन्य जरूरी अनुशासनों में भी शिक्षित किया जाता था। शिक्षा के अंत में गुरु अपने विद्यार्थियों को दीक्षा देकर उन्हें आगे के जीवन के लिए, समाज के लिए अपने कर्तव्यों के पालन हेतु विदा कर देता था। दीक्षा और समावर्तन संस्कार के बाद विद्यार्थियों को स्नातक कहा जाता था और वह स्नातक ही पूर्ण नागरिक-बोध के साथ व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन स्थापित करते हुए अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता था।

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 24-32*

गुरुकुल प्रायः गाँवों अथवा नगरों के भीतर तथा बाहर दोनों ही स्थानों में चलाए जाते थे। गुरुकुल में विद्यार्थी गुरु के परिवार के साथ रह कर, अपनी सेवाएं गुरु और उसके परिवार को देकर ज्ञानार्जन करते थे। गुरुकुल पद्धित में ब्रह्मचर्य, अनुशासन और श्रम का विशेष महत्व था। औपचारिक शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थी गुरु का आदेश प्राप्त कर, अपने ज्ञान की सामाजिक भूमिका में उतरता था। गुरुकुलों में विद्यार्थियों के साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। अमीर-गरीब के आधार पर ज्ञान एवं अन्य सुविधाओं का निर्धारण नहीं होता था। गुरुकुल के भीतर का जीवन सादा, श्रद्धापूर्ण, भक्तिपरक, त्यागमय एवं कठोर अनुशासन में बँधा होता था। गुरुकुल में विद्यार्थी गुरु के समीप रह कर उसके व्यक्तित्व और आचरण से सीखता। इसीलिए गुरु को 'आचार्य' भी कहा जाता था, अर्थात जो अपने आचरण से सिखाये, वही आचार्य है। उसी प्रकार विद्यार्थी को ब्रह्मचारी, व्रतधारी, अंतेवासी, आचार्यकुलवासी कहा जाता था। गुरु और शिष्य के सम्बन्धों की एवं एक दूसरे के साथ किये जाने वाले व्यवहार की एक आचार-संहिता होती थी। जिसका सम्मानपूर्वक पालन दोनो पक्ष करते थे। गुरुकुलों में उस समय तत्कालीन महत्व के लगभग सभी ज्ञान-विज्ञान एवं अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

गुरुकुल शिक्षा पद्धति में आचार्य का गौरवशाली स्थान था। आचार्यों का सम्मान समाज के प्रत्येक हिस्से में था। आचार्य विद्वान, सदाचारी, क्रियाशील, अभिमान से मुक्त, समतावादी, सत्यद्रष्टा और वत्सलभाव से पूर्ण होते थे। उनके लिए विद्यार्थियों का कल्याण ही सबसे बड़ा धर्म था। वे छात्रों के चरित्र निर्माण के साथ-साथ उनके लिए भोजन-वस्त्र का प्रबंधन, बीमार छात्रों की चिकित्सा एवं सेवा आदि की जिम्मदारी का निर्वाह करते थे। गुरुकुल और आचार्य के महत्व को रेखांकित करते हुए प्रो. अनंत सदाशिव अलतेकर ने कहा है कि 'प्राचीन भारतीय सहवास और अनुकरण के महत्व से पूर्णतया परिचित थे। इसीलिए उन्होंने गुरुकुल प्रणाली का समर्थन बड़े जोर से किया है। आचार्य के उत्तम चरित्र के प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत और सतत सम्पर्क का बाल्य व युवाकाल में विद्यार्थी के चरित्र पर निश्चय ही बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। आचार्य के उन अग्र शिष्यों का (जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर ली हो) सम्पर्क भी नये विद्यार्थियों में नये सृजन की प्रेरणा देता था। हर एक गुरुकुल या विद्यालय की एक विशिष्ट परम्परा होती थी। वह अर्मूत होती हुई भी विद्यार्थी पर प्रभाव डालती और उसे वह धीरे-धीरे आत्मसात करता था। घर पर रहकर अध्ययन करने में जो बुराइयाँ थीं, गुरुकुल-प्रणाली में उनका परिहार हो जाता था। इस प्रणाली में अध्ययन में सुविधा तो होती थी साथ ही पारिवारिक जीवन के लाभ भी प्राप्त हो जाते थे क्योंकि आचार्यगण, जिनके संरक्षण में विद्यार्थी रहते थे, प्रायः गृहस्थ ही हुआ करते थे।'[1] गुरुकुलों में ऋषियों द्वारा रचित मंत्रों की व्याख्या एवं उसका प्रयोग गुरु अपनी अनुभूति से ब्रह्मचारी, अंतेवासी को बताता था। मंत्रों को केवल कंठस्थ करना ही नहीं बल्कि अर्थबोध भी कराया जाता था। ब्रह्मचर्य का पालन सभी विद्यार्थियों (पुरूषों एवं स्त्रियों) के लिए अनिवार्य था। आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करने वाले पुरूष विद्यार्थी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी और स्त्री विद्यार्थिनी को ब्रह्मवादिनी कहा जाता था। अलग-अलग गुरुकुलों की प्रणाली में थोड़ी बहुत भिन्नता होती थी। किन्तु प्रायः गुरुकुलों में किसी प्रकार की परीक्षा नहीं होती थी और न कोई उपाधि ही दी जाती थी। आचार्य स्वयं से ही विद्यार्थी के ज्ञान का स्तर का पता लगा लेते थे। विद्यार्थी गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान के अध्ययन-विश्लेषण एवं शोध में रत रहते हुए वाद-विवाद, शास्त्रार्थ, चिंतन एवं संवाद में निरन्तर सहभागिता कर अपनी क्षमता और प्रतिभा को प्रमाणित करते थे।

भारतवर्ष में गुरुकुलों की व्यवस्था बहुत दिनों तक जारी रही। गुरुकुलों की आधारशीला पर बाद में तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालय खड़े हुए। उन विश्वविद्यालयों में दूर-दूर से विद्यार्थी वहाँ के विश्वविख्यात शिक्षकों से पढ़ने आते थे। केवल बनारस में सैकड़ों गुरुकुल सफलता पूर्वक कार्य करते थे। ये

गुरुकुल ज्ञानार्जन के साथ-साथ अपनी सामाजिक भूमिका के प्रति अत्यंत सचेत रहते थे। गुरुकुलों की यही वह सामाजिक भूमिका थी जिसके चलते 19वीं शताब्दी के भारतीय राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण काल में सांस्कृतिक उत्थान, स्वत्व-बोध एवं राष्ट्रीयता के प्रसार के लिए अनेक गुरुकुलों की स्थापना की गयी। 'प्राचीन भारतीय गुरुकुलों में कुलपति हुआ करते थे। कालिदास ने वसिष्ठ तथा कण्व ऋषि को (रघुवंश, प्रथम, 95 तथा अभि. शा., प्रथम अंक) कुलपति की संज्ञा दी है। वे गुरुकुल छोटे अथवा बड़े सभी प्रकार के होते थे। परंतु उन सभी गुरुकुलों को न तो आधुनिक शब्दावली में विश्वविद्यालय ही कहा जा सकता है और न उन सबके प्रधान गुरुओं को कुलपति ही कहा जाता था'।[2]

प्राचीन भारत में स्वरूप और संरचना के आधार पर तीन प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ प्रचलन में थीं - गुरुकुल, परिषद एवं तपस्थली। 'गुरुकुल' में विद्यार्थी विधा का अध्ययन करते थे, 'परिषद' में विशेषज्ञों द्वारा शिक्षा दी जाती थी एवं 'तपस्थली' में विशाल सम्मेलन और प्रवचनों का आयोजन होता था। गुरुकुलों की इस परम्परा में द्रोणाचार्य, सांदीपनि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि, गौतम, भारद्वाज जैसे ऋषियों के आश्रम रहे। जो अपनी ज्ञान-परम्परा में अद्वितीय सिद्ध हुए। गुरुकुलों में गणित, ज्योतिष, खगोल, विज्ञान, भौतिक, चिकित्सा आदि सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इसके साथ ही प्रत्येक गुरुकुल अपनी कोई न कोई विशेष गुण के लिए प्रसिद्ध होते थे। जो उनकी विशेषज्ञता के क्षेत्र थे। कुछ केन्द्र धनुर्विद्या में, कुछ वैदिक ज्ञान में, कुछ अस्त्र-शस्त्र के ज्ञान में, कुछ ज्योतिष तो कुछ खगोल विज्ञान के ज्ञान के लिए प्रख्यात थे। इस तरह हम देख सकते हैं कि आधुनिक समय में ज्ञान के क्षेत्र में जिस विशेषज्ञता का महत्व है, उसकी बुनियाद प्राचीन भारत के इन गुरुकुलों में ही रखी गयी थी।

प्राचीन काल में ज्ञान के विशिष्ट केन्द्रों के रूप में जो आश्रम प्रसिद्ध हुए और जिन्होंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के निर्माण में अपनी युगांतकारी भूमिका का निर्वाह किया, उनमें कुछ इस प्रकार हैं -

वाल्मीकि आश्रम : आदिकवि के रूप में प्रसिद्ध ऋषि वाल्मीकि के आश्रम की ख्याति देश में भर थी। वाल्मीकि ने ही 'रामायण' लिखी थी। महर्षि कश्यप और अदिति के नवम पुत्र वरुण (आदित्य) से इनका जन्म हुआ। इनकी माता चर्षणी और भाई भृगु थे। पौराणिक कथा के अनुसार लव-कुश की शिक्षा वाल्मीकि आश्रम में ही सम्पन्न हुई थी। प्राचीन काल से लकर आज तक वाल्मीकि रामायण सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का उपजीव्य और भारतीय संस्कृति का दर्पण बना हुआ है।

विश्वामित्र का आश्रम : विश्वामित्र गायत्री के बहुत बड़े उपासक थे। माना जाता है कि महर्षि विश्वामित्र का आश्रम बक्सर (बिहार) में स्थित था। इस स्थान को गंगा-सरयू संगम के निकट बताया गया है। विश्वामित्र के आश्रम को 'सिद्धाश्रम' भी कहा जाता था।

ऋषि वशिष्ठ : राजा दशरथ के कुलगुरु ऋषि वशिष्ठ अपने समय के श्रेष्ठ गुरुओं में गिने जाते हैं। राजसत्ता पर अंकुश का विचार देकर वशिष्ठ ने अपना महत्तम योगदान दिया।

भारद्वाज का आश्रम : भारद्वाज मुनि विमानशास्त्र में प्रवीण थे। इसके अलावा उनके आश्रम में वैदिक ज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी। भारद्वाज के सभी दस पुत्र ऋग्वेद के मंत्र दृष्टा माने गए हैं। उनकी दो पुत्रियां भी थीं जिसमें से एक का नाम 'रात्रि' था, वे 'रात्रि सूक्त रचयिता' थीं। ऋषि भारद्वाज व्याकरण, धर्मशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, आयुर्वेद और भौतिक विज्ञानशास्त्र आदि विषयों के आधिकारी विद्वान थे। 'आयुर्वेद संहिता', 'भारद्वाज-स्मृति', 'यंत्र-सर्वस्व' जैसे ग्रंथ भारद्वाज मुनि के विद्वता के प्रमाण हैं।

कपिल मुनि का आश्रम : कपिल मुनि 'सांख्य दर्शन' के प्रवर्तक थे। इनकी माता का नाम देवहुती व पिता का नाम कर्दम था। कपिल ने माता को जो ज्ञान दिया, वही 'सांख्य दर्शन' कहलाया। महाभारत में ये सांख्य के वक्ता कहे गए हैं।

कण्व का आश्रम : ये वैदिककालीन ऋषि थे। कण्व ऋषि के आश्रम में अनेक नैयायिक रहा करते थे, जो न्याय तत्वों के कार्यकारण तत्व, कथा-संबंधी स्थापना, आक्षेप और सिद्धांत आदि के ज्ञाता थे।

गौतम ऋषि का आश्रम : गौतम ऋषि न्याय दर्शन के प्रवर्तक थे। महर्षि गौतम बाण विद्या में अत्यंत निपुण थे। महर्षि गौतम न्यायशास्त्र के अतिरिक्त स्मृतिकार भी थे।

शौनक का आश्रम : दस हजार विद्यार्थियों के गुरुकुल के व्यवस्थित संचालन के कारण शौनक को सर्वाधिक गौरवशाली कुलपति माना गया है।

परशुराम का आश्रम : परशुराम का आश्रम शस्त्र एवं शास्त्र की शिक्षा के लिए विख्यात था।

वेदव्यास का आश्रम : महर्षि वेदव्यासजी का पूरा नाम कृष्णद्वैपायन है। उन्होंने वेदों का विभाग किया था। उन्होंने महाभारत सहित सैकड़ों ग्रंथों की रचना की जिनमें से 4 पुराण भी थे।

सांदीपनि ऋषि का आश्रम : सांदीपनि ऋषि का आश्रम मध्यप्रदेश के उज्जैन नगर स्थित शिप्रा नदी के किनारे तपोभूमि के रूप में प्रतिष्ठित था। प्राचीनकाल में यह आश्रम ज्ञान के क्षेत्र में अत्यंत प्रसिद्ध था।

गुरु द्रोण का आश्रम : गुरु द्रोण का आश्रम हस्तिनापुर में था। गुरु द्रोण युद्धकला के अद्वितीय आचार्य थे। उनका आश्रम तत्कालीन समय में घुड़सवारी, धनुर्विद्या और अन्य हस्त और दिव्यास्त्रों की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। गुरू द्रोणचार्य स्वयं भी एक श्रेष्ठ धनुर्धर थे।

इसके अलावा अगस्त्य, वामदेव, कश्यप, अष्टावक्र, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, अत्रि और ऐतरेय के भी गुरुकुल प्रसिद्ध थे जो ज्ञान के अध्ययन-चिंतन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहे थे।

इसी प्रकार बाद के दिनों में अपने नये शिक्षा संस्थानों को लेकर भी भारत की बहुत प्रसिद्धि रही। वैदिक काल के गुरुकुल ही विकसित होकर विश्वविद्यालयों के रूप में ज्ञान के वैश्विक प्रस्तोता के रूप में उभरे। धीरे-धीरे भारत गणित, ज्योतिष, भूगोल, चिकित्सा विज्ञान के साथ ही अन्य विषयों की शिक्षा देने में भी अग्रणी होता गया। 8वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी के मध्य भारत पूरी दुनिया में ज्ञान का एक बड़ा केन्द्र बन कर उभरा। उस समय के कुछ विशिष्ट विश्वविद्यालय या शिक्षण केंद्र इस प्रकार हैं -

नालंदा विश्वविद्यालय :

यह भारत में उच्चशिक्षा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विश्वविख्यात केन्द्र था। यहाँ 10,000 छात्रों को पढ़ाने के लिए 2,000 शिक्षक थे। पूरे भारत के साथ ही कोरिया, जापान, चीन, तिब्बत, इंडोनेशिया, फारस तथा तुर्की से भी विद्यार्थी यहां शिक्षा ग्रहण करने आते थे। यहाँ एक समृद्ध पुस्तकालय भी था।

तक्षशिला विश्वविद्यालय :

पुराने शिक्षा केन्द्रो में तक्षशिला विश्वविद्यालय का विशेष स्थान है। इस विश्वविद्यालय में देश-विदेश के हजारों छात्र पढ़ते थे। राजनीति शास्त्र एवं शस्त्रविद्या यहाँ की विशेषज्ञता थी। साथ ही आयुर्वेद, विधिशास्त्र के अध्ययन का विशेष प्रबन्ध किया गया था। चाणक्य, पाणिनि के अलावा, शल्यक जीवक और लुटेरे अंगुलिमाल जैसे लोग तक्षशिला विश्वविद्यालय से ही पढ़े थे।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय :

विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना पाल वंश के राजा धर्म पाल ने की थी। यह विश्वविद्यालय भारत के प्रमुख शिक्षा केन्द्रों में से एक था। तंत्रशास्त्र के ज्ञान के लिए यह मशहूर था।

वल्लभी विश्वविद्यालय :

वल्लभी विश्वविद्यालय सौराष्ट्र (गुजरात) में स्थित था। छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक इस विश्वविद्यालय का ज्ञान-वैभव शीर्ष पर था। धर्म निरपेक्ष विषयों की शिक्षा के केन्द्र रूप में ख्यात था।

इसी प्रकार उदांतपुरी विश्वविद्यालय (मगध यानी वर्तमान बिहार), सोमपुरा विश्वविद्यालय, पुष्पगिरी विश्वविद्यालय (उड़ीसा) अत्यंत प्रसिद्ध केन्द्र थे। इसके अलावा भारत के अन्य भू-भाग जैसे जगददला (पश्चिम बंगाल), नागार्जुनकोंडा (आंध्र प्रदेश), वाराणसी (उत्तर प्रदेश), कांचीपुरम (तमिलनाडु), मणिखेत (कर्नाटक) एवं शारदा पीठ (कश्मीर) में अध्ययन-अध्यापन के प्रमुख केन्द्र प्रतिष्ठित थे।

अपनी इस विशिष्ट शिक्षा-पद्धति के आधार पर ही भारत 'विश्वगुरु' कहा जाता था। शिक्षा को अज्ञानता रूपी अन्धकार को दूर करने का साधन माना जाता था। गुरुकुलों में इस बात पर बल दिया जाता था कि शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य जीवन-यथार्थ से परिचित हो पाता है। शिक्षा की अपनी इसी परिपाटी के आधार पर भारत अपने स्वत्व-बोध और सांस्कृतिक अस्मिता का निर्माण कर सका था। जिसकी प्रसंशा करते हुए प्रख्यात साहित्यकार बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था कि ''जिस जाति से पुरानी कोई जाति जो हजार साल से अधिक की घोर पराधीनता सहकर भी लुप्त नहीं हुई, जीती है, जिसकी पुरानी सभ्यता और विद्या की आलोचना करके विद्वान और बुद्धिमान लोग आज भी मुग्ध होते हैं, जिसने सदियों इस पृथ्वी पर अखंड शासन करके सभ्यता और मनुषत्व का प्रचार किया-वह जाति क्या पीछे हटाने और धूल में मिला देने के योग्य है?... श्रम में, बुद्धि में, विद्या में, काम में, वक्तृता में, सहिष्णुता में किसी बात में इस देश के निवासी संसार में किसी जाति के आदमियों से पीछे रहने वाले नहीं हैं।''[3] इस कथन में बालुमुकुन्द गुप्त ने भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्रशंसा के साथ ही जिस एक तथ्य की ओर संकेत करते हैं वह है 'सभ्यता और मनुष्त्व' का प्रचार। यह संभव हो पाया प्राचीन गुरुकुल पद्धति की शिक्षा-व्यवस्था से। गुरुकुल शिक्षा पद्धति की यह विशेषता रही है कि उसमें धातु, पदार्थ, विज्ञान, अन्तरिक्ष, चिकित्सा आदि अनुशासनों की पढ़ाई तो होती ही थी, साथ ही विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण, दायित्वबोध, क्षमता की वृद्धि एवं उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना के प्रसार पर विशेष बल दिया जाता था। गुरुकुलों में ज्ञान का उद्देश्य रोजगार प्राप्त करना नहीं जीने की कला सीखना था।

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के इस महात्मय के बावजूद भारत में ब्रिटिश-शासन के दौरान पश्चिमी शिक्षा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। जिसे आज हम आधुनिक शिक्षा कहते हैं। आधुनिक शिक्षा को तार्किक, जीवन के लिए आवश्यक, नये ज्ञान को धारण करने में समक्ष एवं नागरिक-बोध के लिए सर्वोत्तम बताया गया। किन्तु समय के साथ आधुनिक शिक्षा का वास्तविक चेहरा सामने आने लगा।

मूलतः आधुनिक शिक्षा पाश्चात्त्य शैक्षिक मानदण्डों का नकल है। जिसमें एक बच्चे के लिए मात्र अक्षर सिखना महत्वपूर्ण है। बच्चा स्कूल में जाये, इसके लिए 'पब्लिक स्कूल' की अवधारणा आयी। और ये 'पब्लिक स्कूल' भी कैसे? होटलों जैसी सुविधा, चमक-दमक, साज-सज्जा आज इन स्कूलों की मुख्य पहचान बन गयी है। आज पब्लिक स्कूलों में खाना, कपड़ा, पुस्तकें सबकुछ दिया जा रहा है। और इसके लिए अभिभावकों को बहुत ज्यादा रूपये खर्च करने पड़ते हैं। धीरे-धीरे ये नये स्कूल 'स्टेटस सिंबल' बन गये हैं।

आज बच्चों पर 'होम वर्क' के नाम पर दबाव बढ़ता ही जा रहा है। बच्चों के वजन से ज्यादा बस्ते का वजन है। अधिक से अधिक अंक पाने की भावना बच्चों में भरी जा रही है। छोटे-छोटे बच्चों के जीवन में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के स्थान पर कुत्सित एवं हिंसक प्रतियोगिता की भावना भरी जा रही है। व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिल रहा है। स्वयं के हित को सबसे बड़ा मूल्य और इसे किसी भी शर्त पर पूरा करना जीवन का सबसे बड़ा प्रयोजन बन गया है। व्यवसायिक शिक्षा को आज सवार्धिक महत्व प्राप्त है। यहाँ व्यावसायिक शिक्षा का विरोध नहीं किया जा रहा है, बल्कि यह बताने का प्रयास किया जा रहा है कि मनुष्य पहले है, उसका व्यवसाय बाद में। आधुनिक शिक्षा के द्वारा प्रस्तावित लाभ के मानदण्डों के कारण गणित, विज्ञान और कम्प्यूटर जैसे विषयों के आगे मानविकी, सामाज विज्ञान और साहित्य जैसे अनुशासनों का महत्व कम होता जा रहा है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने समाज को अर्थ केन्द्रित और मनुष्य को मशीन बना दिया। कमाओ-खाओ की संस्कृति ने समाज, देश और पर्यावरण के मुद्‌दें को पीछे छोड़ दिया। स्वार्थवृत्ति एवं उदरपूर्ति मुख्य उद्‌देश्य बन गये। जिसके कारण भारत का समतामूलक सामाजिक ताना-बाना टूटने लगा। आधुनिक शिक्षा भारतीय संस्कार और प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसका मूल उद्‌देश्य ही व्यक्ति के स्वार्थ केन्द्रित है। जबकि आदर्श शिक्षा कैसी होनी चाहिए इसके लिए राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में कहते हैं कि ''जब मैंने और आपने अपनी इन्द्रियों को बस में कर लिया हो, जब हमने नीति की नींव मजबूत बना ली हो, तब अगर हमें अक्षर-ज्ञान पाने की इच्छा हो, तो उसे पाकर हम उसका अच्छा उपयोग कर सकते हैं। वह शिक्षा आभूषण के रूप में अच्छी लग सकती है। लेकिन अक्षर-ज्ञान का अगर आभूषण के तौर पर ही उपयोग हो, तो ऐसी शिक्षा को लाजिमी करने की हमें जरूरत नहीं। हमारे पुराने स्कूल ही काफी हैं। वहाँ नीति को पहला स्थान दिया जाता है। वह सच्ची प्राथमिक शिक्षा है। उस पर हम जो इमारत खड़ी करेंगे वह टिक सकेगी।''[4] यहाँ हम देख सकते हैं कि गाँधी जी केवल अक्षर ज्ञान कराने वाली शिक्षा को तब तक महत्वपूर्ण नहीं मानते जब तक हम अपनी इन्द्रियों को अपने बस में नहीं कर लेते। वे हमारे पुराने स्कूलों को महत्वपूर्ण मानते हैं। क्योंकि उनमें नीति को पहला स्थान दिया जाता था। 'नीति' जिसे पब्लिक स्कूलों की वित्त पोषित शिक्षा ने भूला दिया है। 'हिन्द स्वराज' में ही गाँधीजी ने एक अंग्रेज विद्वान हक्सली को उद्धृत किया है। जिसमें हक्सली कहते हैं कि ''उस आदमी ने अच्छी शिक्षा पाई है। जिसके शरीर को ऐसी आदत डाली गई है कि वह उसके बस में रहता है, जिसका शरीर चैन से और आसानी से सौंपा हुआ काम करता है। उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसकी बुद्धि, शांत और न्यायदर्शी है। उसने सच्ची शिक्षा पाई है, जिसका मन कुदरती कानूनों से भरा है और जिसकी इन्द्रियाँ उसके बस में हैं, जिसके मन में भावनायें बिलकुल शुद्ध हैं, जिसे नीच कामों से नफरत है और जो दूसरों को अपने जैसा मानता है। ऐसा आदमी ही सच्चा शिक्षित माना जायेगा, क्योंकि वह कुदरत के कानून के मुताबिक चलता है। कुदरत उसका अच्छा उपयोग करेगी और वह कुदरत का अच्छा उपयोग करेगा।''[5] अर्थात असली शिक्षा वही है जिससे बुद्धि शांत होती है, व्यक्ति न्यायदर्शी बनता है। असली शिक्षा वही है जो मनुष्य को प्रकृति के विधान के प्रति आस्थावान बनाती है, जो इन्द्रियों को अपने बस में रखने की प्रेरणा दे। इसमें एक खास बात यह है कि असली शिक्षा मनुष्य में प्रकृति के स्वभाव के प्रति सम्मान का भाव भरे। आधुनिक शिक्षा और उसके द्वारा संचालित आधुनिक जीवन-शैली ने न सिर्फ प्रकृति की उपेक्षा की बल्कि खतरनाक ढ़ंग से प्रकृति को नुकसान पहुँचाया। आधुनिक पूँजीवादी अर्थशास्त्र और व्यावसायिकता ने प्राकृतिक संसाधनों, जल, जंगल और जमीन का अत्यधिक दोहन किया। जिसका परिणाम हमें सूखा, बाढ़, भूकम्प, सुनामी जैसे आपदाओं के रूप में मिल रहा है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ने विद्यार्थियों के भीतर सूचनाओं के संग्रह को ही ज्ञान का स्थानापन्न बना दिया। ''विद्वान 'जानकारी' और ज्ञान में भेद करते हैं। तथ्यों की चाहे कितनी भी जानकारी क्यों न हो जाए, वह हमें न तो शिक्षित न सद्‌गुणी बना सकती।''[6] किसी भी स्थिति में अव्वल रहने की अदम्य भावना के कारण विद्यार्थी अवसाद में आकर आत्महत्या कर ले रहे हैं। दूसरे यह कि आज विद्यार्थियों के लिए भिन्न-भिन्न अनुशासनों में जिस तरह के पाठ्‌यक्रम पढ़ाये जा रहे हैं, उसका उनके जीवन में कोई उपयोग भी है इसमें संदेह है। जबकि गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के पाठ्‌यक्रम जीवन से संबंधित होते थे। सबसे बड़ी बात कि गुरुकुलों में दी जाने वाली शिक्षा विद्यार्थियों को व्यक्तिवादी नहीं एक प्रखर और मूल्यचेता सामाजिक नागरिक में परिवर्तित कर देती थी। इसका उदाहरण गुरुकुल में शिक्षा समाप्ति के बाद गुरु द्वारा अपने विद्यार्थी को दी गयी सीख है।

''छात्र को विदा करते समय अपने उद्‌बोधन में छात्र को संबोधित करते हुए अपने शिष्य को पढ़ाई पूरी होने के बाद घर लौटने की इजाजत देता है। ... गृहस्थ जीवन और पितृत्व की निरंतरता को अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य के तौर पर अनुमोदित करता है। संस्कृति की निरंतरता, घरेलू और सामाजिक जीवन के कर्तव्यों के रूप में भगवान, पिता, माता, शिक्षक और देवताओं के रूप में मेहमानों का सम्मान करने के लिए, वरिष्ठ पदाधिकारियों को सम्मानित करने के लिए उचित भावना, खुशी और नम्रता के साथ भय के त्याग के लिए तत्पर होना चाहिए।''[7]

समाज में शिक्षा के महत्व पर संतोष कुमार दास ने महत्वपूर्ण टिप्पणी की है, उसका भाव सारांश है कि ''वास्तव में, समाज और शिक्षा का संबंध बेहद महत्त्वपूर्ण है। यह राष्ट्र के कुशल पुरुषों और उच्च्य चरित्र की महिलाओं को राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में काम करने के लिए अनमोल सीख देता है। इस सीख को मानने वाले लोग विश्व की दृष्टि में राष्ट्र के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करते हैं। जो पीढ़ियों तक, जो अब तक अजन्मा है; पर भी लागू होता है। विज्ञान उन खोजों को महत्त्व देता है जो मानव को ज्ञान से जोड़ते हैं; मानव जीवन की रक्षा, उत्थान और मनुष्य के जीवन में खुशी की स्थिति को बहाल करने के लिए मनुष्य को शक्ति प्रदान करते हैं। शिक्षा द्वारा मनुष्य की आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक क्षमता का विकास तथा शरीर के स्वभाव को स्थापित किया जाता है। शिक्षा द्वारा गरीबी का उन्मूलन किया जा सकता हैं, समाज में बर्बरता के स्थान पर बन्धुत्व को प्रश्रय दिया जा सकता है। अज्ञानी व्यक्ति अपराध से ग्रस्त हो सकता है और अंतर्राष्ट्रीय एवं सामाजिक शांति को सबसे अधिक खतरा युद्ध और वर्गसंघर्ष से है।''[8] इस टिप्पणी में संतोष कुमार दास ने शिक्षा की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी इसकी भूमिका को रेखांकित किया है।

वर्तमान समय में आधुनिक शिक्षा की लगभग सभी प्रणालियों ने ज्ञान का वृहद् अर्थ लिया, किन्तु वह व्यवहारिक धरातल पर संभव नहीं हो सका। आधुनिक शिक्षा द्वारा उत्पन्न समस्याओं के जाल से मुक्ति के लिए गुरुकुल शिक्षा व्यवस्था को अपनाना एक बेहतर विकल्प है। गुरुकुल शिक्षा व्यवस्था जो एक श्रेष्ठ प्रणाली के रूप में भारत में संचालित थी; जिसे ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों के तहत जारी की गयी पाश्चात्य शिक्षा ने धुमिल कर दिया। आज ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो यह कहते हैं कि 'आज के परिवेश में गुरुकुल शिक्षा पद्धति सफल नहीं हो सकती।' किन्तु यहाँ देखना होगा कि किसी भी पद्धति के सफलता और असफलता का निर्धारण उसके प्रयोग के बाद ही हो सकता है। स्वतंत्रता के बाद की सरकारों ने कभी भी गुरुकुल शिक्षा पद्धति को वह महत्व नहीं दिया, जिसकी हकदार वह थी। जबकि व्यक्तिगत और निजी स्तर पर कई स्थानों अनेक गुरुकुलों की स्थापना की गई जो आज भी समाज के द्वारा उपलब्ध कराये गये अल्प संसाधनों के बीच सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं। मुख्य रूप से ये आश्रम प्राच्य संस्कृत ग्रन्थों के ही अध्ययन अध्यापन से जुड़े हुए हैं किन्तु यदि नवीन ज्ञान और विज्ञान के अधुनातन पाठ्यक्रमों को भी इनमें सम्मिलित कर लिया जाय तो गुरुकुल शिक्षा के अग्रणी संस्थान बन सकते हैं। गुरुकुलों ने विद्यार्थी के सम्पूर्ण विकास (शारीरिक, मानसिक और आत्मिक) के साथ-साथ उन्हें जीने की कला भी सिखा रहे हैं। स्वामी श्रद्धानन्द की कल्पना का संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने अपने आरम्भिक काल से ही दुनिया भर में अपनी विशिष्ट शिक्षा का कीर्ति पताका फहरा दिया था। आधुनिक समय में मेरठ, अमरोहा जैसे शहरों में लड़कों-लड़कियों के गुरुकुल बिना किसी सरकारी प्रश्रय के सफलतापूर्वक राष्ट्र की सेवा में लगे हुए हैं। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के उद्‌देश्य पर टिप्पणी करते हुए राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है कि ''अनादिकाल से भारत में शिक्षा स्वयं के लिए नहीं अपितु धर्म के लिए प्राप्त की जाती थी, यह मुक्ति और आत्मबोध का साधन थी और जीवन का गहन लक्ष्य मुक्ति था।''[9] मुखर्जी यहाँ भारतीय शिक्षा-प्रणाली के महान उद्‌देश्यों को रेखांकित कर रहे हैं। गुरूकुल की शिक्षा मुक्ति और

आत्मबोध से जुड़ी हुई थी। यहाँ मुक्ति का अर्थ सभी प्रकार के लगावों, वासनाओं से छुटकारा पाना है और आत्मबोध का अभिप्राय 'स्व' का संज्ञान है। 'स्व' का संधान अर्थात् अपने अस्तित्व की तलाश। गुरुकुल स्वदेशी शिक्षा पद्धति है। भारतीय शिक्षा और ज्ञान की इस विशिष्ट स्वदेशी चिन्तन धारा के सन्दर्भ में डब्ल्यू. आई. थॉमस ने लिखा है कि ''ऐसा कोई भी देश नहीं, जहाँ ज्ञान के प्रति अतीत काल से इतना प्रेम हो या जहाँ ज्ञान का इतना स्थायी और शक्तिशाली प्रभाव हो। वैदिक काल में साधारण कवियों से लेकर आजकल के अर्थनीतिज्ञों तक शिक्षकों एवं विद्वानों का एक अटूट क्रम भारत में मिलता है।''[10]

आज के समय में जब समाज और राष्ट्र युवाओं की मूल्यहीनता, संवेदनशून्यता और स्वार्थवृत्ति के साथ ही अनेक प्रकार की समस्याओं से जूझ रहे हैं, इस स्थिति में गुरुकुल शिक्षा-पद्धति एक श्रेष्ठ विकल्प के रूप में कार्य कर सकती है। क्योंकि इसमें छात्रों और उनके अभिभावकों पर अध्ययन के लिए शुल्क का दबाव नही होता। गुरुकुल पद्धति में शिक्षा का भार न तो विद्यार्थी पर होता था और न ही राज्य पर। इसलिए शिक्षा राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त थी, इसीलिए सवायत्त होती थी। यह सत्य है कि जब शिक्षा राज्य-पोषित होगी तब उसमें राज्य की नीतियाँ और रूचियाँ भी सम्मिलित होंगी। पाठ्यक्रमों के निर्धारण में राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप होगा। शिक्षा को इससे मुक्त करने के लिए गुरुकुल की शिक्षा-पद्धति को अपनाना ही श्रेयस्कर होगा। आधुनिक समय में शिक्षा अत्यंत महँगी है। आज शिक्षा को उत्पाद और विद्यार्थी को उपभोक्ता बना दिया गया है। जबकि गुरुकुलों में शिक्षा को पुण्य कर्म और विद्यार्थी को विवेकशील मनुष्य की तरह बरता जाता था। गुरुकुलों में मातृभाषा में शिक्षा दी जाती थी, जो उनकी सामर्थ्य थी। गाँधी जी भी मातृभाषा में ही प्राथमिक शिक्षा देने की बात करते हैं। आधुनिक शिक्षा-पद्धति में तथ्य को रटने पर बल दिया जाता है जबकि गुरुकुलों में सीखने पर बल दिया जाता था। गुरुकुल में विद्यार्थी को एक श्रेष्ठ नागरिक के साथ-साथ एक बेहतर मनुष्य बनने के लिए आवश्यक संसाधन और प्रेरणा दी जाती थी। वहाँ समाज के सभी वर्गों के लिए शिक्षा की व्यवस्था थी। समानता गुरुकुल के स्थापत्य के मूल में थी। राजपुत्र या अन्य श्रेष्ठि वर्गों से आये हुए विद्यार्थियों को भी दूसरे विद्यार्थियों के साथ ही एक समान सुविधा और वातावरण में रहना होता था। गुरुकुलों में शिक्षा के साथ श्रम को अनिवार्यतः जोड़ा गया था। गाँधीजी ने भी शिक्षा के साथ श्रम को अनिवार्यतः जोड़ने पर बल दिया था। इससे विद्यार्थियों के मन में श्रम और श्रम में लगे हुए लोगों के प्रति संवेदनशीलता का भाव उत्पन्न होगा।[11] जबकि आज की आधुनिक शिक्षा से इस संवेदनशीलता की उम्मीद करना बेमानी है। प्रख्यात चिंतक नंदकिशोर आचार्य आधुनिक शिक्षा प्रणाली के स्वरूप पर टिप्पणी करते कहते हुए कहते हैं कि ''हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पाठ्यक्रम तय करने, कक्षा में उसका शिक्षण करने और अंत में एक परीक्षा के माध्यम से उस शिक्षण की सूचनात्मक जाँच करने के तीन चरणों में विभाजित हैं और इन तीनों चरणों का आपस में कोई तालमेल नहीं है। इस सारी प्रक्रिया में विद्यार्थी की रुचि, प्रतिभा, परिस्थिति और आवश्यकता पर कोई विचार नहीं किया जाता है। इस प्रक्रिया का सबसे दिलचस्प लेकिन दुखद पक्ष यह है कि उपरोक्त तीनों प्रक्रियाओं से अलग एक प्रशासक या नौकरशाह वर्ग इन सारी गतिविधियों को निर्देशित व संचालित करता है जो या तो राज्य का प्रतिनिधि होता है या फिर पूँजीपति या बाजार का।''[12] नन्दकिशोर आचार्य की यह टिप्पणी कठोर किन्तु सत्य है। जो वर्तमान शिक्षा-पद्धति का वास्तविक चेहरा दिखाती है।

वर्तमान समय की शिक्षा-प्रणाली पूरी तरह से बाजार केन्द्रित है। यह विद्यार्थियों को बाजार का 'एजेन्ट' बना रही है। व्यक्तिगत लाभ और व्यक्तिगत सफलता इसका मूल उद्देश्य है। जबकि गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली भारतीय शिक्षा का 'गोल्डन ट्री' है, जिसके नीचे हजारों साल से भारतीय ज्ञान-गरिमा फल-फूल

रही थी। हमें यह याद रखना होगा कि भारतीय ज्ञान के उसी 'गोल्डन ट्री' को मैकॉले ने नष्ट किया था। क्योंकि साम्राज्यवादी अंग्रेज जानते थे कि भारत का स्वत्व-बोध ज्ञान की उसकी अपनी संस्कृति में निहीत है और उसे नष्ट किये बगैर भारत को गुलाम नहीं बनाया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आज यदि हमारा उद्देश्य देश की युवा-शक्ति को स्वालम्बी और संवेदनशील बनाना हैं, उन्हें श्रम की गरिमा से परिचित कराना हैं, रोजगार के नये अवसरों से जोड़ना हैं, संवेदनशील नागरिक बनाना हैं, जीवनपयोगी ज्ञान उपलब्ध कराना है, अवसाद, हिंसा और स्वार्थवृति से मुक्त रखना है, सामुदायिकता और सहकार की भावना का विकास करना है, स्वायत्त शिक्षा देना है, ऊँच-नीच, जाति-वर्ण के भेद से मुक्त करना है, सस्ती और सर्वसुलभ शिक्षा प्रदान करना है, स्वदेशी और स्थानीय जरूरतों की पूर्ति करने वाली शिक्षा देना है, विचार करना सिखाना है, भारतीय संस्कृति-परम्परा के प्रति अनुराग का भाव भरना है, दायित्व-बोध और राष्ट्रप्रेम की भावना का प्रसार करना है तो हमें निर्णायक ढ़ंग से गुरुकुल शिक्षा पद्धति को एक बार पुनः अपनाना पड़ेगा। क्योंकि आज की लाभ-केन्द्रित शिक्षा व्यवस्था ने हिंसा और असत्य को ही बढ़ावा दिया है। जिसके कारण हमारा देश अपना मूल स्वभाव भूलता जा रहा है। ऐसे में हमें और हमारे देश को अपनी स्वभाविक लय को प्राप्त करने के लिए गुरुकुलों में वापस आना पड़ेगा।

कुलपति
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. *अलतेकर, प्रो अनंत सदाशिव, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 24*
2. *प्रसाद, कालिका, बृहत हिन्दी कोश, वाराणसी भारत, ज्ञानमंडल लिमिटेड, पृ. 147*
3. *गुप्त बालमुकुन्द, भारतमित्र, 21 जनवरी, 1905*
4. *गाँधीजी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रेस मंदिर, अहमदाबाद, 2009, पृ. 72*
5. *गाँधीजी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रेस मंदिर, अहमदाबाद, 2009, पृ. 70*
6. *रिपोर्ट ऑफ यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन, (नयी दिल्ली : भारत सरकार 1963) भाग-1, पृ. 35*
7. *दास, संतोष कुमार, द एजुकेशनल सिस्टम ऑफ द एसिएंट हिन्दूज, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1986, पृ. 430*
8. *दास, संतोष कुमार, द एजुकेशनल सिस्टम ऑफ द एसिएंट हिन्दूज़, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1986, पृ. 430*
9. *मुखर्जी, राधा कुमुद, एसिएंट इंडियन एज्युकेशन, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन, 1947, (प्रोलॉग), xxi*
10. *थॉमस, डब्ल्यू. आई. द हिस्ट्री एण्ड प्रास्पेक्टर ऑफ ब्रिटिश एज्युकेशन इन इण्डिया (बुनियादी तालीम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृ. 136 से साभार)*
11. *शारीरिक श्रम को शिक्षा से दूर रखने के कारण हम ग्रामीण उद्योग-धंधों को हलका समझने के अभ्यस्त हों गए हैं। शारीरिक श्रम को कुछ नीचे दर्जे का काम समझा जाने लगा और वर्णाश्रम की भीषण विकृति के कारण हम लोग कतैयों, जुलाहों, बढ़ई और मोचियों को नीची जाति का सर्वहारा मानने लगे। (गाँधीजी, यंग इंडिया, 29.01.1925)*
12. *बुनियादी तालीम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृ. 192 से साभार*

सूफी कवि जायसी और उनका सौन्दर्य-बोध

विजय बहादुर सिंह

इस्लामों देशों में सूफी काव्य और दर्शन को यों तो वैश्विक सन्दर्भ में रहस्यवाद ही कहा गया है तब भी रहस्यबाद की तरह उसे इस्लाम में ठीक वैसी ही मान्यता प्राप्त नहीं हुई है। हिन्दू समाज में तो रहस्यवादियों को बहुत ऊँची निगाह से देखा जाता है। कबीर दास इसके जीते जागते उदाहरण हैं। बाबा फरीद आदि भी। इस्लाम की हदों से बाहर जाकर मंसूर जैसे 'अनल हक' कहने वालों को प्राण दण्ड भी दिया गया है। सच तो यह कि खुदा या अल्ला—अपने पैगम्बरों से भी अलग है जब कि हिन्दू रहस्यवाद में 'अहं ब्रह्मास्मि' के अद्वैत के सच को उपनिषद काल से लेकर मानसिक औदात्य के बल पर रहस्यानुभूति को काव्यानुभूति बनाने वाले छायावादियों को भी अत्यंत गौरव प्राप्त है। तब प्रसाद जी ठीक ही कहते हैं— ''शामी धर्मों के भीतर अद्वैत कल्पना दुर्लभ नहीं, त्याज्य भी है।''[1] मंसूर ने यही गलती की थी कि उसने अद्वैत भाव स्थापित करने का साहस किया। तभी तो उसे प्राणदंड मिला।

पर यह तो बेखटके कहा जा सकता है कि सूफीवाद इस्लामी दर्शन और चिंतन का सबसे दिव्य, उदात्त और सह्य संस्करण है। ऐसा न होता तो इस्लाम का जो रूप और विस्तार आज हम भारत में देख रहे हैं, वह इतना तो कभी भी संभव न होता।

पता नहीं यह मात्र किंवदन्ती है या फिर ऐतिहासिक सच कि कई एक युद्धों की तरह इस बार भी मुहम्मद गोरी जब अपनी सेना सहित निराश हो लौटा चला जा रहा था तभी उधर से एक फकीर नुमा मामूली-सा आदमी हिन्दुस्तान की तरफ बगैर किसी हथियार के चला आ रहा था। उस मामूली से दिखने वाले आदमी को पास बुलवा कर जब उसने पूछा कि मैं तो इतनी सेना सहित जब इस देश को फतह करने में सफल नहीं हो पा रहा तब तुम इधर खाली हाथ कैसे चले जा रहे हो? तब उस अनजान से शख़्स ने सुल्तान गौरी से कहा कि तुम तलवार लेकर गये थे पर मेरे हाथ तो सिर्फ कुरान है और उसमें भाई-चारे की महक लिए प्रेम का संदेश। कहते हैं ये शख़्स कोई और नहीं ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती थे। वह ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती जिनकी मजार के प्रकाश से अजमेर अजमेर बना हुआ है। यों ही उसे दरगाह शरीफ नहीं कहते।

फारस से आकर लाहौर में आ बसने वाले सूफी अलहुज्वीरी ने लिखा है— ''वह जिसने सर्वस्व त्याग दिया है, निरन्तर अपने प्रिय में डूबा हुआ है और जिसका समूचा अस्तित्व दिव्य प्रेम के प्रकाश से पवित्र हो चुका है, वही तो सूफी है।''[2]

मैंने पहले ही कहा कि इस्लाम के भारत में प्रचार-प्रसार में सूफी संतों का योगदान बहुत बड़ा है। उनके पास 'तसव्वुफ' की आध्यात्मिक अनुभूति तो थी ही, प्रेम का संदेश भी था। इसलिए आचार्य शुक्ल की यह अवधारणा बहुत तर्क पूर्ण अब नहीं कही जा सकती कि भक्ति आन्दोलन मुसलमानी सत्ता के अत्याचारों के

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 33-41*

चलते ही यहाँ उदित हुआ। शुक्ल जी यह जाने क्यों नहीं कहते कि वर्ण-व्यवस्था के अत्याचारों और जाति-व्यवस्थाओं की कट्टरताओं के चलते पिछड़ी और दलित जातियाँ इस्लाम के प्रति आकृष्ट हुईं। निस्सन्देह इसमें कुछ योगदान इस्लामी रहस्यवाद से प्रेरित उन उच्चवर्णों का भी था पर कुछेक अवश्य ही तलवारों से भयभीत होकर भी उधर गये। पिछड़ी और दलित जातियाँ पहले से अस्पृश्यता, अपमान-बोध और उच्चवर्ण का दलित-समूहों के प्रति नफरत का भाव भी उन्हें इस्लाम की ओर ले गया। यों ही भक्ति आन्दोलन का नारा नहीं बना-- जात-पाँत पूछै नहीं कोई/हरि को भजै सो हरि का होई।

जात-पाँत का यह भेद कैसा था, कितना अपमानजनक था, इसे हम 'महाभारत' में एकलव्य और कर्ण के चरित्रों के प्रति किए गए धोखों, अपमानों और दुर्व्यवहारों से समझ सकते हैं। मध्यकाल के समाज में तो यह अपने चरम पतन तक जा पहुँचा था। दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा—'भारत वर्ष में राष्ट्रीयता की अनुभूति में जो अनेक बाधाएँ थीं, उनमें सर्वप्रमुख यही जातिवाद था'। उनके अनुसार बौद्ध और ब्राह्मण कभी भी एकमत नहीं हो सके बल्कि अपने-अपने मौकों पर दोनों इसी कोशिश में रहते कि मुसलमानों के मार्फत एक दूसरे का सफाया करवा दें।

भक्ति आन्दोलन के पीछे ये सब भी कारण थे। फिर सूफी संत किसी मायने में हिन्दू संतों की तुलना में कम नहीं थे। उनकी जीवन-शैली, त्याग-तपस्यामय जीवन और मानव-मानव के बीच भाई-चारे, प्रेम और अभेद के सद्विचारों ने भी हिन्दू पिछड़ों, दलितों और कतिपय ऊँची जातियों की भी अपनी ओर खींचा। चरित्र में उदार रहकर भी लोक-व्यवहार में विभेद, श्रेष्ठता बोध और कट्टरता ने हिन्दू समाज का बहुत बड़ा नुकसान किया। दिनकर जी ने 'वीर-विनोद' (भाग दो, खण्ड एक) से एक अंश यह भी उद्धृत किया है जिसमें अकबर राजपूत राजाओं से यह कह रहा है कि हम अब दूर देश में जाकर तुर्क राजाओं से तो अपना सामाजिक रिश्ता नहीं रख सकते, इसलिए हमारे और आपके बीच रोटी-बेटी का रिश्ता भी प्रारम्भ होना चाहिए। यह वह बादशाह कह रहा है जिसके पुरखों ने इस देश को अपने पौरुष से जीता और जिसके दरबार में टोडरमल और बीरबल जैसे हिन्दू बौद्धिक सुप्रतिष्ठित थे। अकबर के इस प्रस्ताव पर राजपूतों ने अपनी बेटियाँ देना तो मंजूर किया पर अपने घरों में उनकी बेटियों का होना मंजूर नहीं किया। ये वही राजपूत राजा थे जो अकबर से लेकर औरंगजेब तक के साथ स्वामीभक्ति दिखाई और ऊँचे ओहदे सम्हाले। रही बात अकेले राणा प्रताप की तो उनके सगे छोटे भाई अकबर के यहाँ नौकरी में थे। फिर अकबर राजपूतों से चाहता कितना था? इतिहास में जाएँ तो कहना पड़ेगा कि उसने तो किसी भी राजपूत राजा की सत्ता नहीं छीनी, बल्कि एक बड़े साम्राज्य को बनाने के लिए सिर्फ प्रभुसत्ता की माँग उनसे की। यह तो अन्य हिन्दू राजाओं के साथ चाणक्य और चन्द्रगुप्त भी ईसापूर्व की शताब्दी में कर चुके थे। राज्य को साम्राज्य बनाने की यह कामना और कोशिश तो प्रत्येक समर्थ राजा करेगा ही।

सवाल यह भी है कि सम्पूर्ण राजपूताना कभी एक क्यों नहीं हो सका? फिर रजनीति केवल देह-पौरुष तो नहीं है। उसे साधने के लिए साम-दाम-दंड-भेद सभी प्रकार की नीतियों की जरूरत है। तब यह रास्ता राजपूत क्यों नहीं अपना सके? अलग-अलग रहकर मुगल दरबारों में सर क्यों झुकाते रहें? सर तो झुकता रहा नाक फिर भी ऊँची रही।

भारत का समाज अपने इसी कोढ़ के चलते गुलाम हुआ और होता चला गया। आज भी हम इस रोग से मुक्त नहीं हो पाए हैं। इस पृष्ठभूमि पर अगर हम भारत पर इस्लाम की फतह को देखें तो कारणों को समझने में मदद मिलेगी।

आजादी के सत्तर साल बाद भारत के समाज की स्थिति और भी भयावह है। हमारी राष्ट्रीयता की भावना को आज सबसे बड़ा खतरा जातिवादी राजनीति से तो है ही, संकीर्ण साम्प्रदायिक, अतिवादी और

कट्टरतावादी राजनीति से भी है। धार्मिक विद्वेष के चलते समाजों से मन आपस में टूट-बिखर रहे हैं और सत्ताखोर राजनीति इस आग को ठण्डा करने के बजाय उसमें घी डालने पर उतारू है। हमारी राष्ट्रीयता और सामाजिक संस्कृति को इससे बड़ा खतरा है।

इस सन्दर्भ में अगर दो एक आधुनिक भारतीय विचारकों को देखें तो वे वेदनामय हृदय से यह कहते हुए मिलेंगे कि ''हमें अपने अतीत का अध्ययन मिथकों को स्थापित करने या किंवदंतियों व परीकथाओं को यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करने के लिए नहीं, बल्कि गुजरे हुए लोगों, बीते हुए विवादों व बरपाए गए जुल्मों से सीख कर भविष्य की चुनौतियों के लिए तैयार होने के लिए करना चाहिए। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज के समय में भारत में कई लोग राष्ट्रप्रेम और धार्मिक शुद्धता के नाम पर देश के अतीत के बारे में कई गलत तसवीरों और कथाओं की वकालत करते हुए उन्हें स्थापित करते हैं। .... जबकि भारत की जो मूल आत्मा है, उनमें सबसे अहम है बहुलतावादी लोकतंत्र के प्रति समर्पण।'[3] उनके अनुसार यही हमारे संविधान की मूल मंशा है। न कि सत्तास्वार्थ के लिए अलग-अलग धर्म और जाति समूहों को बाँट कर अपनी घिनौनी रोटियाँ सेंकना। चाहिए जबकि कुछ और।

एक और बड़ी दुर्घटना इस बीच जो घटी है वह जन-प्रतिनिधियों के जन-समर्पण के बजाय अपने-अपने दलों और दलीय सत्ता-स्वार्थों के प्रति अंध-समर्पण है। शासक और उद्योग-व्यापार वालों की एक राजनीति ही नहीं, एक जैसे ही स्वार्थ-संबंध बन चुके हैं तब बुद्धिजीवियों और लेखकों के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वे उच्चतम सामाजिक मूल्यों की न केवल चिंता करें बल्कि उनके प्रचार-प्रसार और स्थापन के लिए सांस्कृतिक कार्यकर्ता और अग्रदूत की तरह सामूहिकता में आगे आएँ। भक्ति आन्दोलन अगर कुछ था तो यही था। इसी रूप में वह अपने समय का क्रांतिकारी आन्दोलन था।

मुझे मुक्तिबोध का यह सोचना ठीक लगता है कि ''भक्तिकाल की मूलभावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है। .... किन्तु पंडित शुक्ल ने इन कष्टों के, मुस्लिम विरोधी और हिन्दू राजसत्ता के जो अभिप्राय निकाले हैं, वे उचित नहीं मालूम होते।''[4]

आज जब हम निर्गुणियों और सगुणियों की बात करेंगे तब स्वभावतः हमारे अपने समय के सवालों को भी ध्यान में रखना होगा। यह तो निर्विवाद है कि शुक्ल जी के क्षात्रधर्म की सारी कुंजी तुलसी के 'मानस' में है। वर्ण-व्यवस्था का सौन्दर्य शायद हो भी पर निर्गुणियों के यहाँ जो नव-सामाजिक सम्मिलन है, दो भिन्न जातियों की एकता का संदेश है, प्रेम तत्त्व के आधार पर जिस मानव-गरिमा का वैभव है, वह हमारे इस बीमार समय के लिए सचमुच जहर-मोहरे की तरह है। व्यावहारिक जीवन में भी सगुण-पंथ सामान्य आबादी के लिए चाहे जितना सुविधाप्रद हो किन्तु आपनी व्यापकता और संकीर्ण सामाजिक जीवन-व्यवहारों का अतिक्रमण कर जाने वाले निर्गुण की सत्ता धर्म की संकीर्ण साम्प्रदायिक सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। यहाँ पहुँच कर कहना आसान हो उठता है कि निर्गुण के चलते ही हिन्दू-मुसलमान दोनों ही कबीर और बाबा फरीद तक आए। सगुण की सीमाओं के चलते सूर और तुलसी उस सीमा तक पहुँच नहीं ही सके। हाँ! अपने दायरे में ये बड़े प्रतिभा-धर थे। इनकी साधना तो शायद अपनी सिद्धियों तक भी पहुँची हो पर इनका काव्य तो लोकजीवन की सामान्य चेतना के लिए पारसमणि का ही काम करता रहा। विनय और समर्पण की पराकाष्ठा ने इन्हें जो गरिमा प्रदान की वह लोक सामान्य से अभिजन-समाजों तक अपना प्रकाश फैलाता रहा।

जायसी की स्थिति इन तीनों से भिन्न है। कबीर दास के बारे में तो हम आज भी बहस-तलब हैं कि वे कितने हिन्दू और कितने जुलाहे थे। प्रचलित किंवदंतियाँ तो यही हैं कि कबीर तो विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से जन्म लेकर नीरू नामक जुलाहे द्वारा पाले-पोसे और प्रशिक्षित हुए। वे बनारसी साड़ी बुनते थे या फिर चादरें और गमछे, कहा नहीं जा सकता। चादरों का जिक्र तो वे झीनी झीनी बीनी चदरिया में खुद ही करते हैं।

जायसी के एक शोधकर्ता डॉ. कन्हैया सिंह के अनुसार जायसी अवध के रायबरेली जिले के अधीन जायस[5] नामक स्थान के एक सामान्य गृहस्थ किसान थे। तब भी कबीर की तुलना में उनका शास्त्रज्ञान ज्यादा था। कबीर की अक्खड़ता, विधि-विरोध आदि की तुलना में जायसी, बकौल आचार्य शुक्ल, 'विधि पर' पूरी आस्था रखते थे। वेद, पुराण और कुरान आदि को लोक-कल्याण मार्ग प्रतिपादित करने वाले वचन मानते थे।[6]

राघव पूज जाखिनी, दुइज देखा एसि साँझ
वेद पंथ जे नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ
झूठ बोल फिर रहै न साँचा।
पंडित सोई जो वेदमत बाँचा।।
वेद वचन मुख साँच जो कहा।
सो जुग जुग अहथिर होइ रहा।।

शुक्ल जी का जायसी को लेकर यह अभिमत, केवल जायसी नहीं, स्वयं उनकी अपनी लोक-दृष्टि की भी पहचान कराता है। स्थापित एवं सुप्रतिष्ठित अभिजन-पंडितों के प्रति हमें क्या रवैया अपनाना चाहिए इसका संकेत भी वे कर ही रहे हैं। पर इस बात के सन्दर्भ में मुझे 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा मुक्तिबोध का वाक्य याद आ रहा—कि ऐसा नहीं कि हमारे मन में श्रद्धा नहीं है, सच तो यह कि हमारे बुजुर्ग ही श्रद्धेय नहीं रहे। परम्परा की दुर्व्याख्याएँ और आचरणों का दो मुँहापन उच्चतम मानव-मूल्यों के प्रति भी हमारी अनास्था जगाता है। संस्कृति के इतिहास में यह बार-बार होता रहा है। कबीर अगर अपने कई वचनों में आक्रामक हो उठे थे तो कारण यही थे।

जायसी का जो काव्य धरोहर के रूप में हमारे पास है उसकी लिपि फारसी, जुबान अवधी, दर्शन सूफी और आख्यान हिन्दू राजशाही परिवार की एक प्रेम-कथा है। फारसी तथा अन्य सह-भाषाओं में जो सूफी कविता लिखी गई है वह तो बेहद कर्म-काण्ड-निंदक और विरोधी हैं। उदाहरण के लिए—ईसवी एक हजार सत्तावन में दिवंगत महान सूफी दार्शनिक कवि आलाम अर्री की ये कुछ अनूदित पंक्तियाँ—

मसजिद में इबादत करना छोड़ो और
और आलस्यपूर्ण नमाज से
मेमने को हलाल करने से बचो
क्योंकि नियति नींद का पात्र या प्रायश्चित का पात्र लाएगी
जिसका तुम पान करोगे
....
अल्लाह को छोड़कर कोई ईश्वर नहीं है यह सच है
न ही कोई पैगम्बर है, सिवा मनुष्य के मस्तिष्क के
जो अंधकार से होकर भटकता है
उस स्वर्ग को पीने के लिए जो मुझमें ओर तुझमें है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ. ताराचंद ने इसे 'दीवान ऑफ अबुलआरा' से लिया है। उनके अनुसार यह अनुवाद अनुवादक हेनरी बेरलीन का है। अनुवादक बेरलीन के हवाले से वे यह भी कहते हैं कि—'वह केवल उस जमाने की राजनीति और धर्म से ही दुखी नहीं था, बल्कि उसका चिंतन अत्यंत गहन था। उस पर बुद्ध का प्रभाव भी था।'[6]

पैगम्बर तक को नकारने वाला यह सूफी कवि ईश्वर, सत्य और अपने बीच किसी अन्य को स्वीकार नहीं करता। यहाँ तक कि पैगम्बर को भी। जायसी तो शास्त्र-विधि व्यवस्था को सविनय प्रणाम करते हुए

पंडितों आदि के प्रति विनयशील दिखते हैं। उनमें अगर किसी एक बात को लेकर आत्मगौरव और आत्मेसजगता का भाव है तो वह उनकी कविता है।

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोई बिमोहा जेइ कबि सुनी।।
चाँद जइस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक, कीन्ह उजियारा।।

इसमें आत्मप्रशंसा का भाव भी खूब है। एक ही आँख है तो भी कविता तो उसकी विमुग्धकारी है। कवियों में उसका आसन तारों के बीच चाँद जैसा है। एक आँख का काना होना वैसा ही है जैसे चन्द्रमा के सौन्दर्य में कलंक का होना है। मैं काव्य-चन्द्र हूँ।

मैं समझता हूँ यह आत्मविश्वास तो किसी कवि में होना ही चाहिए। लेकिन मनुष्य-मात्र में भी क्यों नहीं? जायसी अपने इन बयानों से भरे-पूरे आदमी लगते हैं। 'पद्‌मावत' पढ़ते हुए बार-बार इस एहसास से हम गुजरते हैं कि कवि ने अपने यौवन और सौन्दर्य को एक भोक्ता की तरह देखा और अनुभव किया है। उनकी भौतिक या कहें लौकिक संवेदनाएँ बेहद गहरी और रूप-रस के गंध से भरी हुई हैं। वो जो एक उनकी अर्धाली है—'जग सूझा एकई नैनाहा' वह इसी की स्वीकृति है। मुझे तो इस पंक्ति में जायसी की व्यंजना बहुत दूर तक ले जाती है। दुनिया में ऐसे दो-आँख वाले भी होते ही हैं जिन्हें बहुत नहीं सूझता है, दो आँख होते हुए भी। अगर जायसी की दोनों होतीं तो वे ने जाने क्या कर डालते। फिर कवि की हमेशा एक खास आँख तो उसकी संवेदना की होती है। वे अगर सामान्य नहीं असाधारण महाकाव्य रच सके तो कारण उनकी यही संवेदना है।

'स्तुति खण्ड' के इसी इक्कीसवें बंध में वे अपने कतिपय काव्य-रहस्यों को खोलते भी हैं। उनके कथनों को देखते हुए यह तो मान लेना पड़ेगा कि उन्हें यह पीड़ा तो सालती ही थी कि वे एक ही आँख के व्यक्ति हैं। पर इस न्यूनता की अभाव को पूर्णता के सौन्दर्य में रूपान्तरित करते हुए वे कहते हैं कि आम में 'डाम' अगर न हो तो उसमें सुगंधि और मिठास कहाँ से आएगी। यानी जीवन में थोड़ी-बहुत अपूर्णताएँ ही कालान्तर में व्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास और पौरुष-साधना से सम्पन्नताओं के सौन्दर्य में रूपान्तरित हो उठती हैं —

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोइ बिमोहा जेइ कबि सुनी।।
चाँद जइस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक, कीन्ह उजियारा।।

यहाँ वे कहते हैं मेरी कविता विमुग्धकारी है। कवियों में मेरे कवि का आसन तारों के बीच चन्द्रमा जैसा है। इतना ही क्यों, यह कविता पाठकों पर अपना गहरा असर भी छोड़ती है। इसका एक प्रमाण तो यही कि मध्यकाल में हिन्दी कविता की 'त्रिवेणी' बनाते हुए शुक्ल जी जिन तीन कवियों को चुनते हैं, उनमें सूर, तुलसी के अलावा तीसरे कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। वे चाहते तो केशव और बिहारी में से किसी एक को ले सकते थे पर उन्होंने तीन ऐसे कवियों को चुना जिनकी सुदृढ़ दार्शनिक-वैचारिक पृष्ठभूमि थी। तीनों सम्प्रदाय-विशेष की तीन पृथक् साधना भूमियों से जुड़े हुए भी थे। सच यह भी है कि वे सूर की जगह कबीर जैसे महान संत को भी ले सकते थे, और उनके जैसे बड़े आलोचक के लिए यह अधिक न्यायोचित भी होता पर वे कबीर के काव्य-व्यवहारों को लेकर जितने चिढ़े हुए हैं और धार्मिक कर्मकाण्डों के पाखण्डों को लेकर कबीर जिस कदर हमलावर थे, वह शुक्ल जी के नव अभिजात ब्राह्मणवाद के लिए न केवल सर्वथा अरुचिकारक था, बल्कि क्षात्रधर्म वाली वर्ण-संरचना के भी सर्वथा विरुद्ध था।

शुक्ल जी कबीर की इस बात पर भी चिढ़े हुए थे कि उन्होंने साधना का एक और नया पंथ क्यों खड़ा कर दिया? जायसी की तरह पहले से ही चले आ रहे वेद या कुरान मार्ग पर ही क्यों नहीं चले? क्या यह किसी आलोचक का काम है, इस तरह की ज्यादती करना—कवि या लेखक के साथ? पर कबीर के सन्दर्भ में तो वे जैसे अवसर खोजते रहते हैं। 'त्रिवेणी' में कबीर के लिए तब गुंजाइशें ही कहाँ बचती हैं?

शुक्ल जी द्वारा जायसी की जो खूबियाँ गिनाई गईं हैं उनके पीछे सामाजिक सम्मिलन का सौन्दर्य है। वे बार-बार कहते हैं कि इससे हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को न केवल समझने पर उतारू हुए बल्कि एक दूसरे को आदर और प्यार करने की भी कोशिश करने लगे। इसीलिए तो सूर-तुलसी के साथ सूफी कवि जायसी को शामिल कर वे मध्ययुगीन हिन्दी कविता की 'त्रिवेणी' रचते हैं। वैसे भी शुक्ल जी का आलोचक लोकहित की दृष्टि से आख्यानक प्रबंध-काव्यों का समर्थक है। 'पद्मावत' के प्रबंध-सौन्दर्य पर उन्होंने मुग्ध होकर लिखा भी है।

इस सन्दर्भ में मेरे मन में जो अन्य सवाल उठ रहे हैं, वे ये हैं कि कविता और धार्मिक सम्प्रदाय विशेष का जो रिश्ता मध्ययुग में तत्कालीन जरूरतों की दृष्टि से रचा गया है, उसमें प्रायः सभी बड़े कवि शामिल हैं। पर इस रिश्ते की जो मर्यादाएँ रची गई हैं, उसकी खूबसूरती केवल सूर के वात्सल्य और जायसी के लोकजीवन चित्रण में ही प्रकट हो सकी हैं। इसके विपरीत अष्टछाप के नंददास आदि कवियों में सम्प्रदाय-विशेष की गंध अधिक है।

प्रश्न यह कि कविता की सार्वभौमिकता क्या इससे बाधित नहीं होती? प्रबंध-काव्य में तो खैर इसकी गुंजाइशें बची भी रहती हैं और तुलसी जैसे बड़े-सुजान कवियों में यह बची भी हुई है, पर एक हद तक। यही कारण है कि भागवत के कथाकारों की तरह 'मानस' के भी प्रवचनकार और कथाकार न केवल बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ अर्जित कर रहे हैं बल्कि आगे बढ़ते समाजों के मानस पर कब्जा जमाए भी बैठे हैं। यह अलग बात है कि एक बड़े परम्परागत, इससे कहीं अधिक दकियानूसी समाज की रोजी-रोटी भी चल रही है।

सवाल यह कि इससे तुलसी की कविता का हित कितना सध रहा है? क्या वह कविता लोक में राम जैसे चरित्रों को पैदा कर पा रही है? स्वयं मानस-प्रवचनकारों के अपने परिवारों में क्या 'मानस' के मूल्य स्थापित हो पाए हैं?

जायसी की स्थिति तो और अलग है। उनका पठन-पाठन तो कक्षाओं और अध्यापक-आलोचकों के अलावा अन्य की जरूरत कभी बन नहीं पाता। शायद यही लक्ष्य कर आलोचक विजयदेव नारायण साही ने उन्हें सम्प्रदाय-विशेष से जोड़े न जाने की भरपूर वकालत की है। वे लिखते हैं—''साहित्य में किसी विचारधारा या दार्शनिक सिद्धान्त का वहन करना एक बात है और अपने युग की सम्पूर्ण चिन्तनशीलता में उलझी हुई अनुभूति को आत्मसात करना दूसरी बात है। यह आत्मस्थ चिन्तनशीलता गम्भीर साहित्य को एक बौद्धिक सघनता प्रदान करती है।''[8] इसी पृष्ठभूमि पर वे 'जायसी' का उद्धार जैसा करते हुए उन्हें 'कवि और केवल कवि' मानते हैं।[9] इसी के पहले वाले पृष्ठ बासठ पर वे लिखते हैं— ''जायसी का प्रस्थान-बिन्दु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है।'' पर केवल ऐसा ही नहीं है।

'पद्मावत' का 'स्तुति-खण्ड' पढ़ते हुए हम पाते हैं कि वे अपने कवि को जिस ऊँची भूमि पर ले जाकर स्थापित करते हैं वैसा तो तुलसी भी नहीं करते। सामान्य दृष्टि से देखें तो यह एक प्रकार से अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने वाली बात साबित होगी पर ये कथन जिस प्रसंग में हैं, उसके मूल में जायसी के कवि की कुरूपता और एक आँख का काना होना भी है। गाँव-देश में इसकी अनुभूति उन्हें हुई भी होगी। पर इस अंग और रूप-क्षति की पूर्ति वे अपनी कविता की रसमयता से करते हैं। शुक्ल जी के अनुसार मानस-रचना से चौंतीस साल पहले जायसी 'पद्मावत' रचेत हैं। इसलिए उनके समक्ष बराबरी का कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं है, फिर वे अतिश्योक्ति को कला के खूबसूरत आवरण में छिपाते हुए दोहे में लिखते हैं—

एक नयन जस दर्पन औ निरमल तेहि भाउ।
सब रुपवंत पाउँ गहि मुख जोहहिं कै चाउ।।1/21।।

एक ही आँख है तो क्या, उसके दृष्टि प्रसार में समूची सृष्टि जिस तरह रूप-उजागर तो सकी है, वह तो वे भी नहीं कर पाए जिनकी दोनों आँखें हैं और भरोसा न हो तो आइए और देख लीजिए। अपने को रूपवंत मानने वाले लोग तो मेरा पाँव पकड़ मेरे मुँह से निकलने वाले रस भीने बोलों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसमें जायसी का अपना मनोविज्ञान भी काम कर रहा है। खूबसूरत आत्मबोध भी।

जायसी ने 'पद्‌मावत' में जो बात मुझे खींचती है वह है उनका लोकजीवन का गहरा, मर्मवेधी चित्रण जैसा तुलसी में भी नहीं है। उसमें भी अवध का जीवंत किसानी जीवन। तुलसी ने तो यह सब जरूरत भर किया है। पर जायसी उसे एक प्रधान जीवनानुभूति के रूप में व्यक्त करते हैं। इसीलिए वे षड्ऋतु वर्णन के साथ-साथ लोक की 'बारहमासा' वाली परम्परा को भी स्थान देते हैं।

एक बात जिस पर हमारा ध्यान बार-बार जाता है वह है जायसी के अनुभवों की प्रामाणिक स्थानीयता या देशीयता। फ़िराक़ गोरखपुरी ने उर्दू शायरी के बारे में जो तीखी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ की हैं उनमें सबसे खास बात यह कि ''हजारों साल से जिन्दा रहने वाली भारतीय सभ्यता से उर्दू शायरी बहुत कम आत्मीयता स्थापित कर सकी है .... उर्दू शायरी हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं की तुलना में पराएपन और अजनबियत का अहसास मेरे अन्दर उभार देती थी। .... मुझे उर्दू शायरी में वह सन्तोष, वह शान्ति, वह अमृत, और जिन्दगी के आँसू पोंछने वाले वे हाथ और हमारे अन्दर आत्मज्ञान पैदा करने वाली वह आवाज नहीं मिलती थी जो उर्दू को छोड़कर सारी हिन्दुस्तानी शायरी में हमें मिलती है।''[10] एक अन्य बातचीत में उन्होंने कहा है कि उर्दू में एक भी शकुन्तला, सीता या राधा क्यों नहीं है? तब वह हिन्दुस्तान की चेतना की भाषा बन कैसे सकती है?

जायसी के सन्दर्भ में मुझे यह बात खास लगती है कि सूफी कवि होकर भी वे मक्का-मदीना के ख़्यालों में डूबे नहीं रहते। हिन्दुस्तानी जीवन और उसकी माटी की सुगंध में उनकी चेतना इतनी रच-पच और रस-बस गई है कि हमारा मन बार-बार इस देश की चेतना और माटी की सुगंधों से भर उठता है। कुछ वैसा ही बोध जैसा किसी को 'मेघदूत' (कालिदास) पढ़ते हुए होता है। जिस कविता में यह न हो, वह अगर भाषा की कविता होने का दावा करे तो उसकी यह दावेदारी मानेगा कौन?

जायसी चाहे ग्राम-जीवन के वर्णनों में उतरते हों, चाहे शहरी-जीवन के अनुभवों में वे हमें हर जगह भरोसे के कवि लगते हैं। उनकी निगाह न तो कभी फिसलती है, न भटकती ही है। हिन्दू रीति-रिवाजों, संस्कारों, देखने और सोचने के तरीकों से लेकर कहने तक पर हमें लोकजीवन का सच्चा प्रतिबिम्बन मिलता है। यहाँ तक कि उनके रहस्यात्मक कथनों तक में यह सौन्दर्य देखा जा सकता है। 'सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड' में पद्मिनी स्त्रियों के सौन्दर्य के जो अक्स उन्होंने खींचे हैं वे हमें विद्यापति की अपूर्व सुन्दरियों की याद दिलाते हैं। ये कल्पनाएँ निश्चय ही पारंपरिक हैं। कहें शास्त्रीय हैं। उनकी कमर सिंहनी की भाँति, नेत्र मृग की भाँति, गति हंस की भाँति और वाणी कोयल जैसी है। उनके मेघमाला जैसे काले केश सिर से पैर तक लहराते हैं और दंत पंक्ति बिजली-सी चमकती हैं—

लंक सिंघनी सारंग नैनी। हंस गामिनी कोकिल बैनी।।
केस मेघवारि सिर ता। चमकहिं दसन बीजु की नाईं।।

इस सन्दर्भ में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की टिप्पणी भी है उनकी संजीवनी व्याख्या में—'स्त्रियों के ये चार विशेषण जायसी की संस्कृत पदावली के परिचायक हैं।' याद करें तो 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग में प्रसाद भी इसी जाति के उपमानों के आस-पास किंचित अभिनव-संयोजन के साथ दिखते हैं—'आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम-/बीच जब घिरते हों घनश्याम।' आगे भी वे इसी तरह की एक उपमा लेते हैं—'नील

घन-शावक'। जायसी उन्हें घनश्याम अथवा 'घनशावक' के बदले मेघमाला ही कहते हैं। इससे यह तो संकेत मिलता ही है कि जायसी काफी पढ़े-लिखे थे, कवियों और काव्य-रसिकों की मण्डली में उठते-बैठते थे, साथ ही संस्कृत काव्य-परम्पराओं के बारे में जानते थे। यहाँ तक कि अवध-अंचल की कहावतों और मुहावरों तक पर उनकी जबरदस्त पकड़ और सिद्धि थी।

रहस्यात्मक उक्तियों को भी उन्होंने अपने शब्द-प्रयोगों से खूब जाहिर कर दिया है। पद्मावती जन्म नहीं लेती, अवतरित होती हैं।

भरु दसमास पूरि भैघरी।
पदुमावति कन्या औतरी।।
....
भा निसि माँह दिनक परगासू।
सब उजियार भयउ कविलासू।।

आदि-आदि। आलंकारिक दृष्टि से इसे अतिश्योक्ति भी कहा जा सकता है किन्तु इसी में तो रहस्यात्मक संकेत भी झाँक रहे हैं। एक बात जरूर कही जा सकती है कि जायसी ने इन नागर वर्णनों में शास्त्रीयता का सहारा ही ज्यादा लिया है।

जायसी के कवि की विशिष्टता और अद्वितीयता उनके लोक-जीवन के वर्णनों में है। वहाँ तो वे सचमुच वहीं हैं जैसा कि उन्हें होना चाहिए। इसकी सिद्धि उन्हें 'नागमती के विरह-वर्णन' में मिलती है। अवध के एक गाँव में जन्म लेने और बचपन के पूरे वर्ष वहीं गुजारने के चलते मैं अब जब कभी जायसी के इन वर्णनों से होकर गुजरता हूँ, मुग्ध तो होता ही हूँ, चमत्कृत भी कम नहीं होता। इसके पहले षट्ऋतु वर्णन भी कवि ने किया है जिसका संबंध पद्मावती से है। इसमें जो खास बात है वह यह कि रत्नसेन जैसे जोगी ने वीर और श्रृंगार दोनों ही रसों पर नियंत्रण कर लिया है। सवाल यह उठता है कि तब पद्मावती के लिए आने और इतनी जहमत मोल लेने की जरूरत क्या? पर नहीं। यही तो जायसी का सूफी रहस्यवाद है। सूफी वही है जिसने अपनी तमाम भौतिक इच्छाओं (रागों) पर विजय प्राप्त कर ली है और जो परमात्मा (खुदा) के रंग में रँगकर, उन्हीं को समर्पित हो चुका है। तभी तो वह 'फकीर' या 'दरवेश' है। या फिर ठेठ हिन्दुस्तानी अर्थ में जोगी। यानी योगी। जिसने तमाम चित्त-वृत्तियों को जीत लिया और जिसका स्वयं पर पूर्ण नियंत्रण है। यही तो योग-दर्शन है पतंजलि का।

नागमती वाले वर्णन में जायसी बारहमासे की लोक शैली अपनाते हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वे अधिक सूक्ष्म विवरणों और व्यापक जानकारियों की अपनी दक्षता और गति का प्रमाण भी देना चाहते हैं। इसी से लगता है कि वे साधारण कवि नहीं हैं। प्रबंध-रचना की महिमा और गौरव से वे बखूबी परिचित हैं। फिर उनके पास एक लोक सिद्ध भाषा-दृष्टि भी है। षट्ऋतु वर्णन की 'शुरुआत के वसंत ऋतु और श्रृंगार-वर्णन से करते हैं। इसका कारण पदवती के सौन्दर्य का प्रकाशन है। पर नागमति वियोग को वे असाढ़ से शुरू करते हैं—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा।
साजा बिरह दुंद दल बाजा।।

यों कालिदास भी अपने 'मेघदूत' की शुरुआत लगभग इसी तरह के बिम्बों से करते हैं।— 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' .... आदि। तथापि जायसी का कथन एकदम लोक मुहावरे के संगीत से गूँज रहा है। जायसी को पढ़ते हुए यहाँ उन रीति कवियों की भी याद आती है जिनमें बिहारी आदि हैं। विरहिणी नायिकाओं का वर्णन

करते हुए वे भी उनकी क्षीणता को अतिश्योक्तियों तक ले जाते हैं— 'इत आवत चलि जात उत....।' जायसी उनसे पहले लिख चुके हैं कि विरह ने नागमति को इतना क्षीण कर दिया है कि 'खिन एक आव पेट महँ स्वाँसा। खिनहि जाइ सब होइ निरासा।' यहाँ केवल उक्ति-चमत्कार वाली अहा नहीं है। व्याकुल कर डालने वाली मार्मिक विदग्धता भी है। इन चौपाइयों को पढ़ते हुए यह भी जानकारी मिलती है कि जायसी को किसानी जीवन और उसके मौसम-विज्ञान, ज्योतिष आदि की भी गहरी जानकारी है। यह बहुबिध ज्ञान उनके पास खूब है। एक-एक नक्षत्र तक की उनकी जानकारी है। तभी तो वे ऐक साथ वियोग-वर्णन, माह वर्णन, नक्षत्र-विशेष आदि को साध सके हैं।—

बरसै मघा झकोरि-झकोरि। मोर दुइ नैन चुवहिं जस ओरी।।
पुरबा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भईं तस झूरी।।

यहाँ 'ओरी' और 'झूरी' पर विशेष ध्यान जाता है। अवधी में सूख जाने को 'झुरोय जाना' कहते हैं। हालाँकि सूखी जमीन को भी यही कहते हैं। गीले कपड़ों के सूखजाने को भी।

इन वर्णनों में जायसी की सूक्ष्मतों का सौन्दर्य हमें बार-बार चमत्कृत करता है। विवरणों को वे विस्तार में ले जाकर राई-रत्ती या फिर माइक्रो-स्तर तक पहुँचाते हैं। इससे उनकी लोक और शास्त्र संबंधी अभिज्ञता का प्रमाण मिलता है। एक प्रबंध कवि या कथाकार की यह समर्थता ही उसे उस विशाल जन-समूह तक पहुँचाती है जिससे लोक में संवेदना के सौन्दर्य का प्रसार होता है।

आज यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि दोहा-चौपाई में लिख कर भी तुलसी लोक-हृदय के सम्राट बने हुए हैं तब जायसी, जिन्होंने उनसे चौंतीस वर्ष पहले 'पद्मावत' रचा, उसी जन समूह से इतनी दूर, एक हृदय तक पराए से क्यों पड़े हैं?

एम-29, निराला नगर भदभदा रोड,
भोपाल (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. *काव्य कला तथा अन्य निबंध - रहस्यवाद, पृष्ठ 47*
2. *द इसेन्स ऑफ सूफीइज्म-जॉन बालेडाक, पृष्ठ 61*
3. *'अहा जिन्दगी' - सुनील खिलवानी का साक्षात्कार, पृष्ठ 16-18*
   (चर्चित पुस्तक 'भारतनामा'- राजकमल प्रकाशन-के लेखक)
4. *मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड पाँच, पृष्ठ 293*
5. *जायस अब अमेठी जिले में आ गया। अमेठी पहले सुल्तान पुर की तहसील था।*
6. *कबीर विधि विरोधी थे और वे विधि पर आस्था रखने वाले, लोक-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे .... अपने को सर्वज्ञ मान कर पंड़ितों और विद्वानों की निंदा और उपहास करने की प्रवृत्ति उनमें (यानी जायसी में) नहीं थी। -- जायसी ग्रंथावली की भूमिका।*
7. *भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव - पृष्ठ 66*
8. *जायसी, विजयदेव नारायण साही, पृष्ठ 67*
9. *वही, पृष्ठ 63*
10. *फ़िराक़ गोरखपुरी - गुफ़्तगू, पृष्ठ 19—वार्ताकार सुमत प्रकाश 'शौक'*

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जीवन-दर्शन

रामदेव शुक्ल

संसारिक जीवन जीता हुआ मनुष्य जब जीवन जगत इनसे अपने संबंध, इन सबके और अपने— मनुष्य के— आविर्भाव के कारण, उसके परिणाम और असकी अंतिम परिणति के विषय में जानने समझने में प्रवृत्त होता है तब उसकी जो समझ बनती है, उसे जीवन-दर्शन, जीवन-दृष्टि, विश्व-दृष्टि कहा जाता है। इस सृष्टि की रचना कैसे हुई, किसने की, उसका उद्देश्य क्या था, मनुष्य और मनुष्येतर का संबंध क्या हो सकता है, ये प्रश्न आदिकाल से चिंतन के विषय रहे हैं और आज भी बने हुए हैं। प्रत्येक समाज के मनीषियों ने अपने-अपने चिंतन, मनन, अनुभव और विश्लेषण के आधार कुछ निष्कर्ष निकाल कर इन रहस्यों को समझने के सूत्र दिये। उन्हीं को दर्शनशास्त्र कहा जाता है। विश्व के प्रत्येक देश और समाज के अपने-अपने शास्त्र हैं, जिनके आधार पर मानव जीवन के परम उद्देश्य का निर्धारण होता है। विश्व की अगणित जनजातियों की सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी कथाएँ हैं, जिनसे उनके जीवन-दर्शन का पता चलता है। स्टीफ़न हाकिन्स जैसे विश्वविख्यात वैज्ञानिक विज्ञान के सूत्रों के सहारे सृष्टि और उसके होने— रचे जाने के कारण और उद्देश्य— अगर कोई है— की खोज में लगे हुए हैं। भारतीय मनीषियों ने सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए छह प्रकार के दर्शन प्रस्तुत किये, जिन्हें षड्दर्शन कहते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत के क्षेत्रों में आगे निरंतर विकास होता रहा। उदाहरण के लिए अकेले वेदांत दर्शन को लेलें तो शंकराचार्य से लेकर महर्षि अरविंद, परमंहस रामकृष्ण, विवेकानंद, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि के कितने रूप मिलते हैं। प्रायः इनमें से किसी एक को आधार मानकर विद्वान लोग अपना जीवन-दर्शन विकसित कर लेते हैं। ऊपर जिन महापुरुषों के नाम लिए गये हैं, इन सभी ने अपने चिंतन-मनन और अनुभव से जो विश्व-दृष्टि विकसित की है, उसकी ओर पूरी मानवता आशा भरी दृष्टि से देख रही है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बीस वर्षों तक शांति निकेतन में रहकर अगाघ अध्ययन चिंतन, मनन और अनुभव से जो कुछ विकसित किया वही उनका जीवन-दर्शन बना।

आचार्य द्विवेदी की जीवन-दर्शन जिन महापुरुषों से प्रभावित हुआ उन्होंने भारत की स्वंतत्रता के लिए संघर्ष के समय विश्वमानवता के उद्धार का महास्वप्न देखा। महात्मा गांधी ने कहा ''मेरा विश्वास है कि भारत का ध्येय दूसरे देशों के ध्येय से अलग है। मैं भारत को स्वतंत्र और बलवान देखना चाहता हूँ क्योंकि मैं चाहता हूँ कि वह दुनिया के भले के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी पवित्र आहुति दे सके। भारत की स्वतंत्रता से शांति और युद्ध के बारे में दुनिया की दृष्टि में जड़मुल से क्रांति हो जायेगी। उसकी मौजूदा लाचारी और कमजोरी का दुनिया पर बुरा असर पड़ता है। आलसी की तरह उसे लाचारी प्रकट करते हुए ऐसा नहीं कहना चाहिए कि

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 42-46*

पश्चिम की इस बाढ़ में बच नही सकता। अपनी और दुनिया की भलाई के लिए उस बाढ़ को रोकने योग्य तो उसे बनना ही होगा।''

महर्षि अरविन्द स्वंतत्रता प्राप्ति के अवसर पर भारत के लिए चार लक्ष्य निर्धारित करते हुए बताते हैं कि अगला कदम मनुष्य को एक उच्चतर और विशालतम चेतना में उठा ले जायेगा। उन समस्याओं का समाधान आरंभ हो जायेगा जिनसे पूरी मानवता त्रस्त है। वैयक्तिक पूर्णता और पूर्ण समाज के विषय में चिन्तन आरंभ हो चुका है। भारत और पश्चिम दोनों के दूरदर्शी विचारक मानते हैं कि इस मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत है परन्तु उन पर विजय निश्चित है। दिव्य परम इच्छाशक्ति से कठिनाइयाँ दूर होंगी। यह विकास आत्मा और अंतर चेतना की अभिवृद्धि द्वारा भारतवर्ष के माध्यम से ही होगा। इसका क्षेत्र सार्वभौम होगा किंतु केन्द्रीय आरंभ स्वतंत्र भारत से ही होगा। स्वामी विवेकानंद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि भारत को इसलिए स्वतंत्र होना है कि भौतिकता में जलते हुए विश्व को आध्यत्मिक शीतलता से भारत ही बचा सकता है।

महामानवसमुद्र के रूप में भारत को स्मरण करते हुए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मौलिक सर्जनात्मक क्षमता किस रूप में कार्य करती थी, इसकी एक झलक आचार्य द्विवेदी के निबंध 'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति-साहित्य' में मिलती है। मिथुन क्रौंच में से एक के हत होने पर वाल्मीकि को छंद तो मिल गया किंतु उसमें गूँथ कर किस चरित को देवत्व प्रदान करें यह उनकी समस्या थी। देवार्षिनारद ने उन्हें राम का नाम सुझाया। विश्वकवि की इस प्रसंग पर लिखी कविता में वाल्मीकि नारद से पूछते हैं— 'मुझे भय हो रहा है कि कही मैं सत्य-भ्रष्ट न हो जाऊँ।' ठाकुर नारद से कहलवाते हैं— ''कवि दुनिया में जो कुछ घटता है, वह सब सत्य नहीं होता। तुम जो कहोंगे, वही होगा, अपनी मनोभूमि को राम की जन्म-भूमि अयोघ्या की अपेक्षा कही सत्य मानो।''

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मनोभूमि सब से ज्यादा अनके निबंधों में स्पष्ट होती है। उनके पूरे साहित्य में जो दार्शनिक सिंद्धात व्यक्त हुए हैं, वे सबके सब बीजरूप में उनके निबंधो में मिल जाते हैं। द्विवेदी जी जिस दर्शन की व्याख्या करते हैं, उसकी शास्त्रीय शब्दावली और उनके निहितार्थ के रहस्य इस हार्दिकता के साथ खोलते हैं कि पाठक या श्रोता को लगता है कि द्विवेदी जी इसी दर्शन को स्वीकार करते हैं। उनके निबंध हमें बताते हैं कि सभी दार्शनिक सिद्धांतों के पखर पंडित और व्याख्याता आचार्य द्विवेदी परम सत्ता की खोज अब तक की वैज्ञानिक उपलब्धियों के आलोक में अपने विश्वबोध (विज़न) के अनुरूप करते हैं।

''मनुष्य के अंतर्यामी निष्क्रिय नहीं हैं। वे थकते नहीं, रूकते नहीं, झुकते नहीं। वे अधीर भी नहीं होते। वैज्ञानिक का विश्वास है कि अनंत रूपों में विकसित होते-होते वे मनुष्य के विवेक रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं। करोड़ों वर्ष लगे हैं इस रूप में प्रकट होने में। उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा। स्पर्शेन्द्रिय से स्वादेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय की ओर और फिर चक्षुरिन्द्रिय और श्रोतियेन्द्रिय की ओर अपने आप को अभिव्यक्त करते हुए मन और बुद्धि के रूप में आविर्भूत हुए हैं। और भी न जाने कितने रूपों में अग्रसर हों। वैज्ञानिक को अतर्यामी शब्द पसंद नही है। कदाचित् वह प्राणशक्ति कहना पसंद करे। नाम का क्या झगड़ा है?

मनुष्य की 'प्राणशक्ति' अथवा 'विवेक' के अंतर्यामी बनने की प्रक्रिया आचार्य द्विवेदी वैज्ञान्निक शब्दावली में समझाते हैं। ''जीव का काम पुरा काल में स्पर्श से चल जाता था बाद में उसने घ्राणशक्ति पायी। वह दूर-दूर की चीजों का अंदाजा लगाने लगा। पहले स्पर्श से भिन्न सब कुछ अधंकार था। अतंर्यामी रुके नहीं। ध्राण का जगत्, फिर स्वाद का जगत् फिर रूप का जगत् फिर शब्द का संसार। एक पर एक नये जगत् उद्घाटित होते गये। अंधकार से प्रकाश, और भी प्रकाश, और भी। यहीं तक क्या अंत है! कौन बतायेगा?

इद्रियगृहीत बिम्ब अन्य प्राणियों में भी हो सकते हैं। द्विवेदी जी वैज्ञानिक दृष्टि से बताते हैं कि क्यों मनुष्य ही आगे का विकास कर सका। ''वहाँ दो बातों की कमीं है। इन बिम्बों को विविक्त करने की शक्ति

और विविक्तीकृत बिम्बों को अपनी इच्छा से— संकल्प पूर्वक— नये सिरे से नये प्रसार-विस्तार या परम्युटेशन-कॉम्बिनेशन की प्रक्रिया द्वारा नयी अर्थात् प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं से भिन्न नयी चीज बनाने की क्षमता। शब्द के बिम्बों के विविक्तीकरण का परिणाम भाषा, काव्य और संगीत है, रूप-बिम्बों के विविक्तीकरण के फल रंग, उच्चावचता, ह्रस्व दीर्घवर्तुल आदि बिम्ब और फिर संकल्प-शक्ति द्वारा विनियुक्त होने पर चित्र मूर्ति, वास्तु, वस्त्र, अलंकरण, साज-सज्जा आदि।''

द्विवेदी जी किसी धर्म, दर्शन, संस्कृति का निषेध नही करते। उनका मानना है कि धर्म वही है जो किसी के धर्म का विरोधी नहीं हो सकता, संस्कृति वही है जो किसी संस्कृति की विरोधी नहीं हो सकती। सभी दार्शनिक मत अपने-अपने विश्वास के अनुरूप परम सत्य की खोज करते है। आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि आसमान की ऊँचाई पर बैठी किसी परमसत्ता की अपेक्षा ''निरंतर चैतन्य का परिष्करण ही अब तक ज्ञात सभी बातों में सत्य है। यही अंतिम सत्य है या नहीं, कोई नहीं कह सकता। लेकिन चैतन्य का परिष्करण ही सत्य है तो विश्वास और आस्था के साथ माना जा सकता है कि हमारे अंतरतम में विद्यमान चित्तत्त्व निरंतर इसी ओर इशारा कर रहा है। जिजीविषा इस चैतन्य की उपलब्धि के लिए एक सार्थक प्रयास है। मनुष्य जीना चाहता है, निरंतर परिष्क्रियमाण चित्तत्त्व के रूप में।''

द्विवेदी जी व्यक्ति मनुष्य की इच्छा और प्रयत्न को नश्वर मानते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि ''व्यक्ति मनुष्य की इच्छा भी नश्वर है और प्रयत्न भी नश्वर है परंतु सामाजिक मनुष्य की इच्छा भी अमर है और प्रयत्न भी अमर होगा।''

सबकी इच्छा और एक की इच्छा का फर्क करते हुए आचार्य द्विवेदी 'गीता' का प्रमाण उपस्थित करते हुए लिखते हैं कि ''मैं जीवमात्र में धर्म के अविरुद्ध रहने वाला 'काम' हूँ परंतु जो व्यक्तिगत इच्छा धर्म के विरुद्ध जाती है वह अपदेवता है।'' परंतु जो व्यक्ति की इच्छा तृप्ति का साधन उस अंतर्यामी के अनुकूल नहीं है। वह नश्वर है। जो उस अंतर्यामी की महायोजना के अनुरूप है, वही धर्मरूप में स्वीकार्य है। व्यक्ति के चित्त को क्षुब्ध करने वाले अपदेवता को महादेव ने भस्म किया। धर्मसम्मत काम अनंग रूप में प्राणिमात्र में सदा के लिए अमर है। लक्ष्मी के सम्बंध में सामान्य विश्वास है कि उनका वाहन उल्लू है। द्विवेदी जी इच्छा-क्रिया-ज्ञान की 'त्रिपुरा' का रहस्य बताते हुए कहते हैं— ''ज्ञानरूप में अभिव्यक्त होने पर यह सत्तगुण प्रधान सरस्वती के रूप में, इच्छा रूप में रजोगुण-प्रधान लक्ष्मी के रूप में और क्रिया रूप में तमोगुण प्रधान काली के रूप में उपास्य होती हैं। जो साधक लक्ष्मी रूप में आद्याशक्ति की उपासना करते हैं, उनके चित्त में इच्छा तत्त्व की प्रधानता होती है पर बाकी दो तत्त्व-ज्ञान और क्रिया-भी उसके सहायक होते हैं। इसीलिए लक्ष्मी की उपासना 'ज्ञान पूर्वा क्रिया' होती है अर्थात वह ज्ञान द्वारा चालित है। इस अवस्था में उपास्य लक्ष्मी जगत् के उपकार के लिए होती है। उस लक्ष्मी का वाहन गरुड़ होता है। गरुड़ शक्ति, बेग और सेवा का प्रतीक है। दूसरी अवस्था में लक्ष्मी का वाहन उल्लू होता है। उल्लू स्वार्थ, अंधकार प्रियता और विच्छिन्नता का प्रतीक है। लक्ष्मी तभी उपास्य होकर भक्त को ठीक-ठीक कृतकृत्य करती है जब उसके चित्त में सबके कल्याण की कामना रहती है।''

भारत की मूल प्रवृत्ति की खोज करने वाले पश्चिमी विद्वानों में सर जीन वुडरफ को उद्धृत करते हुए आचार्य द्विवेदी बताते हैं कि ''भारत धर्म के अनुसार धार्मिक व्यक्ति वह है जो यह समझता है कि वह संसार के सभी प्राणियों से अनेकानेक रूपों में सम्बद्ध है, तथा अधार्मिक वह है जो अन्य प्राणियों का कोई ध्यान रखे बगैर सभी को अहंकारवश अपने सीमित स्वार्थो की दृष्टि से आँकता है।''

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्। जैसा मंत्र जगाने वाले भारत वर्ष में भूख, रोग, तिरस्कार से मरते देखकर रामकृष्ण, विवेकानंद, अरविंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर विलखते रहे।

रविठाकुर की एक कविता है 'किसान' - 'यह जो खड़ा है सिर झुकाए, मुँह बंद किये— जिसके मुख पर सौ-सौ शताब्दियों की वेदना की करुण कहानी लिखी हुई है, कंधे पर जितना भी बोझ लाद दो, मंद गति से तब तक ढोये जाता है जब तक उसमें प्राण बचे रहते हैं— उसके बाद संतान को दे जाता है यह बोझ। पीढ़ियों तक यही क्रम चलता है ....।'

आचार्य द्विवेदी भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति की अपराजेय परंपरा की महिमा को बार-बार स्वीकार करते है किंतु साथ ही साथ वर्तमान भारत की दुर्दशा के कारण भी तलाशते रहते हैं। (सचित्र भारत, 1936 में) उन्होंने आधुनिक भारत की दुर्गति के मूल में समृद्ध युग का मनोभाव देख लिया। ''मगध और अवंती की केन्द्रीय शक्ति और नागारिक समृद्धि सचमुच बेजोड़ थी। उस नागरिक के एक हाथ में तलवार थी और दूसरे में प्रिया के रसाभिलिंगन से पीड़ित कालागुरुमंजरी की प्रतिच्छिपि। उसकी एक आँख से आग बरसती थी और दूसरी से मदिरा। परंतु उसके जनपद पंगु थे। पौरों और जनपदों का यह अंतर निरंतर बढ़ता गया। एक के लिए काव्य और काम-सूत्र लिखे गये, दूसरे के लिए पुराण और स्मृतियाँ। एक विलासिता की ओर खिंचता गया, दूसरा शास्त्र-वाक्यों की ओर। एक इसका आश्रय बनता गया, दूसरा मजाक और अवहेलना का विषय। खाई बढ़ती गयी। हूणों ने इसका फायदा उठाया, शकों ने फायदा उठया, तातारों ने फायदा उठया, मुसलमनों ने फायदा उठाया, अँग्रेजों ने फायदा उठाया और खाई बढ़ती ही गयी, बढ़ती ही गयी।''

आयार्च द्विवेदी की प्रमुख चिन्ता इसी खाई को पाट देने की है। इसके लिए अपने निबंधों में उन्होंने बार-बार मार्गनिर्देश किया है। कहते हैं— ''इस यंत्रयुग में समूह की शक्ति बढ़ी है। हमें कोई ऐसी व्यवस्था सोचनी पड़ेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जरूरत भर अन्न, वस्त्र और शिक्षा मिल जाय और उसे जितने की जरूरत है उससे अधिक संग्रह करने का अवसर ही न मिले जब हमारी साधना केवल व्यक्तिगत उपदेश तक सीमित नहीं रहनी चाहिए हमें सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मनुष्य को लोभ-मोह की ओर खींचने वाली शक्तियाँ क्षीणबल हो जायें।.... आज जब हम सामूहिक शिक्षा सामूहिक सुरक्षा आदि की ओर अग्रसर होने को बाध्य हो गये हैं, तो हमें सामूहिक रूप से जनता के चरित्र-बल को सुरक्षित रखने की व्यवस्था भी प्रयत्न पूर्वक करनी होगी।''

तत्त्वचिन्तन करने वाले और आध्यात्मिक साधना में लीन रहने वाले, मनीषी संसार के दुखजर्जर प्राणियों के प्रति करुणा से भरे हुए होते हैं। किंतु सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहल को अपना क्षेत्र नहीं मानते। भारतीय परंपरा के श्रेष्ठ मनीषियों ने आरम्भ से ही शोषण उत्पीड़न जैसी परिस्थितियों को मानव मात्र के लिए अवांछनीय माना है। इसीलिए अंतिम आदमी के पक्ष में खड़े होने, नर के रूप में नारायण की सेवा करने और प्राणिमात्र के सुख के लिए तत्पर हो जाने में ही मुक्ति की सम्भावना व्यक्त की गयी है। सब की मुक्ति ही काम्य है। इस लक्ष्य के लिए तत्त्वदर्शी को क्या करना चाहिए? सबसे पहले मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद बताने वाले अमानवीय कारणों के विरुद्ध खड़ा हाना चाहिए। बुद्ध, महावीर, कबीर, रैदास, मीरा से लेकर आधुनिक साधकों— महर्षि अरविंद, परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि रमन और महात्मा गांधी, सबने यही किया। एक को छोटा और दूसरे को बड़ा साबित करने वाले जाति-भेद, छुआछूत, कर्मकांड को सबने अस्वीकार किया। आचार्य द्विवेदी बार-बार अपने निबंधों में भारतीयों के पतन के उपर्युक्त कारणों को रेखांकित करते हैं। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि नाना जातियों और समूहों में विभाजित मनुष्य सिमटता आ रहा है। उसका कोई भी विश्वास और कोई भी रीति-नीति चिरंतन होकर नहीं रह सकी है। उसके न तो मंदिर ही अविमिश्र हैं, न देवता ही चिरकालिक हैं। मनुष्य किसी दुस्तर-तरण के लिए कृतसंकल्प है। जातियों और समूहों के भीतर से उसकी विजय-यात्रा अनाहत गति से बढ़ रही है।''

अंधविश्वासों और रूढ़ियों में जकड़े हुए शुद्धतावादी लोग मानवता-विजय की महायात्रा को न देख पाते हैं, न समझ पाते हैं। उनके लिए आचार्य द्विवेदी रक्तशुद्धता की जड़ पर ही प्रहार करते हुए लिखते हैं– 'विचित्र देश है यह। असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गंधर्व आए– न जाने कितनी-कितनी मानव जातियाँ यहाँ आई और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गयीं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं वह अनके आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्‌भुत मिश्रण है।'

जगह-जगह द्विवेदी जी आर्य और आर्येतर के सम्मिलन को गौरव के रूप में स्मरण करते है। 'आर्यों का स्वर्ग और आर्येतरों का मोक्ष तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस संस्कृति में दूध-चीनी की तरह घुल गये।'

आचार्य द्विवेदी भारतीय जीवन-धारा को अवरुद्ध करने वाले उपकरणों में सबसे बड़ा मानते हैं आध्यात्मिक गुलामी को। देश को राजनीतिक गुलामी से मुक्ति के प्रयत्नों से उत्साहित होते हुए भी उन्होंने चिंता व्यक्ति की। 'राजनीतिक बंधनों के दूर होते ही हमारी मानसिक या आध्यात्मिक गुलामी का बंधन और भी कठोर प्रतीत होगा। दो सौ वर्षों की राजनीतिक गुलामी को तोड़ने में हमें जितना प्रयास करना पड़ा है, उससे कहीं अधिक प्रयास करना पड़ेगा इस सहस्त्राधिक वर्षों की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में।'

यह चिंता उस समय के सभी मनुष्यों को व्यग्र कर रही थी। भारतीय समाज में विषमता के शिकार दलितों को सम्मानित जीवन-प्रवाह से जोड़ने की चेष्टा अपने ढ़ंग से सभी मनीषी कर रहे थे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का एक गीत है -- भारतवर्ष को संबोधित– 'जिसे तुमने नीचे फेंक रखा है, वह तुम्हें नीचे से जकड़कर बाँध लेगा, जिसे पीछे डाल रखा है, वह पीछे खींचेगा; अज्ञान के अंधकार की आड़ में जिसे तुमने ढक रखा है, वह तुम्हारे समस्त मंगल को ढककर घोर व्यवधान की सृष्टि करेगा। हे मेरे दुर्भाग्यग्रस्त देश! अपमान में तुम्हें समस्त अपमानितों के समान होना पड़ेगा।'

अपनी वाणी ही नहीं अपने सम्पूर्ण जीवन से महात्मा गांधी समाज की इस जड़ता के विरुद्ध सक्रिय रहे। द्विवेदी जी ने उनके देहावसान के बाद लिखा 'महात्मा जी ने केवल वाणी से नही, अपने सम्पूर्ण जीवन से यह दिखा दिया है कि मनुष्य के छोटे स्वार्थों का द्वंद्व बड़े सत्य का विरोधी नहीं है। इस छोटे स्वार्थों को व्याप्त करके, इनको अपना अंग बनाकर ही हृदय-स्थित महासत्य विराज रहा है इनके भीतर से वह सेतु तैयार किया जा सकता है जो मनुष्य को मनुष्य से विच्छिन्न होने से बचाए।'

आचार्य द्विवेदी महात्मा गांधी को धर्म, अर्थ और व्यवहार को एक करके महान् सेतु निर्माता सत्य को देखने और जीने वालो मानते हैं। उन्होंने आशा व्यक्त की है कि उनका जीवन 'अमृत-योनि महासत्य के द्वारा सभी संकीर्णताओं को मिटाने वाले उदाहरण के रूप में मानवता के विजय-अभियान में स्मरण किया जायेगा।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मानवीय चेतना के उस विकसित स्वरूप में आस्था और विश्वास रखते हैं, जो संसार के मनुष्यों के बीच से सारे भेद-भाव का अन्त कर देगा। इतिहास-विधाता, हृदयस्थ अंतर्यामी समस्त प्राणशक्ति, चाहे जो नाम उसे देना चाहें, वही जयी होगी। सारी विषमताएँ तिरोहित हो जायेंगी। उन्हीं के शब्दों में ''सामाजिक मनुष्य की मंगलेच्छा ही जियेगी और सामाजिक मनुष्य को सब प्रकार के अभावों और बंधनों से मुक्त करने की साधना ही जियेगी।''

राप्ती चौक, आरोग्य मंदिर
गोरखपुर–273003 (उ.प्र.)

इतिहास-बोध की संस्कृति-सापेक्षता एवं भारतीय इतिहास-बोध

कमलनयन

सामान्यतः इतिहासकार इतिहास की प्रकृति व उसके शिल्प विषयक सिद्धान्तों पर या तो विचार ही नहीं करते या फिर विचार करना ही पसंद नहीं करते। किसी भी विषय को लेकर पहला प्रश्न यही उठता है कि यह विषय क्या है? किसी भी विषय के विषय होने के लिये उसकी प्रकृति और स्वरूप, विषयवस्तु और उसके क्षेत्र का निर्धारण आवश्यक होता है। यह न किया जाय तो विषय बनेगा ही नहीं। इतिहास की प्रकृति व स्वरूप व इसकी विषयवस्तु पर बहुत विचार हुआ है, हो रहा है और आगे भी होता रहेगा। इतिहास पर विचार सामान्यतः दार्शनिकों ने किया है। किन्तु इतिहासकारों में ऐसे विरले ही हैं, जिन्होंने इतिहास पर भी विचार किया है।

इतिहास के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इतिहास की परिभाषा, स्वरूप व प्रकृति को लेकर इतिहास पर विचार करने वालों में सहमति नहीं है। किन्तु इतिहास के विषय में एक बात निर्विवाद है अथवा सर्वस्वीकार्य है, वह यह है कि इतिहास अतीत विषयक अनुशासन है। वैसे तो समस्त अतीत इतिहास का विषय हो सकता है, किन्तु अतीत जिससे इतिहास का विशेष रूप से सम्बन्ध है वह मनुष्य का अतीत है। वास्तव में अतीत मनुष्य का ही होता है, मनुष्येतर विषयों का नहीं। इसलिये, मानव-अतीत ही मूलतः इतिहास का विषय है। किन्तु अतीत स्वयं भी एक जटिल और बहुअर्थक शब्द है। इतिहास का मनुष्य के जिस अतीत से सम्बन्ध है वह संरक्षित व स्मृत अतीत है। यह वह अतीत है जो विविध रूपों में सामाजिक स्मृति में जीवित रहता है। यही नहीं, यह वर्तमान में विभिन्न प्रकार के स्रोतों - पुरातात्त्विक, साहित्यिक आदि - में भी उपलब्ध होता है। यह विभिन्न लोक-परम्पराओं, सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं में भी संगृहीत रहता है। इस प्रकार से उपलब्ध अतीत को इतिहासकार अपना विषय बनाता है अथवा बना सकता है और वह अतीत जो इतिहासकार का विषय बनता है उसे हम ऐतिहासिक अतीत कह सकते हैं। यही कारण है कि ऐतिहासिक अतीत को 'वास्तविक अतीत' से भिन्न माना जाता है। वास्तविक अतीत अनुपलब्ध अतीत है, जो होकर गुजर जाता है, काल-ग्रस्त हो जाता है, उसका अस्तित्त्व नहीं रहता। इसका अर्थ यह हुआ कि जो अतीत इतिहास-लेखन का अंग है वही उपलब्ध एवं ऐतिहासिक अतीत है।

ऐतिहासिक अतीत की एक केन्द्रीय विशिष्टता यह है कि यह प्रत्येक समाज में उस समाज की सांस्कृतिक दृष्टि से निर्धारित होकर धारित होता है। इस कारण भिन्न-भिन्न समाजों की इतिहास दृष्टि अथवा इतिहास-बोध भिन्न-भिन्न होते हैं। इसीलिये इतिहास की कोई एक अवधारणा अथवा एक स्वरूप नहीं है।

सामान्यतः यह माना जाता है कि भारतीयों में इतिहास-बोध का अभाव है। वास्तव में ऐसा कहना उचित नहीं है। इस मान्यता का कारण यह है कि भारतीयों का इतिहास-बोध विश्वजनीन हो गये पश्चिमी इतिहास बोध से भिन्न है। इसलिये, वास्तव में बात दृष्टि भेद की है, इतिहास-बोध के अभाव की नहीं।

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 47-59*

यह मान्यता लगभग सर्वसामान्य है कि प्राचीन यूनान में इतिहास-बोध का प्रादुर्भाव हुआ और आधुनिक पश्चिम में इसका उत्कर्ष देखा जा सकता है। यूनान में इतिहास-लेखन यूनानी चिन्तन परम्परा के मूलतः इतिहास-विरोधी तत्त्वमीमांसीय आधार के बावजूद हुआ। इतिहास मनुष्य के कर्म का अध्ययन करता है। मनुष्य के कर्म का क्षेत्र निरन्तर परिवर्तन व सतत् प्रवाह का क्षेत्र है। जहाँ उत्पत्ति और विनाश का सिलसिला निरन्तर चलता है। जहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है, नित्य नहीं है। तत्कालीन यूनानी दार्शनिकों की मान्यता थी कि जो अनित्य है उसका निश्चित व प्रामाणिक ज्ञान संभव नहीं होता। अतः वे लोग इतिहास को प्रामाणिक ज्ञान का स्रोत नहीं मानते थे। उनके अनुसार प्रामाणिक ज्ञान उसी वस्तु का सम्भव है जो नित्य है, जिसका निश्चित स्वरूप एवं स्वभाव है, जिसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन घटित नहीं होता, जो ध्रुव है, अटल है। इस कारण वे गणितीय ज्ञान को प्रामाणिक ज्ञान मानते थे। क्योंकि गणितीय विषय अपरिवर्तनीय व नित्य होते हैं। प्लेटो शाश्वत एवं अनुभवातीत प्रत्ययों को ज्ञान का विषय मानता था।

इस मान्यता के आधार पर यूनानी-परम्परा में ज्ञान के दो भेद माने जाते हैं - शुद्ध ज्ञान तथा विश्वास या धारणा अथवा मत। यूनानी दार्शनिक धारणा (Opinion) को जागतिक तथ्यों का इन्द्रियानुभव पर आधारित अधूरा-ज्ञान मानते थे। उनके अनुसार इस प्रकार का ज्ञान तात्कालिक ज्ञान होता है जिसके बुद्धि (Reāson) के प्रांमाण्य पर आधारित न होने के कारण प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत विशुद्ध ज्ञान बुद्धि के प्रामाण्य पर आधारित होता है, समस्त भ्रान्तियों व त्रुटियों से रहित होता है।

इस प्रकार, इस अनित्य व परिवर्तनशील जगत का ज्ञान वास्तव में ज्ञान न होकर भ्रम मात्र होता है। जगत के क्षणभंगुर, अनित्य होने के कारण इसका ज्ञान प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ऐसी विचार परम्परा में ऐतिहासिक ज्ञान को ज्ञान की कोटि में रखकर उसे भविष्य के लिये संचित करने का उपक्रम कोई करे यह असंभव प्रायः था। इसके बावजूद यूनान में पाँचवी शताब्दी ई.पू. में जिस दृष्टि का उदय हुआ, उसने इतिहास को मनुष्य के कर्म व पुरुषार्थ के क्षेत्र के रूप में देखा। इतिहास की इस दृष्टि के अनुसार इतिहास आख्यान अथवा अनुश्रुति नहीं अपितु अनुसंधान है; अन्वेषण है; यह दैवीय नहीं मानवीय है; यही नहीं मानवीय कर्म का विवरण है; यूनानी ऐतिहासिक-विवरणों की घटनायें कालातीत नहीं अपितु कालक्रम में घटित एवं दिनांकित (Dāted) हैं।

पाँचवी शताब्दी ई.पू. से पहले होमर, हेसिओड आदि लेखकों के विवरणों में इतिहास के प्रति दैवीय व पौराणिक दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। होमर के ऐतिहासिक काव्यों (इलियड व ओडिसी) में मानवीय-व्यापारों में देवता हस्तक्षेप करते दिखाई पड़ते हैं, जैसाकि मैसोपोटामियायी मिथकों में भी देखने को मिलता है। यहाँ तक कि हेरोडोटस व थ्यूसीडिडीज के इतिहास भी दैवीय-मिथकीय तत्त्वों से पूर्णतया मुक्त नहीं कहे जा सकते। किन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि इन यूनानी इतिहासकारों के विवरणों में अनैतिहासिक-तत्त्वों की उपस्थिति है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनके विवरणों में यौक्तिकता, विवेक-संगतता व वैज्ञानिक-दृष्टिकोण का समावेश है।

'हिस्टरी' शब्द मूलतः यूनानी भाषा का शब्द है। जिसका सामान्य अर्थ है 'अन्वेषण, अनुसंधान, जाँच-पड़ताल'। हेरोडोटस ने 'हिस्टरी' शब्द का प्रयोग अपनी रचना के शीर्षक में किया है। उसकी विलक्षणता इस बात में है कि वह अपने पूर्ववती लेखकों की तरह अतीत की मात्र कहानी नहीं कहता, वरन् वह अतीत में 'सत्य' की 'खोज' करता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यूनान में इतिहास-बोध का उदय यूनानी सभ्यता के एक विशेष कालखण्ड में हुआ। जबकि यूनानी विचार परम्परा की मूल प्रवृत्ति इतिहास विरोधी थी। कालिंगवुड हेरोडोटस की सुकरात से तुलना करते हुए कहते हैं कि सुकरात ने भी अन्वेषणात्मक प्रश्नों के

माध्यम से 'सत्य' तक पहुँचने की विधि अपनायी थी। इस विधि से, उसकी मान्यता थी कि, मनुष्य के मस्तिष्क में नैतिक सिद्धान्तों का ज्ञान उत्पन्न किया जा सकता है। पाँचवी शताब्दी ई.पू. की ये दो महान प्रतिभायें तुल्य कोटि हैं। किन्तु हेरोडोटस की उपलब्धियां तत्कालीन वैचारिक परिवेश के इतनी विपरीत थीं कि उसकी मृत्यु के बाद जल्द ही भुला दी गईं। दूसरी ओर, सुकरात के विचार तत्कालीन वैचारिक परम्परा में थे, इसलिये प्लेटो और सुकरात के अन्य शिष्यों ने सुकरात के दर्शन को विकसित किया और आगे बढ़ाया। किन्तु हेरोडोटस की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले नहीं हुए।

यह कहा जा सकता है कि थ्यूसीडिडीज ने हेरोडोटस की परम्परा को आगे बढ़ाया। किन्तु थ्यूसीडिडीज के कार्य को आगे ले जाने वाला कोई नहीं हुआ। प्लेटो आदि दार्शनिकों द्वारा हेरोडोटस और थ्यूसीडिडीज का उल्लेख भी न करना इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि यूनानी लोग इतिहास को निम्नकोटि का बौद्धिक व्यापार मानते थे।[1] हालांकि इतिहास-लेखन की यह परम्परा थ्यूसीडिडीज़ के बाद भी पॉलिबियस आदि से होती हुई लिवि व टेसीटस जैसे रोमन इतिहासकारों में जीवित दिखाई पड़ती है।

जैसा के हमने पीछे कहा, पश्चिमी विचारक यह मानते हैं कि इतिहास-लेखन का आरम्भ प्राचीन यूनानी समाज में हुआ था और आधुनिक पश्चिम में यह अपने प्रकर्ष पर पहुँचा। कालान्तर में यूनानी इतिहास-लेखन की धारा लुप्त हो गयी और आधुनिक यूरोपीय इतिहास-लेखन में पुनरुज्जीवित हुई। किन्तु यह रही मात्र एक सीमित-से प्रभाव के रूप ही में। मानव अतीत के प्रति वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण के रूप में।

भारत में ऐसा इतिहास-लेखन नगण्य प्रायः है। इसी प्रकार अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी ऐसा इतिहास-लेखन नगण्य ही है। अन्य संस्कृतियों में इतिहास की जो अवधारणा मिलती है वह धार्मिक/दैवीय (Theocrātic) है अथवा मिथकीय (Mythopoeic) है। ऐसे इतिहास में मानवीय कर्म व घटनाओं का महत्त्व उसी सीमा तक माना जाता है, जहाँ तक वे ईश्वरेच्छा को अभिव्यक्त करती हैं। उसके अनुसार मानव जगत दैवीय शाक्तियों की लीला का क्षेत्र है। इतिहास की इस अवधारणा के अनुसार मनुष्य कर्त्ता नहीं अपितु दैवीय शक्ति का एक उपकरण मात्र है।

मिथकीय-इतिहास में मानवीय कर्म, उद्यम अथवा पुरूषार्थ का स्थान गौण हैं। इसमें इतिहास के मुख्य चरित्र मनुष्य नहीं वरन् देवता होते हैं और दैवीय-कर्म व घटनाओं को कालक्रमानुसार व्यवस्थित नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में, मिथकीय विवरण कालिकता से परे अथवा कालातीत होते हैं। इन प्राचीन सभ्यताओं में चीनी सभ्यता इसका अपवाद कही जा सकती है। चीनी परम्परा में अतीत के सामाजिक अनुभवों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। ज्ञान का अर्थ ही उनके लिये अतीतकालिक दृष्टान्तों का ज्ञान था। ये दृष्टान्त अतीत में मानवीय पुरुषार्थ के दृष्टान्त होते थे - कालक्रम में अविस्थत और वर्त्तमान में शिक्षा का स्रोत। प्राचीन चीनी साहित्य में ऐसे दृष्टांतों की भरमार है। किन्तु इनकी अतीत कालिकता के बावजूद इन्हें सार्वभौम ज्ञान का स्रोत माना जाता था। अतीत के अनुभवों के सार्वभौम व सार्वकालिक संदेश को संरक्षित रखने का दायित्त्व इतिहासकार का था। चीन में सु-मा-चियन् से मा-त्वन-लिन तक का काल में इतिहास-लेखन के चरमोत्कर्ष का काल है। अरबी इतिहास-लेखन, जिसका उत्कर्ष इब्ने-खलदून में देखा जा सकता है, का आरम्भ इस्लाम के उदय के साथ होता दिखाई पड़ता है। इस इतिहास-लेखन की धुरी इस्लाम धर्म है। इस पर जूडिओ-क्रिस्चियन इतिहास-दृष्टि का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। किन्तु इसकी विशिष्टता इसका तथ्यपरक होना है। इसी प्रकार, यूनानी इतिहास-लेखन की परम्परा जिसका उदय हेरोडोटस व थ्यूसिडिडीज़ में हुआ था वह यूरोपीय संस्कृति के मध्यकाल में लुप्त हो गई थी, उसका पुनरोद्भव यूरोप में 18वीं में इन्लाइटनमेंट के बाद हुआ।

जबकि मध्यकाल में जूडिओ-क्रिस्चियन विश्व-दृष्टि यूरोपीय इतिहास-बोध का आधार थी। यह दृष्टि इतिहास को ईश्वरीय/दैवीय योजना की अभिव्यक्ति के रूप में देखती थी। इस कारण आधुनिक मनीषा जूडिओ-क्रिस्चियन इतिहास-लेखन को भी वास्तविक इतिहास नहीं मानती। इस आधार यह कहा जा सकता है कि इतिहास-बोध मानवीय स्वभाव का एक सहज आयाम नहीं है। यह किसी युग विशेष की उपज होता है।[2]

यदि इस प्रतिपादन को मान लिया जाय तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि हम इतिहास-बोध को किसी काल विशेष की विशिष्टता मानते हैं अथवा किसी संस्कृति विशेष की विशिष्टता मानते हैं तो क्या इसका अर्थ यह नहीं होगा कि एक तो इतिहास-बोध मनुष्य के स्वभाव का सहज आयाम नहीं है और यह किन्हीं काल अथवा युग विशेषों में उभरता है; दूसरे, अनेक संस्कृतियाँ इस बोध से वंचित रही हैं और हैं। इसका यह अर्थ भी होगा कि इतिहास-बोध परिस्थिति सापेक्ष होता है और मनुष्य की अस्थायी अभिरुचि मात्र है। इस कारण यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती। इतिहास-बोध मनुष्य का वह आयाम है जिससे समस्त मानवेतर प्राणी वंचित हैं। उसका आत्म-चेतन होना इतिहास-बोध को संभव बनाता है। आत्म-चेतन होने का अर्थ है चित्त का आत्मोन्मुख संक्रमण। .... यह आत्मोन्मुख संक्रमण अर्थो : सत्ताओं या तत्त्वों : के एक सर्वथा भिन्न लोक और उसके असंख्य आयामों को संभव करता है। इतिहास : विगत का विवरण : इनमें से एक आयाम है।[3] इस प्रकार, इतिहास-बोध मनुष्य का एक मूलभूत आयाम है।

प्राचीन मानव समाज व इतिहास-बोध

अतः कोई भी मानव समाज इतिहास-बोध रहित नहीं होता, नहीं हो सकता। आदिम समाजों में भी परम्परा व परिवर्तन का बोध रहता है। इससे शायद ही कोई इंकार करे। प्रागैतिहासिक युगों के मनुष्य का इतिहास-बोध परम्परा के नैरन्तर्य हेतु व्यवस्था और देवचरितों के संस्मरणों में परिलक्षित होता है। भारत में, वैदिक काल में इसी प्रकार का इतिहास-बोध दिखायी पड़ता है। भारत में यह परम्परा तभी से चलती आयी है कि "मानवीय घटनाओं एवं कार्यों के अन्तर्बोध के लिये उनके आदर्श दृष्टान्त के रूप में देव-चरित का ही स्मरण किया जाता था।"[4] यह ऐसी दृष्टि है जो समाज को देव-सृष्ट व देव-निर्दिष्ट मानती है। किसी समाज की, जाति की भावनायें, अभीप्सायें, उसकी नियति उसके देव-चरितों, देव-गाथाओं में अभिव्यक्त होती है। प्रागैतिहासिक कालों में मनुष्य के इतिहास का निर्धारक तत्त्व देव-लीलाओं में देखा जाता था। इसे इतिहास-बोध का अभाव कहना उचित नहीं है। वास्तव यह अन्तर्बोध का भेद है या कहें व्याख्यान्तर है। यह सुविदित है कि आधुनिक इतिहास-बोध वैज्ञानिक आग्रह से ग्रस्त है। यह मानव इतिहास को वैज्ञानिक विधि व कार्य-कारण के प्राकृतिक नियमों के अनुसार व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। किन्तु यह मान्यता, कि मनुष्य एक स्वतंत्र प्राणी है, वैज्ञानिक इतिहासकार इतिहास को संयोगों की श्रृंखला मात्र मानने को बाध्य हो जाते हैं अथवा व्यक्तियों के स्थान पर उनके (व्यक्तियों के) सामुदायिक व्यवहार के नियम खोजने लगते हैं। ''इसके विपरीत प्राचीन धारणा मनुष्य की स्वतंत्रता को स्वीकार कर उसके अनुरूप आध्यात्मिक स्तर पर विद्यमान आदर्श हेतुओं का अनुसंधान करती है।''[5] इतिहास-बोध का मूल विषय ऐतिहासिक परिवर्तन को समझकर उसकी व्याख्या करना है। ऐतिहासिक परिवर्तन से आशय सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन से है। इतिहास प्रवाह में सामाजिक-सांस्कृतिक परम्परायें बनती बिगड़ती रहती हैं। यह ही इतिहास-बोध का विषय है। किसी समाज अथवा संस्कृति में इन परिवर्तनों का अवबोध कैसा है, वह कैसे इन परिवर्तनों को समझती है और निरूपित करती है, ये प्रश्न इतिहास की व्याख्या के प्रश्न हैं और व्याख्या संस्कृति सापेक्ष होती है। स्मृति में धारित अतीत और आशंका से परिगृहीत अनागत के मध्य प्रवाहमान वर्त्तमान के प्रति प्राचीन संस्कृतियां अनभिज्ञ नहीं थीं। किन्तु वे काल की इस प्रवाहमानता को शाश्वत सत् का चल प्रतिबिम्ब मानती थीं।[6]

प्राचीन सभ्यताओं से मिलने वाले अभिलेख उनमें इतिहास-लेखन की परम्पराओं के प्रमाण हैं। प्राचीनतम अभिलेख देवत्व का अथवा देवत्व के सामीप्य का दावा करने वाले शासकों के हैं। मिश्र के शासक सूर्य का अवतार माने जाते थे। उनकी इतिहास-यात्रा अथवा काल-यात्रा अभिलेखों में दर्ज है। मेसोपोटामिया के शासक स्वयं को देवसेवक मानते थे। हम्मूराबी ने जिस कानून-व्यवस्था को उत्कीर्ण कराया था वह उसने सूर्यदेव से प्राप्त किया था। इस प्रकार, आरम्भिक इतिहास-लेखन में दैवीय तत्त्व का समावेश स्पष्ट दिखाई पड़ता है। किन्तु भारत में आर्य शासकों को मर्त्य मानव ही मानते थे। इसलिये उनकी रचनाओं में - नाराशंसी आदि में - जो वीरचरितात्मक आख्यान मिलते हैं उनमें इतिहास-बोध दिखाई पड़ता है। रामायण और महाभारत, जिन्हें भारतीय परम्परा में इतिहास कहा गया है, इसी प्रकार का इतिहास है। वैदिक साहित्य की देव-गाथाओं के स्थान पर सूतों द्वारा गाकर सुनायी जाने वाली नाराशंसी की गाथाओं के रूप में इतिहास-बोध अभिव्यक्त हुआ है। यह सर्वविदित है कि इतिहास वैदिक काल से ही शिक्षा का अंग था। सायण, 'स्मृति' को उद्धृत करते हुए ऋग्वेद पर अपने भाष्य में लिखते हैं कि प्रत्येक युग के अन्त में ऋषियों ने इतिहास के साथ वेद प्राप्त किया है। इस कारण ऐतिहासिकों के सम्प्रदाय, अर्थात इतिहासकार, वेदों की व्याख्या के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।... वेदों में भी गाथा और नाराशंसी का उल्लेख हुआ है।... ऋषि अथर्वन कहते हैं कि इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी सभी सर्वशक्तिमान ईश्वर का अनुसरण करते हैं। (ऋग्वेद 9/99/4, अथर्व. 15/6/11-12)[7] यहाँ यह द्रष्टव्य है कि देवाख्यानों और वीराख्यानों में निरूपित घटनायें किसी काल विशेष में घटित होती हुई निरूपित नहीं होतीं थीं। अपितु इन घटित घटनाओं के शाश्वत सारांश को ही निरूपित किया जाता था, जो देश-काल की सीमाओं से उत्तर होता था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत को 'सनातन इतिहास' इसी अर्थ में कहते हैं। किन्तु इस प्रकार के निरूपणों को आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि इतिहास नहीं मानती। इतिहास के इन सांकेतिक व काव्यात्मक प्रभेदों को इतिहास न मानना उचित नहीं है। क्योंकि इतिहास-बोध की पाश्चात्य दृष्टि भी पाश्चात्य संस्कृति-सापेक्ष दृष्टि ही है। इसी प्रकार अन्य संस्कृतियों की अपनी दृष्टियाँ हैं। इसलिये यदि यह कहा जाय कि कालानुक्रमिक घटना-विवरण ही इतिहास का लक्षण है तब यह अवश्य सही है कि गैर यूरोपीय दृष्टियां अनैतिहासिक हैं। किन्तु कालानुभूति का सत्य स्थूल घटनाओं तक सीमित नहीं कहा जा सकता। और, न यह आवश्यक है कि उसके निरूपण का प्रकार कालानुक्रमिक घटनावली का निरूपण हो। इतिहास-बोध में आभासित सत्य की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हो सकती है - धार्मिक-दार्शनिक प्रकरणों में, कविता-कहानी में, इतिवृत्त वर्णन में। यदि तथ्यात्मक इतिवृत्त-वर्णन अथवा क्रॉनिकल को ही इतिहास-लेखन कहा जाय तो यह स्वीकार करना होगा कि इतिहास-बोध को ध्वनित करते हुए भी इस प्रकार का लेखन इतिहास के अन्तर्बोध को स्वतः प्रस्तुत नहीं करता। यदि देवगाथायें और वीरगाथायें तथ्यक्रमात्मक इतिहास को प्रस्तुत नहीं करतीं तो केवल तथ्य-क्रमात्मक वर्णन ऐतिहासिक अन्तर्बोध को प्रस्तुत नहीं करता। ऐसे वर्णन को, जो तथ्य-क्रमात्मक वर्णन मात्र हो, 'क्रानिकल' कहा जाता है। इसलिये आधुनिक इतिहास-लेखन अपने को 'मिथ' और 'लीजेण्ड' के साथ ही 'क्रानिकल' से भी पृथक करता है।[8] किन्तु 'क्रॉनिकल' को ही आधुनिक पाश्चात्य इतिहास-दृष्टि इतिहास का आरम्भिक रूप मानती है। वैज्ञानिक इतिहास-लेखन 'मिथ' और 'लेजेण्ड' को इतिहास-बोध का विपर्यय मानता है। इसका कारण पाश्चात्य मनीषा द्वारा आधुनिक काल में इतिहास को ज्ञान के एक अनुभववादी, तथ्यपरक प्रभेद के रूप में स्थापित किया जाना है। यह इतिहास अतीत के साहित्यिक विवरणों के रूप में उपलब्ध अथवा पुरातात्त्विक अवशेषों इत्यादि के रूप में उपलब्ध 'चिन्हों' पर आधारित इतिहास होता है। ये चिन्ह इतिहास रचना की आधारभूत सामग्री अथवा तथ्य हैं। ये तथ्य सत्यापनीय होते हैं। जिनकी, इतिहासकार एक संगत व्याख्या प्रस्तुत कर एक घटनावली के रूप में

उन्हें एक सूत्र में पिरोता है। तथ्यों का निश्चितीकरण व प्रामाणीकरण तथा उनकी व्याख्या ये दोनों प्रक्रियायें परस्पर पूरक एवं सहवर्ती प्रक्रियायें हैं।[9] यहाँ यह ध्यातव्य है कि आधुनिक पश्चिम ने अपने इतिहास-लेखन का स्रोत हेरोडोटस और थ्यूसीडिडीज़ की रचनाओं में देखा। हालांकि इस बात से शायद ही कोई इंकार करे कि उक्त यूनानी इतिहाकारों की कृतियों में बहुत कुछ ऐसा है जो वैज्ञानिकता की पाश्चात्य कसौटी पर खरा नहीं उतरता। फिर भी यह कोई भी स्वीकार करेगा कि यूनानी इतिहासकारों ने तथ्य परक् इतिहास लिखने का प्रयास किया था।

भारतीय इतिहास-बोध

भारत में इस प्रकार के इतिहास-लेखन की परम्परा का अभाव दिखाई पड़ता है। इसलिये, भारतीय संस्कृति को 'इतिहास-रहित' संस्कृति अथवा इतिहास-विहीन संस्कृति कहा जाता है। इसका कारण, जैसी कि सामान्य धारणा है, 'इतिहास-बोध' का अभाव होना माना जाता है।[10] 'इतिहास-बोध' पद का प्रयोग अनेकार्थक रूपों में हुआ है। कई बार कहा जाता है कि भारतीय अपनी परम्परा की मूल्यवत्ता के प्रति, उसे बनाये रखने के प्रति अथवा परम्परा के प्रति उदासीन थे। वे परम्परा में जीते थे इस चेतना के बिना कि वे अपनी परम्परा के वाहक हैं। भारतीयों के 'इतिहास-बोध' को लेकर यह भी कहा जाता है कि पश्चिमी विद्वानों ने भारत के अतीत का पुनराविष्कार किया और इस आविष्कृत अतीत को उन्होंने भारतीयों को प्रदान किया। दूसरे शब्दों में, भारतीयों को उनका अतीत (इतिहास) पाश्चात्य विद्वानों ने प्रदान किया। यह कहना उचित नहीं है। कोई भी संस्कृति अपनी परम्परा के प्रति अचेतन नहीं होती, हो ही नहीं सकती। अपनी परम्परा के प्रति अचेतन होने का अर्थ है स्मृति-विहीन होना, पहचान-रहित होना। भारतीय संस्कृति की प्राचीनता और निरंतरता असंदिग्ध है। उसे परम्परा-बोध, इतिहास-बोध से रहित कैसे कहा जा सकता है? यही अन्य संस्कृतियों के लिये भी सत्य है।

भारतीय संस्कृति की परलोकोन्मुखी दृष्टि और इतिहास-बोध के अभाव का प्रश्न

अनेक विद्वान यह कहकर भारतीयों में इतिहास-बोध को नकारते हैं कि वे अतीत को रेकॉर्ड करने अथवा अभिलिखित करने अथवा संरक्षित करने में रुचि नहीं रखते थे। यहाँ जो संरक्षित किया गया वो देवाख्यानों व वीराख्यानों अथवा चरितों के रूप में मिलता हैं। भारतीय संस्कृति के विषय में जो बात असंदिग्ध मानी जाती है वह यह है कि भारतीयों ने अपने अतीत का तथ्यपरक अनुसन्धान करने का प्रयास कभी नहीं किया और भारतीयों की अतीत विषयक दृष्टि पौराणिक अथवा 'मिथकीय' थी। अब यह एक सर्वस्वीकृत धारणा है। ऐसा क्यों था और क्यों है? इसका जो उत्तर सामान्यतः दिया जाता है वह है : भारतीय संस्कृति की मूल मनोवृत्ति आध्यात्मिक है। इसलिये लोक उसकी उत्सुकता का विषय नहीं है और इतिहास का सम्बन्ध लोक से है। अतः वह उसके प्रति उदासीन है। भारतीयों की इतिहास के प्रति उदासीनता का कारण उनकी आध्यामिकता अथवा परलोकोन्मुखता को मानना उचित प्रतीत नहीं होता। कोई भी संस्कृति पूर्णरूपेण आध्यात्मिक नहीं होती और न ही पूर्णतया आध्यात्मिकता से रहित होती है। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक इस अर्थ में है कि यहाँ जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष आध्यात्मिक है। किन्तु लौकिक जीवन की कामनाओं, अभीप्साओं को लेकर यहाँ कभी उदासीनता नहीं रही। पुरुषार्थ भारतीय जीवन-दृष्टि की सर्वांगीणता को अभिव्यक्त करते हैं। इसलिये भारतीय संस्कृति की 'अनैतिहासिकता'[11] का कारण आध्यात्मिकता को नहीं माना जा सकता। वास्तव में तो, भारतीय संस्कृति को छोड़िये, किसी भी संस्कृति में इतिहास-बोध का अभाव देखना सिद्धान्ताग्रह से ग्रस्त होना है। ऐसा सिद्धान्ताग्रह जो पाश्चात्य इतिहास-बोध को संस्कृति-सापेक्ष न मानते हुए सार्वभौम मानता है और उसके तर्क से अन्य संस्कृतियों में इतिहास-बोध को अनुपस्थित पाता है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति को 'भाग्यवादी' कहा जाता है और इस कारण उसके 'अनैतिहासिक' होने को प्रमाणित किया

जाता है। भाग्यवाद को 'कर्मवाद' के सिद्धान्त से भी जोड़ा जाता है। किन्तु कर्मवाद भग्यवाद का जनक नहीं माना जाना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म के लिये स्वयं उत्तरदायी है, यह कर्मवाद के सिद्धान्त का आधार है। इसमें भाग्य अथवा प्रारब्ध को देखना उचित प्रतीत नहीं होता। मनुष्य की वर्त्तमान स्थिति के निर्धारक उसके पूर्व कर्म होते हैं। इन कर्मों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी होता है। किन्तु भारतीयों को भाग्यवादी कहने वाले इस बात को नज़रअन्दाज़ करते हैं। उनके अनुसार, भारतीय वर्त्तमान के प्रति इसलिये उपेक्षा का भाव रखते कि वे उसे अपना प्रारब्ध मानते हैं और उसमें (वर्त्तमान में) किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता की संभावना नहीं देखते। उनके लिये वर्त्तमान दुर्निवार्य है, जैसा है वैसा ही रहेगा। इस प्रकार, यह भाव वर्तमान के प्रति उदासीनता का कारण है और वर्त्तमान के प्रति उदासीनता अतीत के प्रति उत्सुकता की संभावना समाप्त कर देती है। किन्तु जैसाकि हमने इंगित किया कि कर्म का सिद्धान्त भाग्यवाद का विपर्यय है, ठीक उसका उल्टा।

भारतीय संस्कृति की लोकोन्मुखी व अनुभववादी परम्पराएँ और इतिहास-बोध

यही नहीं, भारत में अर्थ, राजनीति, प्रशासन आदि पर मूल ग्रन्थों व उनपर टीकाओं की लम्बी परम्परा रही है। जो मनुष्य के कर्म के प्रति और कर्म विषयक अध्ययनों में भी आनुभविक (इम्पिरिकल) और आगमनात्मक (इंडक्टिव) पद्धतियों व दृष्टिकोणों की उपस्थिति का प्रमाण है। इसी प्रकार काव्य में दृष्टांतों के माध्यम से लौकिक जगत में व्यवहार का विदग्ध विश्लेषण मिलता है। जो लौकिक जगत को साधने और उसमें अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये मार्गदर्शन की दृष्टि से भी उपयोगी है। इससे भारतीयों के परलोकोन्मुखी होने को लेकर दिया गया तर्क खोखला सिद्ध होता है।

इसी प्रकार भारतीय दर्शनों की ज्ञानमीमांसा में भी आनुभविकता की ओर पर्याप्त झुकाव दिखायी देता है। प्रामाणिक ज्ञान के प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण को एक आधारभूत माना गया है। भारतीय दर्शन के सभी प्रमुख सम्प्रदायों में आगमनात्मक पद्धति एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इतना ही नहीं, शंकराचार्य भी इस जगत को, हमारे अनुभव के जगत् को, उस प्रकार का भ्रम नहीं मानते जैसाकि रज्जु में सर्प के होने का भ्रम होता है। न ही वे इसे स्वप्नवत् मानते हैं। उनके अनुसार यह सभी के अनुभव का सामान्य और व्यवस्थित और कार्य-कारण नियमों से निर्धारित जगत् है।

किन्तु इसके बावजूद भी यह तर्क हो सकता है कि अपने अतीत के प्रति भारतीयों का दृष्टिकोण अनुभववादी अथवा आनुभविक नहीं था। किन्तु यह भी पूर्णतः सत्य नहीं है। हमें स्मृतियों में और तदन्तर निबन्ध ग्रन्थों के न्यायिक प्रकरणों में प्रयोग में आने वाली आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक पद्धतियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनके माध्यम से अतीत की घटनाओं के आधार पर सत्य अथवा असत्य प्रमाणित किया जाता था। ये बुद्धि-सम्यक विधियाँ थीं, जिनमें लेख्य-प्रमाण और साक्ष्य-प्रमाण बहुत महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। स्मृतियाँ लिखित प्रमाण को सर्वाधिक विश्वसनीय प्रमाण मानती हैं, विशेष रूप से ऐसे न्यायिक प्रकरणों में जहाँ श्रेणियों अथवा व्यापारियों की श्रेणियों के बीच विवाद हो। इस प्रकार की बड़ी सामाजिक इकाईयाँ अवश्य ही अपनी गतिविधियों के विवरण सम्बन्धी दस्तावेज रखती होंगी। भारत में मौर्यकाल तक आते आते दस्तावेजों के संधारण की व्यवस्था विकसित हो चुकी थी। इस काल से राज्य द्वारा भी विभिन्न स्तरों पर दस्तावेज संधारित किये जाने लगे थे। इनमें दैनिक राजनीतिक गतिविधियों के रिकार्ड भी रखे जाते थे। कौटिल्य कानिक नामक एक राज्य कर्मचारी का उल्लेख करता है जो इस प्रकार के रिकार्ड आदि का संधारण करता था। गुप्त काल में इस कार्य को करने वाला अधिकारी अक्षपटलाधिकृत कहलाता था। कानूनी दस्तावेजों को - दान व क्रय-विक्रय विलेख, राज्य द्वारा दिये जाने वाले निर्णय, जो जयपत्र कहलाते थे, राज्य से मिलने वाले दानादि के पत्रें - भी

रखा जाता था। स्मृतियों में दस्तावेजों के प्रकारों, उनकी प्रामाणिकता की पहचान आदि पर भी विस्तृत चर्चा मिलती है।[12] प्रमाणीकरण अर्थापत्ति के द्वारा किया जाता था। किसी घटना अथवा घटनाओं को व्याख्यायित करने अथवा सिद्ध करने के लिये किसी अन्य घटना अथवा घटनाओं की मदद लेना अर्थापत्ति कहलाता है। युक्तिदीपिका में इसे इस उदाहरण से समझाया गया है : मान लीजिये कि हम किसी गहरे नाले के पास एक सिंह और एक वराह को लड़ते देखते हैं और थोड़ी देर बाद सिंह को अकेले उसके शरीर पर रक्त के चिन्हों के साथ देखते हैं तो यह अनुमान स्वाभाविक होगा कि इस लड़ाई में सिंह की ही विजय हुई है। इसी प्रकार स्मृतियों में युक्ति, जिसे हम परिस्थिति जन्य साक्ष्य कहते हैं, पर चर्चा आती है।[13] युक्ति को दस्तावेजों और साक्षियों से अलग अतिरिक्त प्रमाण के रूप में माना गया है। यदि किसी घटना का कोई प्रत्यक्षदर्शी न हो तो परिस्थिति स्वयं साक्ष्य हो जा सकती है : यदि किसी जलते हुए घर के पास कोई जलती हुई लकड़ी के साथ मिले तो वह दोषी है; यदि कोई हथियार के साथ हत्या स्थल के पास मिले तो वह हत्यारा है; यदि कोई किसी और की पत्नी के साथ आलिंगनबद्ध मिले तो वह व्यभिचारी है, आदि, आदि।[14] किन्तु युक्ति पर आधारित निष्कर्ष गलत हो सकते हैं, अतः युक्ति पर आधारित निष्कर्ष की पुष्टि के लिये अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता होती थी, जिसे युक्तिलेश कहा जाता था। जिसके प्राप्ति समय, घटनास्थल और घटनाक्रम की सूक्ष्म जाँच-पड़ताल से होती थी।[15]

दस्तावेजों के बाद साक्षी सूचना का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत माने जाते थे। किन्तु, जुआरियों के बीच विवाद अथवा बाज़ार के विवादों आदि में साक्षी की गवाही सर्वोपरि मानी जाती थी। मदनप्रदीपिका में साक्षियों का वर्गीकरण मिलता है। निरपेक्ष और प्रत्यक्षदर्शन का साक्ष्य सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता था। न्यायिक प्रकरणों में साक्षी की गवाही का बहुत महत्त्व होता है, इसे घ्यान में रखते हुए उनके साक्षीत्व पर भी सूक्ष्मता से विचार हुआ है। विशेष रूप से यह पहलू कि अतीत के लिये प्रमाण के रूप में स्मृति के प्रामाणिक साक्ष्य होने की सीमा क्या है। ऐसी घटनायें जो सुदूर अतीत की हैं उनके लिये पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आयी अनुश्रुति को पर्याप्त जाँच के बाद स्वीकार किया जाता था। किन्तु इस प्रकार के साक्ष्य की प्रामाणिकता की भी सीमा निर्धारित की गयी थी और यह माना गया कि एक सीमा के बाद तथ्यों के निर्धारण की दृष्टि से मानव स्मृति अविश्वसनीय है। इस काल को स्मार्तकाल कहा जाता था, इस समयावधि में स्मृति को प्रामाणिक माना जाता था। मिताक्षरा, मानव जीवन की पूर्णावधि सौ वर्ष को स्मार्तकाल मानती है, किन्तु बहुत से दूसरे स्मृतिकार इससे कम अवधि को स्मार्तकाल मानते हैं।[16] स्मार्तकाल के संदर्भ में यहाँ ऐतिहासिक (परम्परा से प्राप्त प्रमाण) को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने को लेकर विवाद का उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा। कुछ लोग, विशेष रूप से पौराणिक ऐतिह्य को प्रमाण मानते थे। परम्परागत रूप से चली आ रही अनुश्रुतियों को पौराणिक प्रमाण के रूप में स्वीकारते थे। किन्तु कोई भी सजग दार्शनिक ऐतिह्य को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि यदि हम उन वृद्धजनों की मानेंगे, जो पीछे से चली आ रही कही-कहायी बातों को दोहराते रहते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि 'इस वृक्ष पर यक्ष का बसेरा है'।[17] इससे यह स्पष्ट है कि अप्रामाणिक और सुनी-सुनायी बातों पर आधारित तथ्यों को अविश्वसनीय माना जाता था। अनुभव जन्य तथ्यों पर आधारित निर्णय अनन्तिम माने जाते थे, नये तथ्यों के प्रकाश में आने पर ये निर्णय अप्रामाणिक हो जा सकते हैं। इतिहासकार इस तथ्य को भलीभांति जानते हैं। प्राचीन न्यायालयों को इसका संज्ञान था। इस कारण पुनर्व्यवहार की व्यवस्था थी। जब कोई निर्णय गलत या पूर्वाग्रहग्रस्त या साक्ष्य त्रुटिपूर्ण पाया जाता था तो प्रकरण का पुनरीक्षण किया जाता था।[18] उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि भारतीय अनुभव व तथ्यपरक् इतिहास की रचना कर सकते थे। कॉलिंगवुड के अनुसार तथ्यों के सत्यापन के लिये न्यायालय में प्रयुक्त होने वाली पद्धति और इतिहासकार द्वारा तथ्यों के निर्धारण व प्रमाणीकरण हेतु प्रयोग में लायी जाने वाली पद्धति, ये

दोनों समानान्तर पद्धतियाँ हैं। इसीलिये कल्हण और उसके अनुगामी जिन्हें यह परम्परा उपलब्ध थी तथ्यपरक इतिहास लिखा भी। किन्तु जैसा कि हमने पीछे उल्लेख किया कि भारतीय इतिहास-बोध पाश्चात्य इतिहास-बोध से भिन्न था। इसलिये अतीत का तथ्यपरक् अनुसंधान उनके लिये उत्सुकता का विषय नहीं था। जहाँ - न्याय व आन्वीक्षकी के क्षेत्र में - ऐसी तथ्यपरक दृष्टि की आवश्यकता थी वहाँ यह पर्याप्त विकसित दिखायी पड़ती है।

कुछ विचारक मानते हैं कि यदि भारतीय इतिहास-बोध को देखना है तो वह हमें यहाँ के शासकों द्वारा समय-समय पर जारी अभिलेखों में मिलेगा। सम्पूर्ण भारत में 90,000 से अधिक अभिलेख प्राप्त हुए हैं और इनकी संख्या निरन्तर बढ़ रही है। इन अभिलेखों में शासकों ने न केवल अपने कार्यों व उपलब्धियों को रिकार्ड कराया है, साथ ही उन्होंने अपनी वंश-परम्परा और कभी अपने पूर्ववर्ती शासकों के क्रम में स्वयं के कार्यों का विवरण दिया है। इन अभिलेखों से हमें तथ्यपरक विवरण प्राप्त होते हैं। हालांकि इनमें स्थान-स्थान पर साहित्यिक आलंकारिकता और अतिरंजना भी दिखायी पड़ती है।[19] किन्तु इन अभिलेखों में कोई एक कालक्रम नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में, ये अभिलेख किसी एक काल-योजना का अनुसरण नहीं करते। बहुत से अभिलेख संवत् वर्षों में दिनांकित हैं। बहुत से अन्य वर्णित घटनाओं को शासकों के शासन-कालखण्ड में कालक्रमित करते हैं— घटनायें शासक विशेष के राज्यकाल के वर्षों के क्रम में व्यवस्थित की गयी मिलती हैं, अथवा यूं कहें, फलाँ घटना राज्यकाल के फलाँ वर्ष में हुई, यह काल-क्रम मिलता है। किसी एक व्यापक कालक्रम के अनुसरण का अभिलेखों में अभाव दिखायी पड़ता है। ऐसे में यह प्रश्न उठाया जाता है कि किसी काल-बोध व कालक्रम के अभाव में आभिलेखिक तथ्यपरकता को सही अर्थों में इतिहास-बोध माना जा सकता है?

इसके बावजूद यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारत में मानव इतिहास विषयक जो योजना सर्वमान्य थी वह नैतिक भेद पर आधारित युगों की थी - कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। किन्तु इन युगों को आज पौराणिक माना जाता है, कल्पना मात्र। क्योंकि इन युगों की ऐतिहासिकता तथ्य-सिद्ध नहीं है। किन्तु भारतीय इन्हें वास्तविक मानते थे। यह भी सर्वमान्य था कि वर्त्तमान युग कलियुग है। अब, यदि कलियुग के अन्तर्गत किसी प्रकार की काल-योजना को कल्पित किया जाता और भारतीय शासक अपने अपने अभिलेखों को और राज्यकालों को उसी योजना में कालक्रमित करते तो वह पाश्चात्य इतिहास-बोध के समानान्तर होता। अथवा यहाँ के इतिहासकारों द्वारा यह कार्य किया जाता। जैसाकि जूडिओ-ईसाई इतिहास-बोध में दिखायी पड़ता है - जो सृष्टि से काल गणना का, इतिहास का, आरम्भ परिकल्पित करते हैं और लास्ट जजमेण्ट में इसकी परिणति। यह एक ऐसा तारतम्य है जिसमें मनुष्य का संपूर्ण इतिहास अवस्थित है। किन्तु भारत में ऐसी कल्पना नहीं की गई। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या काल की ऐसी या इस जैसी किसी कल्पना पर आधारित इतिहास को ही इतिहास कहा जा सकता है? कम से कम पाश्चात्य विचारक और इतिहासकार व इनके अनुयायी ऐसा मानते प्रतीत होते हैं। किन्तु हम यहाँ पुनः दोहरायेंगे कि भारतीयों का अतीत-बोध यूरोपियन अतीत-बोध से भिन्न प्रकार का था। पश्चिम में जो अतीत-बोध उन्नीसवीं शताब्दी में उभरा, जिसे 'इतिहासवाद' कहा जाता है। वह काल की ईसाई योजना पर ही आधारित है। अन्तर बस इतना है कि विज्ञान के प्रभाव के कारण इतिहासकार के विवरण में अतीत के तर्क-सिद्ध होने अथवा यथातथ्य होने पर बहुत आग्रह था। इतिहासकार के उद्देश्य के विषय को लेकर रांके की यह उक्ति 'wie es eigentlich gewesen', कि 'जैसा वास्तव में घटित हुआ' वैसा ही प्रस्तुत करना इतिहासकार का उद्देश्य है और इसी प्रकार, जे.बी. बरी का कथन कि History is science, 'no less no more', इतिहास विज्ञान है, 'न कम न ज्यादा' इतिहास विषयक उक्त आग्रह की ही अभिव्यक्तियाँ

हैं। किन्तु यहाँ हम इस विवाद में नहीं जायेंगे कि क्या अतीत का वैसा ही वर्णन संभव है जैसा वह घटित हुआ था। यहाँ कम से कम इतना कहना अवश्य उपयुक्त होगा कि यह जाँच पाने के लिये हमारे पास कोई कसौटी नहीं है कि इतिहासकार ने वैसा ही वर्णन किया है जैसा कि घटित हुआ था। क्योंकि इतिहास जिन साक्ष्यों और तथ्यों पर आधारित होता है वे स्वयं निरपेक्ष नहीं होते, वे उन व्यक्तियों के सापेक्ष होते हैं जो उन साक्ष्यों और तथ्यों के प्रस्तुतकर्त्ता होते हैं। वैसे 'इतिहास' शब्द का भी अर्थ यही है : जैसा वास्तव में हुआ। हमने आरम्भ में 'वास्तविक' अतीत और 'ऐतिहासिक' अतीत में भेद किया था। वहाँ हमने 'संचित अतीत' को ऐतिहासिक अतीत कहा था और यह वह अतीत होता है जो सामाजिक स्मृति में धारित होता है और वर्त्तमान का अपरिहार्य अंग होता है। किन्तु यहाँ यह रेखांकित कर देना उचित होगा कि आज का इतिहासकार समीक्षात्मक तर्कबुद्धि से तथ्यों को जाँचकर, विभिन्न स्रोतों से उनकी सम्पुष्टि कर उनका निर्धारण करते हुए इतिहास का सर्जन करता है। किन्तु यह प्रवृत्ति आधुनिक प्रवृत्ति है, एक नई दृष्टि है। जहाँ तक संभव हो इतिहास का वस्तु-तंत्र, यथातथ्य निरूपण आज के इतिहासकार का उद्देश्य है। पुराणों में अथवा पुराणेतर ऐतिहासिक साहित्य में ऐसी साक्ष्य-मूल प्रामाणिकता अथवा वस्तुतंत्र्ता की चेष्टा दिखायी नहीं पड़ती।

वास्तव में बात दृष्टि की ही है। किसी 'इतिहास-दृष्टि के बिना विगत के किसी इतिवृत्त का - घटना प्रवाह का - कोई सार्थक चित्र नहीं उभर सकता, जिसके बारे में यह कहा जा सके कि 'यह हुआ था', 'वृत्तान्त यह है'। यही बात कहानी कहने में होती है, और वहाँ किसी वस्तु-तंत्र साक्ष्य की अपेक्षा नहीं होती - पर कहानी हो या इतिहास, दोनों में घटनायें नहीं गिनाते, घटनाओं को अवयवी का रूप देते हैं जो दृष्टि सापेक्ष है। तो, दृष्टि साक्ष्य का अतिक्रमण करती है - इतिहास रच रही हो या कहानी, दृष्टि साक्ष्य को अपना विषय बनाती है, साक्ष्य से बँधती भी है तो साक्ष्य को देखती ऊपर रहती है : साक्ष्य उसे नहीं बनाता, उलटे वही साक्ष्य को चुनती-बुनती, उसे इतिवृत्त का व्यवस्थित रूप देती है। साक्ष्य क्या है, साक्ष्य में सार्थक क्या है, यह भी दृष्टि ही तय करती है। तभी इतिहास-बोध में सहज अनेकान्त होता है - वस्तु-तंत्रता की मांग के साथ भी। सच तो यह है कि वस्तुतंत्र क्या, प्रामाणिक क्या, यह प्रश्न भी दृष्टि से अछूता नहीं होता.... ।[20]

भारतीय इतिहास परम्परा

भारतीय संस्कृति को अ-ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि के आधार पर कहा जाता है। इस कथन में अन्तर्निहित भाव यही है कि इतिहास-बोध है अथवा नहीं इसकी निर्धारक कसौटी यही दृष्टि है। किन्तु भारतीय परम्परा में इतिहास को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था और उसकी इतिहास-दृष्टि भिन्न थी। यह सुविदित है कि शिक्षा के छः अंगों में इतिहास को भी सम्मिलित किया गया था। शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद् में ऐतिहासिक ज्ञान को इतिहास-वेद कहा गया है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि भारत में वेदों को सर्वोपरि माना जाता है। इतिहास को वेद कहा जाना इसके महत्त्व को रेखांकित करता है। 'आख्यान' तथा 'पुराण' शब्दों का प्रयोग भी इतिहास के साथ और कभी उसके पर्याय के रूप में भी होता था। ऐतिहासिक ज्ञान के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द इतिहास-पुराण वास्तव में एक संश्लिष्ट शब्द है। स्वतंत्र रूप से पुराण शब्द एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है और यह व्यापक अर्थ इसने कालान्तर में ग्रहण किया। हालाँकि वैदिक काल में इसका अर्थ पुरानी कहानी भी था।[21] वैदिक साहित्य में वंश, गाथाओं, नाराशंसी व दानस्तुतियों के रूप में ऐतिहासिक लेखन मिलता है। वैदिक काल में ही नहीं परवतह्न काल में भी इतिहास को वेद कहने की परम्परा विद्यमान थी। अर्थशास्त्र में उल्लेख आता है कि साम, ऋक् और यजुष् ये तीन वेद वेद-त्रयी बनाते हैं और इतिहासवेद के साथ ये वेद के नाम से जाने जाते हैं। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या में इतिहास-श्रवण को एक महत्त्वपूर्ण क्रिया बताया है। वे कहते हैं कि 'राजा को मध्याह्न से पूर्व का समय सैनिक प्रशिक्षण में बिताकर

मध्याह्न का समय इतिहास-श्रवण में बिताना चाहिये।' इसी प्रसंग में वे इतिहास के घटकों का भी उल्लेख करते हैं तथा पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र को इतिहास के अन्तर्गत रखते हैं।[22] इससे यह स्पष्ट है कि इतिहास के अन्तर्गत न केवल राजनीतिक घटनाचक्र - राजाओं व राजाओं के उत्थान और पतन - ही इतिहास में सम्मिलित थे, बल्कि सामाजिक अथवा लौकिक व धार्मिक ज्ञान की परम्परा भी सम्मिलित थी।[23]

वैदिकोत्तर काल में रामायण, महाभारत और पुराणों को इतिहास कहा जाता था। पुराण इतिहास को एक सार्वभौमिक इतिहास के संदर्भ में रखते हैं।.... पुराणों में मनुष्य की कालयात्र का जो बोध उभरता है, उसमें... कर्म ही मनुष्य को आँकने की कसौटी है; पर साधारण इतिहास से एक बड़ा अंतर भी है : पुराणों में कर्म का अर्थ राज्य-राजनीति की उलट-पुलट या उथल-पुथल से नहीं बँधा है, व्यापक है - उसका संबंध मनुष्य की मूलभूत चेतना से है, औचित्य-बोध से - धर्म से - आरोह-अवरोह, उदात्त-उनुदात्त से। मर्म की बात यह है कि मनुष्य के व्यवहार को यहाँ मनुष्य की चेतना से आँका गया है, उस चेतना से जो व्यवहार को प्रेरित करती है - यों व्यवहार को चेतना-प्रसूत देखा गया है।[24] इनके अतिरिक्त जिस 'साम्प्रदायिक साहित्य' में हमें इतिहास मिलता है उसके अन्तरर्गत ब्राह्मण ग्रन्थ, जिनमें पौरोहित्य कर्म करने वाले परिवारों की सूचियाँ मिलती हैं; बौद्धों के पाली और जैनों के अर्धमागधी ग्रन्थ जिनमें प्राचीन राजाओं, उनके युद्धों व अन्य घटनाओं व इन सम्प्रदायों के संघों के विकास के विवरण मिलते हैं। इसी प्रकार, लौकिक व राजकीय प्रश्रय में रचित इतिवृत्तात्मक साहित्य जिसे चरित साहित्य कहा जाता है के अन्तर्गत आने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं : बाण का हर्षचरित, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित, पद्मगुप्त का नवसाहसांकचरित, जयदेव व हेमचन्द्र के कुमारपालचरित, संध्याकर नन्दी का रामदेवचरित, वाक्पतिराज का गौढ़वहो और पृथ्वीराजविजय। यद्यपि ये ग्रन्थ तत्कालीन इतिहास की जानकारी देते हैं, तथापि साहित्यिक अतिरंजना आदि के कारण उनको ऐतिहासिक ग्रन्थों के रूप में आज की आलोचनात्मक बुद्धि स्वीकार नहीं करती। केवल कल्हण की राजतरंगिणी इसका अपवाद है। वी एस पाठक ने ऐन्शिएण्ट हिस्टोरियन्स ऑव इण्डिया में भारत में इतिहास-लेखन की वैदिक काल से चली आ रही सुदीर्घ परम्परा व वैदिक काल में भी ऐतिहासिकों की शाखा का होना स्थापित किया है। इसी प्रकार ए.के. वार्डर की पुस्तक एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी भारतीय इतिहास लेखन और इतिहास-बोध पर विस्तार से प्रकाश डालती है।

अन्त में स्पष्टता की के लिये पुनः पाश्चात्य इतिहास-बोध के संदर्भ से भारतीय इतिहास-बोध पर संक्षिप्त चर्चा अस्थाने न होगी।

पश्चिमी संस्कृति स्वयं को अन्य संस्कृतियों की तुलना में सर्वाधिक इतिहास-बोध सम्पन्न मानती है। वहाँ यह धारणा बद्धमूल है कि पश्चिम का इतिहास-बोध अन्य इतिहास-बोध सम्पन्न संस्कृतियों से कहीं अधिक गहरा है।

अतीत हमारे साथ हमेशा रहता है - यह हमारे परिवेश में भौतिक अवशेषों के रूप में, भवनों, स्मारकों, कलावशेषों के रूप में हमारे आस-पास; पुराणों और आख्यानों, जनश्रुतियों के रूप में हमारी स्मृति में सुरक्षित रहता है। यह भी सत्य है कि सभी समाज इतिहास का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। किन्तु बहुत से समाजों व संस्कृतियों, विशेष रूप से पौर्वात्य संस्कृतियों ने काल को अथवा कालक्रम को वह महत्त्व कभी नहल्र दिया जैसा पाश्चात्य संस्कृति ने दिया है। धर्मो के सुप्रसिद्ध इतिहासकार इलिआडे मर्सिया की यह टिप्पणी इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है कि पारम्परिक अथवा आदिम/प्राचीन समाज, जिनमें मनुष्य मानवता के

धरती पर अवतरण के बाद से अधिकांश समय रहता रहा है, विशेषरूप से इतिहास को नकारते रहे हैं। यद्यपि इन समाजों में अतीत में 'स्वर्ण-युग' की कल्पना मिलती है और यह सर्वत्र उपलब्ध और मनुष्य के प्रचीनतम मिथकों में से एक मिथक है। तथापि प्राचीन मानव कालातीत अथवा काल-रहित आयाम में अथवा 'शाश्वत वर्त्तमान' में रहता है, जिसमें प्रत्येक कर्म आनुष्ठानिक रूप से आद्य कर्मो (Primordiāl Acts) का अनुसरण मात्र है। इस कारण वह कालिकता के आयाम से, उसके वास्तविक अर्थ से वंचित हो जाता है। पाश्चात्य विचारकों का मत है कि भारतीयों की विचार प्रक्रिया में काल महत्त्वहीन है, उसे किसी भी प्रकार की तात्त्विकता से वंचित रखा गया है। इसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा में लाखों वर्षों के कालचक्रों की कल्पना मिलती है, जो पुनः पुनः अपनी आरंभिक स्थिति में लौटते रहते हैं - सृष्टि, प्रलय, फिर पुनः सृष्टि, इस प्रकार अस्तित्त्व का यह चक्र अनवरत चलता रहता है। इस प्रक्रिया का कोई लक्ष्य नहीं है, यह कालचक्र का दुर्निवार व अटूट सिलसिला है। ऐसे मानस में इतिहास के लिये क्या स्थान हो सकता है? भारतीय धर्म और दर्शन - ब्राह्मण, बौद्ध अथवा जैन, सभी - अस्तित्त्व के इस चक्र को भवचक्र कहते हैं और उनका उद्देश्य इससे मुक्ति है। चीनी संस्कृति इतिहास को, लोक को, महत्त्व देती है और वहाँ इतिहास को, ऐतिहासिक घटनाओं के विवरणों को, संचित रखने की परम्परा रही है, किन्तु इतिहास विषयक उसका चक्रीय दृष्टिकोण इतिहास के पाश्चात्य मानदण्ड पर अपेक्षाकृत उसे अनैतिहासिक बना देता है। इसी प्रकार, मिश्र, सुमेर और बेबीलोन की सभ्यताओं में भी ऐतिहासिक घटनाचक्रों के विवरण और शासकों की वंशावलियों और उपलब्धियों को रखने का चलन तो था, किन्तु इनमें अर्थपूर्ण अनुक्रम व लक्ष्योन्मुखता का अभाव है। इस कारण ये इतिहास विषयक विवरण तो हैं, किन्तु इतिहास नहीं हैं। उनके लिये घटनाचक्र किसी योजना का फलीकरण नहीं अपितु देवताओं की मनुष्य के लिये अचिन्तनीय अथवा समझ के परे 'इच्छा' अथवा 'सनक' का परिणाम है। इसलिये उसे इतिहास नहीं कहा जा सकता। वैसे ऐतिहासिक विवरणों के संरक्षण का चलन इन संस्कृतियों में इतिहास-बोध का द्योतक कहा तो जा सकता है, क्योंकि यह स्मृति को अक्षुण्ण रखने का, जो रक्षणीय है उसे बचाने का प्रयास है। किन्तु यह बोध है प्राथमिक स्तर का ही। क्योंकि इनमें ऐतिहासिक घटनाओं में किसी अर्थ का, प्रयोजन का प्रकाशन देखने का प्रयास नहीं दिखाई पड़ता। इनके बाद असीरियाई, कैलडिअन और हिट्टाइट राज्यों में भी शासकीय अभिलेखागारों में दस्तावेजों का परिरक्षण किया जाता था। ये विकसित राज्य थे और इनके लिये रिकार्ड का परिरक्षण जहाँ एक ओर व्यावहारिक आवश्यकता थी वहीं ये शासक वर्ग के लिये प्रतिष्ठा और गौरव का भी विषय थे। किन्तु ये अभिलेखागारों में दस्तावेज़ भर हैं। इन दस्तावेज़ों में संकलित घटनाओं का विश्लेषण करते, इन्हे कार्य-कारण श्रृंखला में व्यवस्थित करते अथवा उन्हें संगति प्रदान करते ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं मिलते। यह इतिहास-बोध के अभाव को ही इंगित करता है। यहाँ यह कह देना अस्थाने न होगा कि भारतीय परम्परा में जिन ग्रन्थों को इतिहास कहा गया है उनमें मानवीय घटना-चक्र में अर्थों को ही प्रकाशित किया गया है।

अन्त में, आधुनिक पाश्चात्य इतिहास-दृष्टि, विशेषरूप से इसकी ज्ञानमीमांसा जो आज इतिहास-बोध की सार्वभौम कसौटी के रूप में स्वीकृत है, अन्ततः है एक संस्कृति-सपेक्ष दृष्टि ही। किन्तु आज यही दृष्टि आधुनिक भारतीय इतिहास-बोध का भी आधार है। भारतीय इतिहासकार भी तथ्य-सिद्ध इतिहास को ही इतिहास का वास्तविक रूप स्वीकार करते हैं और तथ्यों के निर्धारण के लिये पाश्चात्य विधि को ही स्वीकार करते हैं।

पी-51, मधुवन पश्चिम
किसान मार्ग, जयपुर-302015

सन्दर्भ -

1. *कॉलिंगवुड, आर जी, द आइडिया ऑफ हिस्टरी, ऑक्स्फर्ड यूनीवलसटी प्रेस, पृ. 28-29*
2. *पांडे, गोविन्द चन्द्र, 'इतिहास की बदलती धारणाएँ', दृष्टि-1, पृ. 1*
3. *शल्य, यशदेव, सत्ताविषयक अन्वीक्षा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, दिल्ली, पृ. 190*
4. *पांडे, गोविन्द चन्द्र, 'इतिहास की बदलती धारणाएँ.... पूर्वोद्धृत पृ. 2*
5. *वही पृ. 2*
6. *वही पृ. 2*
7. *सिंघल, के.सी. व गुप्ता रोशन, द ऐन्शिअण्ट हिस्टरी ऑव इण्डिया, वैदिक पीरियडः अ न्यू इण्टरप्रिटेशन, एटलान्टिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ. 23*
8. *पांडे, गोविन्द चन्द्र, 'इतिहास की...' पूर्वोद्धत, पृ. 2*
9. *देखें, कार ई एच, व्हाट इज़ हिस्टरी, पहला अध्याय, ऑक्सफर्ड यूनिवर्ससिटी प्रेस।*
10. *सिंह, गुरुदेव डॉ. व लाठ, मुकुन्द, 'हिस्टरी इन एन्शिएण्ट इण्डियाः एन आर्ग्युमेण्ट फ्रॉम लीगल ट्रेडिशन', जेएलएनः स्डीज़ इन लॉ, जयपुर इण्डिया, वाल्यूम 18, संख्या 1, 1977-78, पृ. 17*
11. *यहाँ यह दोहरा देना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति अनैतिहासिक इतिहास के पाश्चात्य मानदण्ड से है, वास्तव में नहीं।*
12. *देखें, याज्ञवल्क्य स्मृति व मिताक्षरा, चर्चा के लिये देखें, 'हिस्टरी इन एन्शिएण्ट इण्डियाः एन आर्ग्युमेण्ट..' पूर्वोद्धृत पृ. 20-22*
13. *कात्यायण स्मृति, मदनरत्नप्रदीपिका में उद्धृत पृ॰ 77; यहाँ 'हिस्टरी इन एन्शिएण्ट इण्डियाः एन आर्ग्युमेण्ट...' पूर्वोद्धृत पृ. 21 से उद्धृत*
14. *मदनरत्नप्रदीपिका में उद्धृत पृ. 77, यहाँ 'हिस्टरी इन एन्शिएण्ट इण्डियाः एन आर्ग्युमेण्ट...' पूर्वोद्धृत पृ. 21 से उद्धृत*
15. *मदनरत्नप्रदीपिका में उद्धृत पृ. 79, यहाँ 'हिस्टरी इन एन्शिएण्ट इण्डियाः एन आर्ग्युमेण्ट...' पूर्वोद्धृत पृ. 21 से उद्धृत*
16. *काणे, पी.वी., हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, वाल्यूम 3, भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे, पृ. 321*
17. *'हिस्टरी इन एन्शिएण्ट इण्डियाः एन आर्ग्युमेण्ट...' पूर्वोद्धृत पृ. 22*
18. *मदनरत्नप्रदीपिका नारद को उद्धृत करते हुए करती है पृ. 133; यहाँ 'हिस्टरी इन एन्शिएण्ट इण्डियाः एन आर्ग्युमेण्ट...' पूर्वोद्धृत पृ. 22 से उद्धृत।*
19. *विस्तार के लिये देखें शर्मा, अरविन्द, हिन्दुइज़्म एण्ड इट्स सेन्स ऑव हिस्टरी, अध्याय 4*
20. *लाठ, मुकुन्द, 'सभ्यता की धारणा और भारत में नृत्तः कला की स्वायत्तता का प्रत्यय', उन्मीलन, वर्ष 20 अंक 2, जुलाई, 2006 पृ. 176*
21. *अथर्ववेद, 11.10.7; यहाँ पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, इतिहासः स्वरूप एवं सिद्धान्त, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 89 से उद्धृत*
22. *कौटिल्याज़ अर्थशास्त्र, अंग्रेज़ी अनुवाद, आर शामाशास्त्री, इलेक्ट्रानिक एडिशन, पृ 10, 14। यह एडिशन (https://archive.org/details/Arthasastra_English_Translation/page/n0) पर उपलब्ध है।*
23. *उपर्युक्त चर्चा के विस्तार के लिये देखिये इतिहासः स्वरूप एवं... पूर्वोद्धृत, अध्याय-7*
24. *लाठ, मुकुन्द, 'सभ्यता की धारणा और भारत में नृत्तः... पूर्वोद्धृत, पृ. 175*

साहित्य और उसका शिक्षण : अर्थ और आयाम

रवीन्द्र कुमार पाठक

प्रस्तावना :

आज जीवन के हर क्षेत्र, हर आयाम में बाज़ार ने ऐसा दख़ल जमाया और ऐसा दबाव बनाया है कि ज्ञान, कला, संस्कृति, सम्बन्ध, संवेदना आदि मानव-जीवन की अनिवार्य अमूर्त्तताएँ बाज़ार-भाव के तराजू पर तौली जाने लगी हैं। आज 'सार्थक' होने के चिन्तन की जगह 'सफल' होने की चिन्ता ने ले ली है (भले ही वह सफलता किसी तरीके से सिद्ध होती हो)। ऐसे कठिन समय में 'साहित्य' और उसके शिक्षण का घोर अवमूल्यन होना स्वाभाविक है। 'साहित्य' को किसी हद तक 'मज़ेदारचीज' तो आज भी माना जाता है, परन्तु जीवन को सार्थक बनाने वाली निहायत जरूरी चीज कतई नहीं समझा जा रहा। स्थूल-प्रयोजनवादी सोच की शिकार होकर हमारी सामाजिक और सरकारी व्यवस्थाएँ साहित्य के शिक्षण को लेकर बड़ी बेरुखी का परिचय दे रही हैं। उसके शिक्षण को सबसे आखिरी पायदान की वस्तु मानते हुए, सबके बाद बचा-खुचा संसाधन ही उसके नाम पर परोसने का चलन अब आम हो रहा है। ऐसे समय में 'साहित्य' के स्वरूप और उसके शिक्षण के निहितार्थ को लेकर भ्रांतियों का बाज़ार गर्म है। आये दिन प्रशासनिक महकमों और सामाजिक धरातल से ऐसे सवाल गूँजते रहते हैं - 'साहित्य पढ़ने से क्या लाभ?' स्पष्ट है कि 'लाभ' का तात्पर्य यहाँ धन-द्रव्य, भौतिक सुख-साधन आदि जुटाने की क्षमता से लगाया जा रहा है और साहित्य सीधे-सीधे तो यह दे नहीं सकता (क्योंकि उससे जो कुछ प्रयोजन सधता है, वह चाहे कितना भी जरूरी, कितना भी अद्‌भुत हो, पर वह है तो बहुत हद तक अमूर्त्त ही न !), इसलिए ऐसे व्यंग्य-बाणों से उसे छलनी किया जाता रहेगा। साहित्य और उसके शिक्षण को लेकर भ्रांति और बेरुखी के इस अन्धे दौर में यह विमर्शक आलेख, इस सम्बन्ध में हर तरफ पसर रही नकारात्मक सोच के जाल को किसी हद तक तोड़ने में सहायक हो सकता है।

विवेचन :

'साहित्य' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में मूलतः मनुष्य के भावों-रागों पर आधारित और उन्हें उद्‌बोधित-उद्दीपित करने वाली रचनाओं के लिए हुआ था। भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' में इसी अर्थ में कहा था कि 'साहित्य-संगीत और कला से विहीन मनुष्य पूँछ-सींग से रहित होने पर भी साक्षात् पशु है'- साहित्य-संगीत-कला-विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः। परन्तु, आज 'साहित्य' शब्द का अर्थ-विस्तार इतना अधिक हो गया है कि यदा-कदा वाङ्मय-मात्र को भी 'साहित्य' कहने लगे हैं। यानी, भाषा के माध्यम से जो भी व्यक्त या निर्मित होता है, सब कुछ 'साहित्य' है, चाहे वह कविता-कहानी हो, चाहे इतिहास-विज्ञान-समाजशास्त्र या कला का विवेचन हो अथवा चाहे अखबार या सामान्य ज्ञान (G.K. /G.S.) की पुस्तक ही क्यों न हों, व्यापक अर्थ में सब साहित्य हैं।

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 60-73*

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य-सहचर' नामक पुस्तक में (पृष्ठ 1-2), व्यापक अर्थ में प्रयुक्त 'साहित्य' को तीन कोटियों - सूचनात्मक, विवेचनात्मक और रचनात्मक साहित्य - में विभक्त करते हुए अन्तिम को ही साहित्य शब्द का विशिष्ट अर्थ माना है। सूचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत उन्होंने ऐसी पुस्तकों को माना है, जिनसे हम बहुत सी नयी बातों की सूचना पाते हैं, परन्तु उनसे हमारी बोधन-शक्ति या अनुभूति बहुत कम उत्तेजित होती है। जानकारी बढ़ाने के अलावा हमारी बोधन-शक्ति को भी निरन्तर जागरुक व सचेष्ट बनाए रखने वाली पुस्तकों को द्विवेदी जी 'विवेचनात्मक साहित्य' के अन्तर्गत रखते हैं। इस प्रकार के साहित्य के मूल में हमारी विवेक-वृत्ति है, जो निरन्तर भिन्न वस्तुओं, नियमों और धर्मों की विशिष्टता स्पष्ट करती रहती है। विज्ञान, समाजविज्ञान, गणित, दर्शन, तर्कशास्त्र, इतिहास आदि तमाम ज्ञान-विधाएँ इसी श्रेणी में परिगण्य हैं। 'रचनात्मक साहित्य' की श्रेणी में आचार्य द्विवेदी ने ऐसी पुस्तकों को रखा है, जो चाहे नयी जानकारी दें या न दें, परन्तु जो हमारे ही अनुभवों के ताने-बाने से एक नये रस-लोक की रचना करती हैं - हमें सुख-दुख के दुनियावी झगड़ों से ऊपर ले जाती हैं तथा मनुष्य-जाति और उससे भी आगे बढ़कर प्राणि-मात्र को समझने या महसूस करने का हममें नज़रिया विकसित करती हैं। ऐसा साहित्य पाठक/ग्रहीता के हृदय को इस प्रकार कोमल और संवेदनशील बनाता है, जिससे वह अपने क्षुद्र स्वार्थ को भूल कर प्राणिमात्र के सुख-दुःख को अपना समझते हुए, सारी दुनिया के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। इससे उसे स्वार्थगत सुख-दुःख से ऊपर की वह वस्तु मिलती है, जिसे शास्त्रीय भाषा में 'लोकोत्तर आनन्द' कहते हैं।

आचार्य द्विवेदी जिसे 'रचनात्मक साहित्य' कहकर विवेचित करते हैं, वही वास्तविक या शुद्ध 'साहित्य' है, जिसे सर्जनात्मक/रागात्मक/रसात्मक साहित्य भी कह सकते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में सबसे पहले इसी अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग हुआ था। आज तमाम अर्थ-विस्तार के बाद भी 'साहित्य' का यह मूल अर्थ हमारे बोध का हिस्सा बना हुआ है। आमतौर पर जब हम विज्ञान-दर्शन- समाजशास्त्र आदि के समकक्ष या उनके द्वन्द्व में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हमारा आशय इसी तीसरे अर्थ से होता है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि इसी की विधाएँ हैं। इस आलेख में आगे हम इसी अर्थ में 'साहित्य' शब्द का व्यवहार करेंगे।

संस्कृत में 'साहित्य' शब्द अपेक्षाकृत बाद का है। उसकी जगह बहुत पहले से 'काव्य' शब्द का प्रयोग होता आ रहा है। पर, हिन्दी में आजकल 'काव्य' शब्द संकुचित होकर साहित्य की एक विधा 'कविता' के लिए रूढ़ हो चुका है। संस्कृत का 'साहित्य' शब्द अपने गठन में मूलतः भाववाचक संज्ञा है, जो 'सहित' विशेषण से बना है । 'सहित' का अर्थ है 'साथ-साथ' । काव्यशास्त्री भामह शब्द और अर्थ के साहित्य यानी साथ-साथ रहने को 'काव्य' कहते हैं :- 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' ।[1]

परन्तु, ध्यान देने की बात है कि यह 'साथ' सामान्य तरह का न होकर, विलक्षण तरह का होता है। सामान्य तौर पर देखा जाए तो शब्द और अर्थ का साथ तो वाङ्मय-मात्र में है, परन्तु जिसे आमतौर पर 'काव्य' या 'साहित्य' कहा जाता है, उसमें शब्द-अर्थ के बीच सामान्य सम्बन्ध नहीं, बल्कि खास तरह का - कलात्मक सम्बन्ध होता है, जिसमें रमणीयता के प्रकाशन हेतु शब्द और अर्थ एक-दूसरे से होड़ (परस्पर-स्पर्द्धा) करते हुए साथ-साथ अग्रसर होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि साहित्य में खास अर्थ को खास शब्द के द्वारा ही कहा जा सकता है। वाङ्मय के अन्य रूपों से साहित्य का यह बड़ा अन्तर है। उदाहरण-स्वरूप, भूगोल में हम 'हिमालय की सबसे ऊँची चोटी पर....' को 'हिमगिरि के सर्वोच्च शिखर पर....' आदि कई तरह से कह-लिख सकते हैं, पर 'साहित्य' में 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर....'[2] को हम पर्यायवाचियों की मदद से किसी अन्य तरह से कहने

लगें, तो प्रभाव वही नहीं रहेगा, क्योंकि शब्द बदलने से बिम्ब, छन्द, लय, नाद, अलंकार-विधान आदि सब कुछ बदलने लगेगा, जिससे रचना का सौन्दर्य और तात्पर्य प्रभावित होगा। जैसे- 'शिखर' के विशेषण 'उत्तुंग' में नुकीलेपन की जो ध्वनि है, वह उसके पर्यायवाची 'सबसे ऊँची', 'उच्चतम' या 'सर्वोच्च' में कैसे ला पाएँगे? यह है शब्द व अर्थ के बीच बराबरी का रिश्ता। इसके साथ, साहित्य की खासियत यह भी है कि इसमें शब्द-विशेष का अर्थ-विशेष से तयशुदा (Fixed) सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि वह रचना-प्रसंग और अनुभूति के सन्दर्भ से बदलते रहता है। यही कारण है कि विज्ञान या इतिहास की तरह साहित्यिक पंक्ति या कृति का कोई एक अर्थ नहीं होता। भाषा के इस तरह के प्रयोग को कल्पनामय या सौन्दर्यमूलक प्रयोग कहा जा सकता है। चूँकि 'काव्य' में शब्द और अर्थ का ऐसा विलक्षण सम्बन्ध देख गया, इसलिए आगे चलकर 'काव्य' के लिए 'साहित्य' शब्द का प्रयोग होने लगा। इसके साथ, साहित्य की भाषा का उल्लेखनीय पक्ष यह भी है कि इसमें रचनाकार, प्रसंग या विषय के लिहाज़ से, अपने मानसिक शब्दकोश से कुछ चुने हुए शब्दों को लेकर, उनके खास तरह के संयोजन द्वारा अपने सम्प्रेष्य/ व्यंजनीय विषय (किसी व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि) का मानस-चित्र (जिसे बिम्ब कहते हैं) उकेरता है। पाठक या ग्रहीता जब रचना से मुखातिब होते हैं, तब उनके मन में वैसा ही चित्र उभरता है, जिसके ज़रिये वे उसके पीछे कार्यरत रचनाकार की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करते हैं। वर्णनकारी भाषा की जगह, बिम्बमय भाषा ही साहित्य की असली भाषा होती है। इसी से कहना चाहिए कि साहित्य में वर्णन की अपेक्षा चित्रण होता है। 'साहित्य' की व्युत्पत्ति ('सहित') में अनेक विद्वानों ने 'हित' शब्द को भी रेखांकित किया है, जिसका तात्पर्य उनके द्वारा यह निकाला गया कि 'साहित्य' समाज के लिए हितकारी होता है या होना चाहिए।[3]

साहित्य की परिभाषा :

विगत दो-तीन सहस्राब्दियों के अन्तर्गत, दुनिया भर में 'काव्य' या 'साहित्य' को परिभाषित करने के अनगिनत प्रयत्न हुए हैं। किसी आलोचक ने उसके भावपक्ष को केन्द्र में रखकर लक्षण प्रस्तुत किया, तो किसी ने कला-पक्ष को; किसी ने आस्वादन-पक्ष (ग्रहीता) को केन्द्र में रखकर विचार किया, तो किसी ने रचना-प्रक्रिया (रचनाकार) को; और किसी-किसी ने तो सारे पहलुओं को लेकर एक सन्तुलन साधने की कोशिश भी की। इसके साथ यह भी ध्यातव्य है कि सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों और उनके सापेक्ष जीवन-दृष्टियों में जैसे-जैसे बदलाव होते गया है, वैसे-वैसे रचे जाने वाले साहित्य में भी बदलाव आते गया है और 'साहित्य' को लेकर लोगों की समझ भी बदलती गयी है। अतः, किसी एक समय में दी गयी 'साहित्य' की परिभाषा ठीक उसी रूप में किसी अन्य समय में भी मानी जाए, ऐसा सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में, गत ढाई हज़ार वर्षों में उभर कर आये देशी-विदेशी तमाम प्रमुख मतों का सार लेकर आज की तारीख में, 'साहित्य' की एक मुकम्मल परिभाषा बनाने का प्रयत्न करें, तो हम कह सकते हैं :- ''साहित्य वह विधा है, जिसका स्वरूप शब्द-अर्थ के परस्पर- प्रतिस्पर्धी (समतुल) भाव से युक्त भाषा के कल्पनामय (सौन्दर्यमूलक) - बिम्बात्मक प्रयोग के रूप में दृष्टिगोचर होता है, जिसमें मानवीय भावों एवं जीवन-प्रसंगों व मानवीय सम्बन्धों का चित्रण होता है तथा जो अपने साक्षात्कार-कर्त्ताओं (दर्शकों, पाठकों, श्रोताओं) में तत्तुल्य भाव-बोध या रसानुभूति जगाने की क्षमता रखती है, जिसके जरिये वह हमारी मनोवृत्तियों का परिष्कार करते हुए व्यापक समाज के साथ हमें संयुक्त या सम्पृक्त करती है तथा हमें (व हमारे जीवन को) बेहतर परिवर्तन की दिशा भी संकेतित करती है या उसकी ओर हमें प्रेरित व उन्मुख करती है।'' (भाषा का शिक्षण या उस दिशा में शोध अथवा साहित्य के स्वरूप या इतिहास आदि

भी साहित्य के अनुशीलन के ही गौण या पूरक अंग हैं।) इन सारी बातों का समाहार करते हुए हम रचयिता और ग्रहीता के बीच में घटित होने वाली, रचना और आस्वादन-प्रयोजन(अनुप्रयोग) की पूरी प्रक्रिया को ही 'साहित्य' (पुराना नाम 'काव्य') कह सकते हैं। यानी, 'साहित्य' किसी ग्रन्थ-रूप का पर्याय न होकर, रचनाकार के मानस में शुरु हुई सर्जनात्मक अनुभूति से लेकर ग्रहीता (सामाजिक) के चित्त में निष्पन्न 'भाव/रस की अनुभूति तक व्याप्त वाङ्मय-श्यमय व मानसिक क्रियामय दीर्घ व्यापार है, जिसका चरम छोर मानवीय जीवन को एकसूत्र में अनुस्यूत करने और उसमें सार्थक बदलाव लाने तक जाता है। इसी से साहित्य मानव-जीवन या समाज का दर्पण भर नहीं है, बल्कि उसकी पुनःरचना है और वह समाज का मार्गदर्शक भी बनता है ।

साहित्य और लोकहित :

आज साहित्य को लोकमंगल या समाज-हित के लिए नियोजित करने का आग्रह पिछले सारे युगों से अधिक है । जब हम 'हित' की बात करते हैं, तो यह स्पष्ट होना चाहिए कि 'साहित्य' सीधे-सीधे हमारा या समाज का हित नहीं करता और न ही उस हित की सिद्धि के लिए जरूरी व्यवस्था-परिवर्तन ही वह कर पाता है। यहाँ तक कि वह सीधे-सीधे (या समझा कर ही) हमें जीवन-स्थितियों व जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में अथवा उनकी बेहतरी को लेकर किसी तरह उपदेश तक नहीं देता।[4] फिर भी, साहित्य उपदेश या सन्देश तो देता है, पर कलात्मक रूप से, व्यंजना के ज़रिये, जिसे पुरानी (पितृसत्तात्मक) भाषा में 'कान्तासम्मित उपदेश'[5] [= स्त्री के समान (सरस रूप से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का) उपदेश प्रदान करने वाला] कहा गया। उदाहरण-स्वरूप, प्रेमचन्द ने जाति के नाम पर दलित किये गये मानव-समूह की नारकीय ज़िन्दगी पर 'ठाकुर का कुआँ' कहानी लिखी और यशपाल ने युग-युग से समाज में शोषण-दलन व वंचना की शिकार स्त्री की मर्मान्तक पीड़ा पर 'दिव्या' उपन्यास लिखा, परन्तु दोनों ने अकारण दण्डित इन समूहों की दारुण समस्या के अन्त के लिए अपनी तरफ़ से एक वाक्य का भी सन्देश पाठक/ग्रहीता को नहीं दिया। हाँ, उन्होंने अपने अनुभूत समाज की बजबजाती सच्चाई को कथा-चित्र के रूप में इस खूबसूरत कला और यथार्थवादी कौशल के साथ हमारे सामने रख दिया है कि उसे जो भी पढ़ेगा, यदि थोड़ा-सा भी सहृदय हुआ, तो वह संवेदित हुए बिना न रहेगा। उसके भीतर भूचाल-सा आ जाएगा। उसके रोम-रोम से यह ध्वनि निकलने लगेगी कि समाज के एक बड़े समुदाय के साथ इस तरह का घिनौना भेदभाव जितनी जल्दी हो, खत्म होना चाहिए।

संवेदना में कुछ और आगे बढ़े हुए पाठकों के अन्दर तो यह भी ध्वनि उठेगी कि उसके लिए हमें कुछ करना चाहिए। उनमें से कुछ तो यह भी सोचने लगेंगे कि हमें इतनी बड़ी गैर-बराबरी पर टिकी हुई इस पूरी व्यवस्था को ही तहस-नहस कर देना चाहिए और समता व स्वतन्त्रता पर आधारित एक नयी समाज-व्यवस्था बनानी चाहिए। इस तरह साहित्य सीधे नहीं, पर अप्रत्यक्ष रूप से व्यवस्था-परिवर्तन की सुगबुगाहट हम में जगा देता है। साहित्य जितनी गहराई से यह प्रेरणा हममें जगाता और उस दिशा में जिस तीव्रता से हमें चालित करता है, वह किसी अन्य विधा से सम्भव नहीं। समग्रतः, साहित्य को जो कहना होता है, वह कहता नहीं, बल्कि महसूस कराता है ।

साहित्य के रचने और आस्वादन (पढ़ने-देखने-सुनने) के दौरान क्रमशः रचयिता और ग्रहीता, मानव-जीवन को गहन भाव से अनुभूत करते हैं - उसमें अपने-आप को और आसपास के समाज एवं उसके अनुभवों को प्रगाढ़ रूप में महसूस करते हैं। इन्सान की मानसिक बुनावट कुछ इस प्रकार की है, जिससे वह न केवल अपने-आप को विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है, बल्कि उसे अन्य लोगों की अभिव्यक्ति को

देखने-सुनने-समझने में भी रस मिलता है। उसका यही मनोभाव साहित्य के सर्जन और आस्वादन की प्रेरणा-भूमि है। साहित्य की रचना करते हुए रचनाकार और उसका आस्वादन करते हुए पाठक-दर्शक-श्रोता उस उच्चतर मनोभूमि पर होते हैं, जिसमें अपने-पराये का भेद विलीन हो जाता है और मानव-मात्र का अनुभव होता है। इस भूमि पर मानव-मात्र या कभी-कभी प्राणिमात्र से एक सामान्य रागात्मक सम्बन्ध बन जाता है।

साहित्य की विधाएँ :

रचनाकार की संवेदना-अनुभूति और सोच-विचार की प्रक्रिया ही साहित्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। इस प्रक्रिया के स्वरूप से अभिव्यक्त होने वाले साहित्य का स्वरूप निर्धारित होता है, जिससे विधाओं का सम्बन्ध है। व्यक्ति, परिस्थिति, युग, विषय या प्रयोजन (या लक्ष्यीभूत पाठक/ग्रहीता) के अन्तर से हमारी सोच व संवेदना के अनन्त रंग-रूप सम्भव हैं, इसलिए विधाओं की संख्या भी सीमित या निश्चित नहीं हो सकती। साथ ही, काल-क्रम के उतार-चढ़ाव या युग की बदलती स्थितियों या आवश्यकताओं के सापेक्ष कई पुरानी विधाओं की पूर्णतः या अंशतः विलुप्ति और नयी विधाओं का उभार भी सतत सम्भव है। फिर भी, यह कहना मुनासिब है कि अब तक 'साहित्य' की कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि कुछ विधाएँ परिगणित, परिभाषित और प्रतिष्ठित हुई हैं।

लेकिन, इनके अलावा भी बहुत सारी ऐसी विधाएँ हो सकती हैं, जो किन्हीं रचनाकारों के ज़रिये आकार पा रही हों, भले उनके नाम-रूप की अब तक पहचान या चर्चा न हो सकी हो।

हम जानते हैं कि भाषा-प्रयोग के दो रूप हैं - 'गद्य' और 'पद्य'। इस आधार पर साहित्यिक विधाओं के भी दो महावर्ग बनते हैं - गद्य-साहित्य और पद्य-साहित्य। हिन्दी-साहित्य में अब तक की कुछ लोकप्रिय विधाएँ ये रही हैं :-

1. **पद्य-साहित्य की विधाएँ :-** महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, कविता, लम्बी कविता, गीत, नवगीत, प्रगीत, ग़ज़ल/शेर आदि ।
2. **गद्य-साहित्य की विधाएँ :-** उपन्यास, कहानी, लघुकथा, नाटक, एकांकी, प्रहसन, नुक्कड़ नाटक, रेडियो-नाटक, गद्य-गीत, व्यंग्य, निबन्ध, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रा-वृत्तान्त, डायरी, जीवनी, रिपोर्ताज, पत्र आदि।

गद्य और पद्य :

यहाँ 'गद्य' और 'पद्य' के स्वरूप या इनके विभेद पर किंचित् विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

हमारी सोच या विचार-प्रक्रिया वाक्य में ही आकार लेती है, जो गद्यमय होते हैं। पद्य बनाने के क्रम में हम उस सहज-उद्भूत विन्यास को पुनः संयोजित करते हैं - उसे तोड़ कर नये सिरे से नये क्रम व सम्बन्धों में जोड़ते हैं। जो नया क्रम या व्यवस्था हम अख़्तियार करते हैं, वह छन्द के अनुरोध से जनमता है।

इस सन्दर्भ में, आधुनिक हिन्दी के महाकाव्य 'कामायनी' के प्रारम्भिक छन्द (हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर...) को सामने रखकर विचार करते हैं। यहाँ, हम कल्पना के सहारे कवि-मानस में सबसे पहले जनमे उस मूल गद्यात्मक प्रारूप का सन्धान करते हैं, जिसके काट-छाँट और पुनःविन्यास द्वारा उक्त छन्द अस्तित्व में आया है - एक पुरुष हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर शिला की शीतल छाँह (में) बैठ (कर) (अपने) भींगे नयनों से प्रलय (का) प्रवाह देख रहा था।

अब इन दोनों प्रारूपों को सामने रख कर 'गद्य' और 'पद्य' के स्वरूपात्मक विभेद को समझने का प्रयास करते हैं :-

गद्य	**पद्य**
एक पुरुष हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर शिला की शीतल छाँह (में) बैठ (कर) (अपने) भीगे नयनों से प्रलय (का) प्रवाह देख रहा था।	*हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय-प्रवाह।*
1. भाषा के इस (वाक्य) रूप में सारे व्याकरणिक सम्बन्ध-तत्त्वों की उपस्थिति है।	कई व्याकरणिक सम्बन्ध-तत्त्वों (जो कोष्ठकस्थ हैं, 'में' आदि) की विलुप्ति/अध्याहार करके पद्य बनाया गया है।
2. भाषा का यह रूप, हिन्दी में बहुप्रयुक्त शब्द-क्रम (कर्त्ता + ... कर्म + क्रिया) से बँधा हुआ है।	इसमें वैसा निश्चित शब्द-क्रम नहीं है। हिन्दी-वाक्य के जरूरी शब्द-क्रम का उलट-फेर करके पद्य बनाया गया है।
3. यह रूप सारे सार्थक अंशों, पूरकों के साथ आया है।	इसमें कई सार्थक अंश (जैसे - 'अपने') भी विलुप्त या अध्याहृत हुए हैं।
4. यहाँ छन्द और तुक (अन्त्यानुप्रास) की मौजूदगी नहीं है। (वैसे अच्छे गद्य में लय भी कमोबेश होती है, हालाँकि वह पद्य की लय से मात्र में कमतर और प्रकार में अलग होती है।)	ऐसे रूप में छन्द सदा अपेक्षित है। अक्सर तुक (अन्त्यानुप्रास) भी उपस्थित दिखता है, जैसे उक्त पद्य में है। (पद्य की लय ज्यादा नियमित व व्यवस्थित होती है, जिससे उसमें गेयता का गुण रहता है।)
5. विस्तार, खुलापन और सपाटबयानी ज्यादा।	संक्षिप्तता, सारगर्भिता व व्यंजकता अधिक।
6. हमारी सोच व बोलचाल में सहज रूप से भाषा का ऐसा ही प्रारूप आकार लेता है।	ऐसा रूप हमारी सोच व बोलचाल में नहीं आता, बल्कि यह खास प्रयोजन से गढ़ा गया कृत्रिम रूप होता है।

इस तरह से हम कह सकते हैं कि व्याकरणिक व्यवस्था और अनुक्रम का पूरा-पूरा पालन करते हुए, कोई विचार/भाव जब वाक्य में आकार लेती है, तो वह भाषाई संरचना गद्य कहलाती है। इसके विपरीत, व्याकरणिक व्यवस्था और अनुक्रम के पालन में छूट लेते हुए, लय और कभी-कभी तुक के साथ व्यवस्थित और छन्दोबद्ध की गयी भाषिक संरचना पद्य कहलाती है। जैसा कि ऊपर हमने देखा कि किस तरह, पद्य बनाने की प्रक्रिया में छन्द के आग्रह से कुछ व्याकरणिक सम्बन्ध-तत्त्व और कुछ सार्थक/पूरक अंश (शब्द) विलुप्त होते हैं तथा नये सिरे से शब्दों का अनुक्रम बनाया जाता है। इसके साथ, कई सार्थक अंश जुड़ कर समास-प्रक्रिया (जैसे - 'प्रलय का प्रवाह' की जगह 'प्रलय-प्रवाह') के द्वारा भी एकीकृत होते हैं।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कविता पद्य-वर्ग की विधा है। पद्य चाहे कितना भी मुक्त-छन्दात्मक हो अथवा चाहे वह गद्यात्मक ही क्यों न हो जाए, फिर भी लय/प्रवाह, व्याकरणिक शिथिलता, अर्थ/शब्द-रूप की संश्लिष्टता आदि, भाषिक स्तर पर कविता की मूल प्रकृति में आते हैं। किसी साहित्यिक कृति में उक्त गुणधर्म जब तक किसी मात्र में बचे हुए हों, तब तक उसे 'कविता' ही कहेंगे, न कि गद्य की अधिकता से उसे गद्यकाव्य/गद्यगीत आदि कह देंगे। कविता वैसे तो कई तरह की होती है, परंतु ऊपर हमने ('कामायनी' से) जिस खास तरह की कविता का उद्धरण दिया है, उसमें भाव/विचार की संश्लिष्टता व घनत्व पर जोर अधिक होता है, इसलिए उसकी रचना के क्रम में उक्त विलुप्तीकरण व समासीकरण का जोर

अपेक्षाकृत अधिक होता है। यानी, ऐसी कविता में अर्थ के घनत्व को साधने के लिए शब्द का घनत्व बढ़ जाता है। कुल मिला कर ऐसी कविता विशिष्ट प्रकार की विधा बन जाती है, जिसे विशेष लोग रचते और विशेष पाठक-गण ही पढ़ पाते हैं।

कविता को पढ़ने के लिए, सर्वप्रथम जो किया जाता है, वह है (रचना-क्रम में) उसके तोड़े गये गद्यात्मक विन्यास को फिर से जोड़ना, यानी कविता को फिर से पद्य से गद्य के प्रारूप में ढाला जाता है। उसके लिए, कुछ लुप्त व्याकरणिक तत्त्वों और सार्थक अंशों को फिर से लाकर, उनका शब्द-क्रम ठीक करके, अन्वय करके, कविता को गद्यमय (वाक्य का) रूप देते हैं। तब जाकर हमें कविता का प्रारम्भिक अर्थ-बोध होता है। बाद में, गद्यार्थ की उसी मूलभित्ति परसन्दर्भ, प्रसंग आदि के अनुसार कविता का विशेष/प्रयोजनीय अर्थ लगाया जाता है अथवा उस पर चित्र-विचित्र व्यंग्यार्थों का प्लास्टर व रंग-रोगन करना सम्भव होता है।

जो कविता अपने गठन में गद्य-रूप के जितना करीब होती है, वह उतनी ही सुबोध होती है (हमारी सोच या बोध गद्यात्मकता का अपेक्षी जो होता है) और इस आधार पर बहुत से लोग उसे अधिक उत्कृष्ट कविता की श्रेणी मैं रख सकते हैं। (वैसे उत्कृष्टता का एक यही मानदण्ड नहीं है)। इसके विपरीत, कविता की रचना गद्यात्मक प्रारूप को जितना ही अधिक तोड़-मरोड़ कर, व्याकरणिक व्यवस्था को जितना अधिक अस्तव्यस्त और कई सार्थक/पूरक अंशों को जितना ही अधिक विलुप्त कर की जाती है, उसका अर्थ-बोधन उतना ही कठिन होता जाता है। इसका एक अच्छा-सा उदाहरण उपरि-उद्धृतकृति 'कामायनी' है, जिसमें कई जगहों पर लम्बे-लम्बे सार्थक अंश व प्रसंग तक अध्याहृत किये गये हैं। लगता है, कवि जिस शब्द-विन्यास में सोच रहा था, वह पूरा का पूरा कागज़ पर चाहे-अनचाहे रूप में उतार न पाया। हो सकता हो कि वैसा होना प्रसंग-विशेष में छन्द-निर्वाह, बिम्ब-रचना, अर्थ-संश्लेष अथवा कवि की शैली की माँग के अनुरूप हो, किन्तु इसी से 'कामायनी' का अर्थ लगाना अब सबके बूते की बात नहीं रह गया है। एक उदाहरण लेकर बात करें! 'कामायनी' के 'चिन्ता' सर्ग में आयी यह पंक्ति, जिसमें महाप्रलय में देवजाति के अन्तिम अवशेष के रूप में रह गये मनु का देवों के प्रति उद्गार है :-

आह सर्ग के अग्रदूत, तुम असफल हुए विलीन हुए।
भक्षक या रक्षक जो समझो, केवल अपने मीन हुए।।

हे सृष्टि के अग्रदूत देवो! तुम (भोग-विलास की अति करके) असफल और विलीन हुए (यानी महाप्रलय के शिकार हुए)। तुम्हें भक्षक कहा जाए या रक्षक, दोनो ही सही हैं (कारण, तुमने अपनी वासनाओं की रक्षा में खुद का भक्षण किया है) - तुम्हारे बारे में सत्य केवल यह है कि तुम खुद 'अपने मीन हुए'। .... यहाँ 'अपने मीन हुए' का तात्पर्य बैठाना इसलिए मुश्किल हो रहा है, क्योंकि इस प्रयोग में कुछ छूटा-सा है। ..... हो सकता है कि कवि का इशारा 'मत्स्यन्याय' (= बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली को खाना) की तरफ़ हो और वे कहना चाह रहे हों कि सत्य तो केवल यह है कि देवों ने स्वयं ही अपने को बड़ी मछली बना कर खुद (= छोटी मछली) को ही ग्रस लिया । इसी को कवि ने कहा कि 'तुम अपनी (बड़ी) मछली खुद बन गये (=केवल अपने मीन हुए)।' पर, यह अर्थ भी लगाना इसलिए दुष्कर है क्योंकि उक्त पंक्ति में रेखांकित हिस्से जैसा कुछ सार्थक अंश छूटा हुआ है ।

साहित्य का शिक्षण : भारतीय सन्दर्भ

साहित्य-शिक्षण या उसकी विधियों पर व्यवस्थित रूप से विचार भले आधुनिक काल में आकर हुआ हो, परंतु अनौपचारिक और औपचारिक - दोनो रूपों में साहित्य का शिक्षण भारत में बहुत प्राचीन काल से ही होता आ रहा है। वैदिक काल से ही अस्तित्ववान गुरुकुलों या विद्यापीठों और बाद में स्थापित हुए 'तक्षशिला',

'नालन्दा' जैसे शिक्षण-संस्थानों - सबमें 'साहित्य' पाठ्यक्रम का महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा है। यही नहीं, अनौपचारिक शिक्षा के सन्दर्भ में भी, साहित्य निरन्तर अध्ययनीय विषय बना रहा है। इस दिशा में वात्सायन द्वारा (सम्भवतः दूसरी-तीसरी शती ई. में रचित) 'कामसूत्र' एक बडे साक्ष्य-सा है, जिसमें उल्लिखित चौंसठ कलाओं की सूची में (समस्यापूर्त्ति, भाषाज्ञान आदि) ऐसी बहुत सारी जानकारियाँ या कुशलताएँ संकलित की गयी हैं, जो या तो सीधे-सीधे साहित्य से सम्बद्ध हैं अथवा साहित्य-ज्ञान या उसकी रचना-क्षमता की उपकारी हैं। सवाल है कि साहित्य को जानना या रचना जब 'कला' के अंतर्गत परिगणित था, तब क्या किसी रूप में उसके शिक्षण-प्रशिक्षण की भी व्यवस्था नहीं रही होगी? अवश्य होगी। यह अलग बात है कि उस समय साहित्य-शिक्षण का तात्पर्य व संदर्भ (उद्देश्य, परिधि या लक्ष्यीभूत समाज) कुछ भिन्न और आज की तुलना में संकुचित था। ऐसा क्यों नहीं होता ? तब 'साहित्य' की अवधारणा भी तो आज की तुलना में काफी सीमित थी, जिसके कारण उसे 'कला' में शामिल किया गया था; जबकि आज की मान्यता यह हो सकती है कि काव्य/साहित्य में 'भाव-पक्ष' के साथ 'कला-पक्ष' भी है, किन्तु काव्य/साहित्य पूरी तरह से कला तो कतई नहीं है। खैर! उस समय 'काव्य' ('साहित्य') को कला कहने वालों के ध्यान में उसके मूल तत्त्व के रूप में भाव-गाम्भीर्य या 'रस' (रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'हृदय की मुक्तावस्था'[7]) कदाचित् नहीं था, बल्कि उसकी अपेक्षा 'उक्ति-वैचिंय' और उससे किसी मात्र में हो रहे 'सहृदयों के मनोरंजन' ही उनके ध्यान में रहे होंगे। तब साहित्य का तात्पर्य एक ऐसी विधा से लगाया जाता होगा, जो अलंकृत व चामत्कारिक भाषा में रचित हो तथा जो श्रोताओं को हल्के रूप में गुदगुदा सके, चौंका सके, बहला सके, पर अपने प्रवाह में बहा या डुबा न सके। उसमें रसनीयता का ख्याल या तो उस समय नहीं रहा होगा अथवा यदि वह मानी भी जाती होगी, तो उसे उक्ति-चमत्कार के आगे महत्त्व नहीं दिया जाता होगा। इस सन्दर्भ में स्वाभाविक था कि तत्कालीन काव्यशास्त्रीय चर्चा में काव्य-रचना को प्रतिभा से बढ़कर अभ्यास का विषय माना जाए। काव्यशास्त्री दण्डी (7-8 वीं शती ई.) ने कहा भी है कि क्षीण कवित्व-शक्ति वाला व्यक्ति भी काव्य-कला के अभ्यास भर से राजसभाओं में सम्मान पा सकता है।[8] लेकिन, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ('काव्य-कला' आलेख - 'अशोक के फूल') को सन्दर्भित करते हुए यह कहा जा सकता है कि उस समय शेष कलाओं की तुलना में साहित्यिक कला (काव्य-कला) को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उसके जानकार सभाओं, गोष्ठियों समाजों, क्रीड़ाशालाओं, उद्यान-यात्राओं, युद्ध-प्रांगण आदि में बहुत अधिक सम्मानित होते थे। पर, साथ ही यह बात भी भूलने की नहीं है कि सभा-समाजों में 'वाहवाही' बटोरता और मनोविनोद का साधन बनता फिरता वह काव्य 'रससिद्ध' काव्य न होकर 'उक्ति-चमत्कार'[9] मात्र था, जिसके बारे में यह लोकोक्ति चलती आयी है :- 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।': अर्थात्, बुद्धिमानों का समय 'काव्य'(=साहित्य) और 'शास्त्र' के विनोद में व्यतीत होता है। उस सन्दर्भ में, साहित्य-शिक्षण का यदि कोई आयोजन होता होगा, तो उसका उद्देश्य होगा - 'उक्ति-चमत्कारपूर्ण और मनोरंजक पंक्तियों' की रचना और उसके आस्वादन की क्षमता विकसित करना।

हिंदी-साहित्य के रीतिकाल[10] में काव्यशास्त्रीय चर्चा या लक्षण-ग्रंथों की बहुत समृद्ध परम्परा मिलती है, जिनमें से बहुत सारे ग्रंथ कविशिक्षा (=काव्य रचने के दौरान, कवि के लिए ध्यातव्य या प्रयोजनीय बातों के संकलन) के हैं। उदाहरणस्वरूप, केशवदास (1555-1617 ई.) ने 'कविप्रिया' नामक ग्रंथ की रचना ओरछा राज्य की नर्तकी रायप्रवीण को काव्य-शिक्षा देने के लिए की थी, जिसमें केशव ने दण्डी आदि पुराने अलंकार-चमत्कारवादी आचार्यों का अनुकरण किया था। रीतिकाल में ढेर सारी काव्यशास्त्रीय पुस्तकें (लक्षण-ग्रंथ) कवि-आचार्यों द्वारा अपने आश्रयदाताओं (राजाओं, सामन्तों) और उनके दरबार को एक खास टाईप के काव्य (अक्सर उद्दाम शृंगार और कभी-कभी अतिरंजित वीरता के चित्रण वाले) के आस्वादन के लिए प्रशिक्षित करने के निमित्त लिखे गये थे। कहना नहीं होगा कि तब 'काव्यास्वादन' का अर्थ हल्का-फुल्का मनोरंजन भर था। इस

तरह, साहित्य को पढ़ने या सीखने-सिखाने का परिवेश उस समय बहुत सँकरा और लक्ष्यीभूत समाज बहुत सीमित था। परन्तु, हम भलीभाँति जानते हैं कि आज जिसे साहित्य कहा जा रहा है, उसे पढ़ने-समझने का अर्थ मन-बहलाव मात्र नहीं रहा, बल्कि वह बहुत व्यापक हो चुका है। आज साहित्य को पढ़ने का अर्थ है - उसकी विषय-वस्तु (भाव-विचार-पक्ष) और भाषा को ससन्दर्भ पढ़ना और इस पढ़ने व हृदयंगम करने के ज़रिये समाज को पढ़ना-समझना और फिर, समाज में लोकतान्त्रिक बदलाव लाने अथवा समता पर आधारित नवीन मानवीय सामाजिक ढाँचे की रचना के लिए उन्मुख होना। इसके साथ, यह भी उल्लेखनीय है कि आज साहित्य का पाठक, आस्वादक या अधिकारी केवल दरबारी या सरकारी जन न होकर, पूरा समाज - उसका जन-जन है और साहित्य का विषय भी कुछ खास लोगों - कथित 'सम्भ्रान्त' जनों की रुचि का न होकर जन-जन की रुचि का है तथा उसके जीवन, उसके सुख-दुख से गहरे रूप में सम्बन्धित भी है।

साहित्य का कक्षाध्यापन :

जैसा कि पहले कहा गया है, औपचारिक या विद्यालयी शिक्षण के पाठ्यक्रम में साहित्य को पहले भी जगह मिली हुई थी, परन्तु वर्णाश्रमी समाज के गुरुकुलों में अध्ययन करना द्विज पुरुषों का विशेषाधिकार था, अतः साहित्य के कक्षाध्यापन की पात्रता से समाज का तीन-चौथाई से भी ज्यादा हिस्सा वंचित था। वर्तमान युग में वैचारिक और आन्दोलनात्मक उबालों के साथ विभिन्न रूपों में जो अभूतपूर्व लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ घटित हुई हैं, उन्हीं के परिणामस्वरूप औपचारिक 'शिक्षा' का ढाँचा सामाजिक और वर्गीय सन्दर्भ में आज बहुत अधिक उन्मुक्त और उदार हुआ है, जिससे साहित्य पढ़ने वाला आजका विद्यार्थी-समूह पहले के सभी युगों से अधिक विशाल हो गया है।

साहित्य की कक्षा बाकी विषयों की कक्षाओं की तुलना में इस कारण विशिष्ट होती है कि केवल उसी में विद्यार्थी और शिक्षक/शिक्षिका - दोनों वस्तुनिष्ठ होने की बजाय, आत्मनिष्ठ और अधिकाधिक कल्पनाशील या रचनात्मक होने के अवसर पाते हैं। हर अध्यापक/अध्यापिका मानसिक संघटन और प्रवृत्तियों के हिसाब से एक-दूसरे से अलग होता है। साथ ही, विद्यार्थी व कक्षा के वातावरण भी अलग-अलग तरह के होते हैं। इसी से शिक्षण की किसी खास विधि की बात करना आसान नहीं है। अध्यापक-अध्यापिका तो कोई पाठ्य विषय/प्रकरण लेकर कक्षा में स्वतन्त्रचेता विचारक की तरह प्रविष्ट हो सकते हैं, परन्तु कक्षा-शिक्षण के दौरान उनकी यह स्वायत्त स्थिति रचनात्मक तरीके से अतिक्रमित होती है। शिक्षक-शिक्षिका, कक्षा का वातावरण और उसमें उपस्थित तरह-तरह की सक्रियता से लबालब भरे विद्यार्थी, फिर इन सबके बीच पसरता हुआ पाठ, और पाठ की समग्रता या अंश-दर-अंश से हो रही उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया व अन्तःसंवाद - इन सबकी सम्मिलित परिणति होती है हर बार नवीन उद्‌भावनाओं-अनुभवों व ताज़े विमर्श से परिपूर्ण शिक्षण-प्रारूप का उभर कर आना। इसी से कहा जा सकता है कि शिक्षण के लिए पहले से किसी मॉडल का निर्धारण या निर्माण सहज नहीं है। वहाँ भी 'साहित्य' जैसी चीज के शिक्षण के लिए तो शिक्षण-प्रारूप बनाना और भी कठिन होगा, जो व्यक्ति-परिस्थिति आदि के लिहाज़ से हर बार अपना पाठ्य और अर्थगत स्वरूप बदलते रहता है। फिर, भी बिना किसी योजना के सीधे कक्षा में घुसकर, हवा में तीर चलाने की जगह यदि हम किसी विषय/पाठ के शिक्षण को लेकर कुछ मोटे उद्देश्यों का निर्धारण कर लें और उसके अनुसार कुछ पाठ-विधि या पाठ-योजना तैयार कर लें, तो अध्यापन-कार्य न केवल सुगम हो जाता है, अपितु उसके ज़रिये अध्यापक-अध्यापिका कक्षा के सीमित समय में विद्यार्थियों को अपना सर्वोत्तम और अधिकतम प्रदेय दे सकते हैं। साथ ही, पाठ-विधि या पाठ-योजना के निर्धारण के दौरान शिक्षक-शिक्षिका का पाठ से अन्तरंग जुड़ाव भी हो जाता है, जो कक्षा-शिक्षण के दौरान उनकी अध्यापन-रुचि के रूप में आकार लेता है। इसी बात को ध्यान में रखकर साहित्य की किसी विधा की शिक्षण-विधि पर बात की जा सकती है।

यहाँ यह भी ध्यायव्य है कि साहित्य-अध्यापन की विधि विधाओं के सापेक्ष भी बदलती रहती है। यह अनुभूत सत्य है कि जो तरीका गद्य-साहित्य के लिए आजमाया जाता है, उसी को पद्य-साहित्य के लिए आजमाया जाए, तो उससे कठिनाइयाँ ही पैदा होंगी। उदाहरणस्वरूप, कहानी पढ़ाने के लिए अपनायी गयी विधि को कविता पढ़ाने में भी अनुप्रयुक्त करना कतई संगत नहीं होगा। कारण स्पष्ट है। कविता में तरलता अधिक होती है तथा भाषा व भाव का घनत्व ज्यादा होता है। साथ ही, उसमें गेयता, नाद-सौन्दर्य (संगीत-तत्त्व) आदि भी तो सम्भव हैं। उसकी तुलना में कहानी अधिक सपाट और खुली हुई विधा है। कविता के अध्यापन में उसके संगीत-तत्त्व को बिना उभारे, केवल सतही तौर पर अर्थ बताने या व्याख्या भर कर देने से काम नहीं चल सकता। फिर, गद्य-वर्ग में भी जो कथात्मक विधाओं (कहानी, उपन्यास, नाटक आदि) के लिए उचित पद्धति होगी, ठीक वही पद्धति कथेतर विधाओं (निबन्ध, संस्मरण आदि) के लिए कैसे सटीक होगी? कथात्मक विधाओं में भी कहानी पढ़ाने की तुलना में नाटक पढ़ाना अधिक जटिल और गतिविधिपरक कार्य है, क्योंकि नाटक मंचनीय विधा है। उसके अध्यापन में भाव व भाषा के बोध के साथ विद्यार्थियों में नाट्य-कर्म या अभिनय-क्षमता का विकास भी लक्ष्यीभूत होना चाहिए। परन्तु, इन सारी बातों के साथ जो सबसे प्राथमिक और जरूरी बात है, वह यह है कि चाहे किसी विधा में साहित्य का शिक्षण देना हो, जब तक अध्यापक/ अध्यापिका को 'साहित्य' के तत्त्व का बोध नहीं होगा, उसके मस्तिष्क में जब तक 'साहित्य-शिक्षण' की अवधारणा अथवा उसका केन्द्रिक उद्देश्य ('उसके ज़रिये विद्यार्थियों/प्रशिक्षुओं को क्या देना है अथवा उन्हें कहाँ तक पहुँचाना लक्ष्य है ?' आदि) स्पष्ट नहीं होगा, तब तक साहित्य-अध्यापन की दिशा में कुछ भी बेहतर कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं होगा।

मोटे तौर पर साहित्य-शिक्षण के उद्देश्य को इन बिन्दुओं में समेटा जा सकता है :-

1. साहित्य में चित्रित मानव-जीवन, भाव, विचार आदि के दर्शन, ज्ञान और बोध कराना।
2. साहित्य की कला द्वारा उनमें कलात्मक संवेदना जगाकर, उनकी रुचियों का परिष्कार करना।[11]
3. उनमें कल्पनाशीलता और विचार-शक्ति का विकास करना।
4. उनमें मानवीय संवेदना का विकास तथा उनकी सहजात प्रवृत्तियों का उन्नयन करना ताकि वे अपने आस-पास के समाज और दुनिया को स्वस्थ, पूर्वाग्रह-मुक्त, आशावादी व रचनात्मक मानवीय दृष्टि से देखने की आदत डालें - उन्हें पूरे समाज से जुड़ने और किसी रचना में निहित प्रकट या प्रच्छन्न सामाजिक आशयों को पढ़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो, सब मिला कर जिससे वे पहले से बेहतर इन्सान बनें।
5. साहित्य में आये भाषा के खास-खास प्रयोगों की तरफ़ उन्हें आकृष्ट करते हुए, उनमें भाषाई संवेदना जगाते हुए उनकी भाषिक क्षमता को बढ़ाना।

इन बातों के आलोक में, सार-रूप में कहा जा सकता है कि 'हिन्दी-साहित्य' को पढ़ाने का अर्थ है - हिन्दी की विविध विधाओं तथा हिन्दी भाषा की (विधा और वक्ता/रचनाकार के सापेक्ष) विविध शैलियों का शिक्षण, जिसके अन्तर्गत, हिन्दी भाषा में व्यक्त हो रही चेतना/संस्कृति/स्थितियों के अनेकानेक पक्ष और दमित/शोषित के जीवन व उनकी अभिव्यक्ति के रंग-ढंग-रुख आदि के ज्ञान व बोध भी लक्ष्यीभूत हैं। विद्यार्थियों को साहित्य में आयीं भाषाई बारीकियों के प्रति संवेदित करना, ताकि उन्हें नित नये-नये शब्द गढ़ने और प्रयोग करने को प्रेरित किया जाए, साथ ही शब्द में निहित अन्यान्य आशयों (जैसे - सामाजिक अन्तर्विरोध और विषमताओं) को पकड़ कर उस दिशा में सोचने और नया खोजने-रचने को उत्सुक करना भी साहित्य-शिक्षण का ही निहितार्थ है।

भाषा-शिक्षण और भाषाई कौशलों के विकास हेतु साहित्य का उपयोग :

साहित्यिक सामग्री को भाषा-शिक्षण और भाषाई कौशलों के विकास हेतु सन्दर्भ-सामग्री और सहायक उपकरण के रूप में प्रयुक्त करना रचनात्मकता की दृष्टि से बहुत तरह से फलदायी होता है। वैसे तो भाषा में व्यक्त हर विधा यानी समस्त वाङ्मय ही भाषा-शिक्षण व भाषाई कौशलों के विकास का उपयोगी साधन है, फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि 'साहित्य' उनकी तुलना में अधिक कारगर साधन है। इसका कारण यह है कि साहित्य में भाषा अपने सबसे सर्जनात्मक रूप में आती है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, यहाँ आने के बाद, शब्द और अर्थ के बीच रूढ़ (Fixed) सम्बन्ध नहीं रहता, बल्कि साहित्य में शब्द बहुअर्थी हो जाता है, जिससे अर्थ की अनेकानेक सम्भावनाएँ उभर कर आती हैं। कुछ पर्यायवाची-अनेकार्थक शब्दों के खेल से तो बहुत कुछ साहित्य के आस्वादकों या ग्रहीताओं की अपनी-अपनी रुचि/संस्कार, परिस्थिति या मनःस्थिति से कोई साहित्य हर एक के लिए उनके हिसाब से अलग-अलग अर्थ लेकर आता है। ठीक अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' कविता[12] की तरह, जिसमें वीणा बजती तो है एक है स्वर से, पर राजवर्ग और प्रजावर्ग के अलग-अलग स्तर के लोग अपने-अपने संस्कारों के तहत उस एक स्वर को अलग-अलग तरह से सुनते, सन्तुष्टि-लाभ करते और अपनी-अपनी जीवन-स्थितियों के अनुसार गतिशील होते हैं। कहने का अर्थ है कि साहित्य के अनुशीलन से हम भाषा के बहुअर्थी-बहुरूपी कल्पनामूलक प्रयोग की सूझ पाते हैं, उसकी अर्थगत बारीकियों के प्रति सचेत-संवेदित होते हैं। साहित्य के भाषिक कलेवर के किसी हिस्से या प्रसंग-विशेष में आकर शब्द वक्रोक्ति का वह संस्कार ग्रहण कर लेते हैं, जिसके चलते जैसे ही उनसे मुखातिब होते हैं, हम एक अन्तःयात्रा पर निकल पड़ते हैं या उन्हें लेकर अर्थ के असीम आकाश में कल्पनात्मक उड़ान भरने लगते हैं। हमें ऐसा स्पेस 'साहित्य' की भाषा ही सुलभ करा सकती है। साहित्येतर विधाओं की भाषा में ऐसी स्थिति बहुत क्षीण या न के बराबर होती है।

भाषा से खेलना : भाषा को जानने और (उसे/उसमें) नया रचने में मददगार :-

पूर्वोक्त सूक्ति ('काव्यशास्त्रविनोदेन...') में आये पद 'काव्य के विनोद' में भाषा से खेलने की ध्वनि भी अन्तर्विष्ट है। यह सच है कि हम भाषा के धरातल पर जितना ही शब्दों से खेलते हैं, हमारी (व्याकरणिक व अर्थपरक) भाषिक क्षमता उतनी ही अधिक जगती या बढ़ती है। वैसे तो कमोबेश वाङ्मय मात्र भाषा का ही खेल है, पर 'साहित्य' हमें भाषा से क्रीड़ा करने के अधिक अवसर प्रदान करता है, पर उसमें भी कविता यह अवसर सबसे ज्यादा सुलभ कराती है। कारण, कविता में दो शब्दों या पदबन्धों के बीच अन्तराल या गैप सबसे ज्यादा होता है, जिसमें हम अपनी-अपनी मानसिक संरचना व प्रवृत्तियों के अनुसार स्वयं को बिठा लेते हैं। इसके फलस्वरूप, खुद-ब-खुद, मन ही मन हम अपनी सारी इन्द्रियों से हम सक्रिय हो उठते हैं। हम बुद्धि से सोचते-विश्लेषण करते हैं, कल्पना के पंखों पर सवार होकर उड़ते हैं, भावना में बहते हैं, मनष्चित्र देखते हैं। साथ ही, हम मन ही मन उन अनुभूतियों की पुनःरचना भी कर रहे होते हैं, जिनसे कविता बनी होती है। यानी, कविता जो स्पेस देती है, उसमें हम अपने को रखकर कविता को अपने-अपने तरह और तरीके से समझते और उसे रचते हैं। यह मानी हुई बात है कि खेल खेलने का अवकाश वहीं हो सकता है, जहाँ खाली जगह हो। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कहने की क्षमता और शब्दों के बीच का अन्तराल सबसे गहन होने के कारण, भाषा से खेलने की सर्वाधिक गुंजाइश कविता में ही सम्भव है। अपनी संरचना में कविता एक गीली मिट्टी की तरह होती है, जिससे हम मन-माफ़िक न जाने कितने तरह की अनुभूतियों और उनकी पुनःरचना की प्रतिमाएँ गढ़ लेते हैं। कविता में ये खेल तरह-तरह से हो सकते हैं - एक खास पंक्ति को छुपाकर/हटाकर अथवा किसी खास शब्द की जगह कोई पर्यायवाची या अन्यार्थक शब्द रखकर कविता का पाठ बदल सकते हैं और तरह-तरह की शाब्दिक व अर्थ-सम्बन्धी चित्र-विचित्र अनुभूतियों से हम गुजर सकते हैं। किसी रचना में किसी खास शब्द

की जगह कोई खास शब्द रख देने या दो शब्दों की परस्पर अदला-बदली कर देने से उनकी अर्थ-छवियाँ परिवर्तित हो जाती हैं, इससे कभी-कभी पूरी रचना का ही अर्थान्तरण (अर्थ-परिवर्तन) हो जाता है। यह भी एक तरह का भाषिक खेल ही है। अब हम साहित्य-रचना के दौरान रचनाकार द्वारा की गयी भाषिक क्रीड़ा के कुछ उदाहरण देकर उन पर थोडी सी बातें करते हुए इस आलेख का समाहर करना चाहते हैं।

भाषा से खेलने के कुछ उदाहरण :-

1. **गद्‌य-साहित्य :-** वे मद को भी मदमत्त बना रही थीं, राग को भी रँग रही थीं, आनन्द को भी आनन्दित कर रही थीं, नृत्य को भी नचा रही थीं और उत्सव को भी उत्सुक कर रही थीं।[13] (कान्यकुब्ज के मदनोत्सव का चित्रण)

आज उदयपुर के चौक के चारों ओर बड़ी चहल-पहल है। नवयुवकों में नवीन उत्साह उमड़ रहा है। .... चाँद की चटकीली चाँदनी ने चूड़ावत-चकोर को आपे से बाहर कर दिया है। .... चूड़ावत जी का चित्त चंचल हो चला। वे चटपट चन्द्रभवन की ओर चल पड़े। .... पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है। .... हृदय-हारिणी हाड़ारानी भी हिम्मत की हद करके हल्की आवाज़ से बोलीं - प्राणनाथ! मन मलीन क्यों है? मुखारविन्द मुर्झाया क्यों है ? न तन में तेज ही देखती हूं और न शरीर में शान्ति ही ! ऐसा क्यों ? भला उत्साह की जगह उद्वेग का क्या काम है ? उमंग में उदासीनता कहाँ से चू पड़ी? .... लड़ाई की ललकार सुनकर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग जाती है। .... प्राणनाथ ! शूरों को शिथिलता नहीं शोभती । क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण-भर में शत्रुओं की छील-छाल कर छुट्टी कर देता है; परन्तु आप ङ्कसिद्ध पराक्रमी होकर पस्त क्यों पड़ गये ?[14] (यह गद्य में 'अनुप्रास अलंकार' की छटा का नायाब नमूना है।)

2. **पद्य-साहित्य/कविता :-** कविता में अलंकार, वक्रोक्ति आदि के विधान शब्द-क्रीड़ा के अवसर लाते हैं। इनके अलावा भी शब्द से खेलने के तमाम अवसर कविता हमें देती है।

भाषा से खेलते हुए साहित्य शब्दों का अर्थ भी बदलता है और शब्दों के अन्तराल में नया अर्थ भी भर देता है। जैसे - 'समय ने समय दिया, तो हम फिर कभी इस पर बात करेंगे।' (पहले और दूसरे 'समय' का कोशीय अर्थ तो एक है, पर इस साहित्यिक प्रयोग ने दोनों का तात्पर्य-भेद कर दिया, जिससे पहले का तात्पर्य हो गया है -'नियति', 'काल-चक्र' या 'व्यस्त जीवन की स्थितियाँ' । जबकि दूसरा सामान्य अर्थ में है - 'फुरसत का समय' । (इस तरह का प्रयोग अनुप्रास के एक भेद 'लाटानुप्रास' के अन्तर्गत माना जाता है।) इसी तरह का प्रयोग है - 'वक्तने किया क्या हसीं सितम ! तुम रहे न तुम, हम रहे न हम।'[15] - इसमें आया 'वक्त' भी सामान्य अर्थ में न रहा, बल्कि पूर्वोक्तपंक्ति में सबसे पहले आये 'समय' के अर्थ में ढल चुका है। फिर, इसमें आया 'हसीं' (हसीन) शब्द सामान्यतः सुन्दर या रमणीय का वाचक होता है, पर इस काव्य-पंक्ति में 'सितम' (= अत्याचार) का विशेषण बनकर 'त्रासद' या 'भयंकर' जैसा कोई भाव ध्वनित कर रहा है। इसी तरह, हिन्दी में 'आह!' दुःख-संवेदना का व्यंजक शब्द है, पर उसी को साहित्य सुख-संवेदना में रूपायित कर देता है। जैसे -

आह! वह मुख ! पश्चिम के व्योम-बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।।[16]
आ गये हैं आह ! गर्भाधान के पल। (- 'मेघदूत' - रांगेय राघव)

यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि भाषा के संरचनात्मक पक्ष को सिखलाने में अधिक मददगार होता है गद्य-माध्यम का साहित्य ही, क्योंकि भाषा का सहज प्रयुक्त रूप गद्य ही होता है। गद्य में व्याकरणिक व्यवस्था अपने सम्पूर्ण रूप में आती है। पद्य में वह कुछ विलुप्त व संक्षिप्त रूप में, शब्द-क्रम के कुछ हेर-फेर के साथ आती है, इसलिए भाषा के ढाँचागत पक्ष को सिखलाने में पद्यवर्गीय विधा कविता उस तरह से मददगार नहीं होती, परन्तु अर्थवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं के बोध और अभ्यास हेतु कविता से बेहतर साधन कुछ नहीं है।

निचोड़-रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य का अध्ययन-मनन या आस्वादन व्यक्ति को न केवल सुथरी संवेदनाओं से समृद्ध करते हुए उसे अधिक बेहतर इन्सान बनाता है, बल्कि भाषिक दृष्टि से भी उसे अधिकाधिक कुशल और रचनाशील बनाता है। इसका कारण यह है कि साहित्य अपने गठन में विशेष तरह का भाषाई विन्यास होता है और भाषा उसमें अपने सबसे समर्थ या रचनात्मक रूप में आती है। इस मूल बात को बिना ठीक-ठीक हृदयंगम किए, साहित्य-शिक्षण हेतु किया गया कोई भी (औपचारिक या अनौपचारिक) प्रयत्न सार्थक क्या, सफल तक नहीं होगा। यह बात भूलने की नहीं है कि प्रशिक्षु को अधिक कल्पनाशील, सर्जनात्मक, कला-संवेदी और मानवीय बनाने के साथ-साथ, उसे भाषा के सुघड प्रयोग में सक्षम करने में ही साहित्य-शिक्षण की वास्तविक सफलता और सार्थकता है।

पाठक बिगहा, पोस्ट-पड़रावाँ (जम्होर)
औरंगाबाद (बिहार)-824121

सन्दर्भ -

1. *'आचार्य भामह विरचित काव्यालंकार', प्रथम परिच्छेद, 16*
2. *'कामायनी', 'चिन्ता' सर्ग, पृष्ठ-1*
3. *'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है ।' - 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' : 'अशोक के फूल', पृ. 148*
4. *इस तरह के उपदेश को आचार्य मम्मट द्वारा 'प्रभुसम्मित उपदेश' और 'सुहृद्-सम्मित उपदेश' कहा गया है। - 'काव्यप्रकाशः', 1-2 की व्याख्या*
5. *'काव्यं यशसे अर्थ ते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये सद्यःपरिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' - 'काव्यप्रकाशः', 1-2*
6. *'कामसूत्र' के तीसरे अध्याय में आयी 64 कलाओं की सूची में 'पुस्तकवाचनम्' (पुस्तक बाँचने की कला), 'नाटकाख्यायिकादर्शनम्' (नाटक और ऐतिहासिक कथाओं का ज्ञान), 'काव्यसमस्यापूरणम् (कविता द्वारा समस्या-पूत्ति), 'अक्षरमुष्टिकाकथनम्' (सांकेतिक अक्षरों के अर्थ जान लेना), 'म्लेच्छितविकल्पाः' (गुप्तभाषाविज्ञान), 'देशभाषाविज्ञानम्' (विभिन्न देश की भाषाओं का ज्ञान), 'सम्पाट्यम्' (किसी सुने हुए श्लोक को ज्यों का त्यों दुहरा देना), 'मानसीकाव्यक्रिया' (विक्षिप्त अक्षरों से श्लोक बनाना), 'अभिज्ञानकोशछन्दोविज्ञानम्' (शब्दकोश और छन्दों का ज्ञान), 'क्रियाकल्प' (काव्यालंकार का ज्ञान) आदि को स्थान दिया गया है। - 'कामसूत्रम्' , अध्याय 3, पृष्ठ 83-87*
7. *'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।' - 'कविता क्या है' आलेख - 'आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबन्ध', पृष्ठ - 65*
8. *न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभामनद्भुतम्।*
   श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।।
   तदस्तदद्भैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
   शे कवित्वेपि जनः तश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्त्तुमीशते।।- काव्यादर्श, 1/104-105
   (स्रोत -http://www.sanskrit.nic.in/DigitalBook/K/Kavyadarshdandi.pdf)
9. *'काव्य नामक वह कला, जो कवियों को गोष्ठियों, समाजों और राजसभाओं में तत्काल सम्मान देती वह उक्ति-वैचित्र्य मात्र था।' - 'अशोक के फूल', पृष्ठ 105*
10. *रामचन्द्र शुक्ल ('हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ-1) के अनुसार, संवत् 1700-1900 का काल-खण्ड।*
11. *'कविता-शिक्षण की सफलता का रहस्य तो यह जानने में है कि विद्यार्थी काव्य में कितना रस लेने लगा है, काव्य उसको कितना स्पर्श कर सका है, उसके लेखन और उसकी वाणी में कविता ने कितना स्थान ले लिया है। सच्ची आवश्यकता तो यह*

है कि विद्यार्थी में काव्य को समझने की और उसका आस्वादन लेने की शक्ति का विकास हो।' - 'मस्ती की पाठशाला', पृष्ठ-114

12. *सहसा वीणा झनझना उठी .... अवतरित हुआ संगीत/ स्वयम्भू /जिसमें सोता है अखंड/ब्रह्मा का मौन/ अशेष प्रभामय। डूब गये सब एक साथ।/सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।*
राजा ने अलग सुना : जय देवी यशःकाय/वरमाल लिये/गाती थी मंगल-गीत, ...
रानी ने अलग सुना : .... तुम्हारे ये मणि-माणिक, कंठहार, पट-वस्त्र,/मेखला किंकिणि .... सब अंधकार के कण हैं ये! /आलोक एक है/प्यार अनन्य !
सबने भी अलग-अलग संगीत सुना।
इसको/वह पा-वाक्य था प्रभुओं का ..../ उसकी/ आतंक-मुक्ति का आश्वासन :
इसको/वह भरी तिजोरी में सोने की खनक .... /उसे/बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुशबू।
किसी एक को नयी वधू की सहमी-सी पायल-ध्वनि। /किसी दूसरे को शिशु की किलकारी ।
एक किसी को जाल-फँसी मछली की तड़पन ..../एक अपर को चहक मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की।
एक तीसरे को मंडी की ठेलमेल, गाहकों की अस्पर्धा-भरी बोलियाँ/चौथे को मन्दिर मी ताल-युक्त घंटा-ध्वनि।
और पाँचवें को लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें/
और छठें को लंगर पर कसमसा रही नौका पर लहरों की अविराम थपक।
बटिया पर चमरौधे की रूँधी चाप सातवें के लिए ..../
और आठवें को कुलिया की कटी मेंड़ से बहते जल की छुल-छुल
इसे गमक नट्टिन की एड़ी के घुँघरू की/उसे युद्ध का ढाल : /इसे सझा-गोधूली की लघु टुन-टुन .....
उसे प्रलय का डमरू-नाद/इसको जीवन की पहली अँगड़ाई/पर उसको महाजृम्भ विकराल काल!/सब डूबे, तिरे, झिपे, जागे .... ओ रहे वशंवद, स्तब्ध :/ इयत्ता सबकी अलग-अलग जागी,/संघीत हुई,/पा गयी विलय।
(स्रोत :- http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=714&pageno=1# असाध्य वीणा)

13. *'बाणभट्ट की आत्मकथा', सप्तम उच्छ्वास, पृष्ठ -76*
14. *'मुण्डमाल' कहानी - 'शिवपूजन रचनावली : प्रथम खण्ड', पृष्ठ - 103-105*
15. *'कागज़ के फूल' (1959) फ़िल्म का गीत-अंश/रचनाकार - साहिर लुधियानवी*
16. *'कामायनी' : 'श्रद्धा' सर्ग, पृष्ठ - 46*

आलोचना : प्रकृति एवं स्वरूप

भवतोष इंद्र गुरु

आलोचना मूलतः मनुष्यनिष्ठ अनुभव की एक उच्चतर व्याख्या है एवं कला के संदर्भ में हम यह कह सकते हैं कि आलोचना अतिविशिष्ट अनुभव की एक निरपेक्ष व्याख्या है, कला का संस्कार सृजन से है तथा सृजन की प्रकृति आत्मिक, दैहिक तथा भौतिक निरंतरता से जुड़ी होती है। कवि अपनी भावनाओं को विचार के रूप में यथार्थ की दृष्टि प्रदान करने कोशिश करता है एवं आदर्श परिस्थितियों में सफल भी हो जाता है। वास्तविक काव्य कविगत उद्‍बोधन तथा वस्तुगत संचयन के बीच तादाम्य की सहजता को ही दिखा सकने की नैतिक परिलब्धि को प्रस्तुत कर सकता है। इस सन्दर्भ में आलोचना का कार्य काल की विकिर्णता को 'सत्य एवं निष्ठा' के दायरे में बाँधना हो जाता है। अनुभव का सत्य, उत्साह का मापदण्ड एवं उत्साहित होने की प्रवृत्ति, प्रकृति को श्रेष्ठता प्रदान करने की एक आंतरिक अवस्था है। इस संदर्भ में यह समझना जरूरी है कि श्रेष्ठ अनुभव, संरचना की दृष्टि से देश, काल एवं समाज की सीमाओं से परे है। माना जाता है जब हम अपने आप में सीमित होते है तो विचार प्रकृति प्रदत हो जाता है एवं दूसरी ओर जब अनुभव की निष्ठा वाह्यगत होती है तो विचार पुरुषार्थ के कार्मिक एवं कार्यिक व्यंजनाओं की उद्‍घोषणा करता है। जैसा कि हमने कहा है कि आलोचना एक निरपेक्ष निष्ठा है जो कि मानव व्यवहार तथा काव्य आचरण के संतुलन को स्थापित करने की प्रक्रिया में संलग्न रहती है। इस विचार के पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष दोनों है। पूर्वपक्ष में कला तथा आलोचना के उद्‍भव तथा क्रमिक विकास को एक संस्कार के रूप में परिभाषित एवं परिमार्जित करना आवश्यक है। भारतीय परम्परा में कला की दृष्टि अखण्ड, अनंत, चमत्कार, लोकोत्तर, आश्चर्यजनित एवं ब्रह्मास्वाद-सहोदर मानी जाती है। तदानुसार आलोचना का स्थायी स्वरूप काव्य में अखण्ड चमत्कार, आश्चर्य, सत्व, लोकोत्तर तथा ब्रह्मास्वाद की वास्तविक स्थिति तथा पृष्ठभूमि का समग्र सामयिक सतत् एवं कालनिष्ठ व्याख्या करना है। आलोचना के संदर्भ में व्याख्या परिमार्जन तथा शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। काव्य के गर्भ में भावनाओं की विद्रूपता विद्यमान रहती है इस विद्रूपता का आश्रय अवचेतन में स्थित उर्ध्वाधर भाव हैं। स्वरूप से यह भाव व्यभिचारी होते है। कवि क्रमबद्ध संश्लेषण के द्वारा इन्हें निष्ठा का एक प्रगाढ़ तथा वैभवशाली परिमान प्रदच्छ करता है।

कमल के अग्र एवम् पृष्ठ में जिस प्रकार जल ज्ञानस्वरूप अंकित रहता है उसी प्रकार आलोचना काव्यतत्व को मीमांसा में संचयित करती है। काव्य में अभिव्यक्ति चेतना की भूमिका के रूप में जागृत होती तथा इसका पल्लवन कर्म के बोध के रूप में होता। काव्य में कर्म ही सतत् है। आलोचना का स्थायी भाव पुरुष है। कर्म में जागृति, प्रेरणा एवं निरन्तरता का परिमाप एक सन्तुलित एवं सुगठित उद्‍देश्य के तहत किया जाता है। इस प्रक्रिया में कार्य-कारण भाव विशेष रूप से बोधगम्यता का सहज आभास उपस्थित करता है। तार्किक

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 74-78*

दृष्टि से अनुभव का उत्पाद एवम् प्रेरक, स्वरूप इन अवदानों से जगत के सम्मुख प्रकट होता है। भरत मुनि आलोचना को अनुभवों की एक सम्पूर्ण श्रृंखला तथा संरचना के रूप में देखते है जहाँ प्रत्येक अनुभव तथा उसका घटक एक पूर्ण अलंकरण है। दृष्टिगत एवं दृष्टिगम्य माध्यमों में अनुभव का संचालन उन घटकों के माध्यम से होता है जो आधारभूत एवं परिनिष्ठ होते हैं। लोक में इन्हीं सामाजिकों की गम्यता ही काव्य के उत्कृष्ट होने का कारण है। एक समग्र व्यष्टि में पल्लवित भाव प्रकृति प्रदत्त सहजता को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करता है तथा उत्कृष्ट काव्य में इसे उद्‌भव की उष्ण व्यवस्था के रूप में जाना जाता है। कर्म स्वतः स्फूर्ति एवं बोधप्रेरक है एवं आलोचना की दृष्टि कर्म के इसी स्वभाव पर आश्रित रहती है। पदार्थ में कर्म एक मानक के रूप में प्रवृत्ति को जन्म देता है तथा साहित्य में इस प्रवृत्ति को व्यवहार के रूप में संकलित किया जाता है। जैसा कि हम अज्ञेय की इन पंक्तियों में देख सकते हैं :

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :
छोटी-छोटी चिड़ियाँ
मँझोले परेवे
बड़े-बड़े पंखों
डैनों वाले डील वाले
डौल के बेडौल
उड़ने जहाज़
कलस-तिसूल वाले मंदिर-शिखर से ले
लालधर की नाटी मोटी निपटी गोल घुस्सों वाली
उपयोग-सुन्दरी
बेपनाह काया को :

गोधूली की धूल को, मोटरों के धुएँ को भी पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक तन्वि और दूर कचरा चलाने वाली कल की रूपरेखा को उदण्ड चिमनियों को जो धुआँ यों उगलती हैं मानो उसी मात्र से अहेरी को हरा देंगी।

कवि इन पंक्तियों में ब्रह्माण्ड की व्यापकता, चराचर जगत की भौतिकता (क्षण-भंगुरता) को व्यवहार तथा आचरण के रूप में देखता है। शक्ति-पुंज दिवाकर (सूर्य) जगत को प्रातःकाल से आलोकित करना प्रारंभ कर देते हैं। सूर्य का प्रकाश जीवन के क्षुद्रतम तथा श्रेष्ठतम प्रकारों को सहज परिभाषित करता। इस क्रम में पुष्प, चिड़िया, पंक्षी, वायुयान, मंदिर-शिखर, डाकखाने का टाईपराईटर, मोटर कार प्रगट होते हैं। सूर्य जिस श्रेष्ठता से जगत के प्रकारों को व्यंजना के मानकों से जड़ते हैं, उसी तीव्रता से अपशिष्टों को अधोमुखी बनाते हैं। सूर्य की कार्मिक प्रखरता उसके तेज की ओजस्विता है, जीवन का व्यवहार, दूसरी ओर सामान्य स्तर पर चल-चलाचल की पराधीनता है। सूर्य में सिर्फ 'उदय' है, जीवन के मूलस्वभाव में अस्त है, तदनुसार इसमें 'कचड़ा' तथा 'उदण्ड चिमनियाँ' हैं। कवि को सूर्य में अमरत्व की वाणी का श्रवण होता है और जगत के

व्यवहार में विरोधाभास का सूक्ष्म-विलंबन निष्पन्न है। जीवन का सृजन करने वाले सृष्टा से निरन्तर प्रतिस्पर्धा जगत के मिथ्याभिमान की पुष्टि करती है– अनगिनत, असंख्य, अजर तथा अमर रश्मिरथी के समक्ष भौतिक संप्रदानों का क्या मोल (कारकों को कारण के समक्ष उपस्थित होने का दुःसाहस कहाँ)। सूर्य का नैसर्गिक प्रकाश तथा सड़कों के किनारे स्थित, प्रकाश-स्तंभों कृत्रिम प्रकाश प्रच्छादन। आरोहण की पुण्य भूमि सूर्य है अवरोहण का पैशाचिक निसर्ग जगत है। द्वन्द्व की परिणिती ईश्वर को अध्येता मानने-मनाने के भाव में परिपूर्ण है। कवि यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि क्रमों व अनुक्रमों, कारणों/उपकरणों के मध्य जीवन ह्रास की ओर उन्मुख होता। नितांतता का महत्त्व गंतव्य पर पूर्ण दृष्टि से ज्यादा यथार्थ के अनंत के मंथन में है अतएव कवि सृजन की व्यापकता का परिमार्जन के अस्थायी उपालंभों (धुआँ/चिमनियाँ) से करता।

पूर्व में कहे गए कथन कि 'आलोचना समग्र रूप से काव्य में तत्व की मीमांसा करता है', का अभिप्राय जगत में स्थल/सूक्ष्म अनुभवों जो कि कवि के सहज विशेष्य हैं तथा काव्य में साधारणीकृत होते रहते हैं, का वैचारिक और व्यावहारिक न्यास स्थापित करना है। कवि काव्य को संप्रेषण के माध्यम से यथार्थ में परिणित करता है– यथार्थ जगत-सूक्ष्मता का लोक-व्यापकता में रूपान्तरण की एक व्यापक उपलब्धि है। आलोचना में इस यथार्थ की व्याख्या अनुसंधान की परिपाटी एवम् निःसर्ग की न्यायिक व्यवस्था के रूप में की जाती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आलोचक काव्य-तत्व में प्रतिभा की विवेचना नैयायिक अधिकरण को आधारभूत मानकर करता है। जगत का केन्द्र मिथ्या है; कवि का आचरण लोक की स्थापना यथार्थ में करने से है; आलोचक का व्यवहार मिथ्या व लोक को स्मृति, मति तथा बुद्धि द्वारा विलोपित कर सकल पुण्य की प्राप्ति है। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि काव्य में सृजन उद्‌बुध है या परम्परागत रूप से अनद्‌बुध निष्पन्न? भरतमुनि कहते हैं कि परिमार्जन जब तत्त्वाभिनिवेशी होकर जब विभिन्न घटकों के बीच अंतःसंबंध/अनुसंबंध/अंर्तनिष्ठसंबंध स्थापित करता है तब एक आदर्श काव्यगत परिस्थिति का निर्माण होता है। सृजन इस संबंध में प्रक्रिया-कारक व प्रक्रिया-प्रेरक भी है। बाह्य जगत की परिस्थितियाँ क्रमों के अंतर से विभिन्न लौकिक अनुभवों के साथ प्रस्तोता के समक्ष प्रगट होती हैं। कवि के द्वारा चयन/निर्वाचन की प्रक्रिया संबंधित अनुभवांश के वस्तुतः आलम्बक या उद्दीपक होने पर निर्भर करती है। नित्य/अनित्य का अंर्तविरोध, नित्य की अनित्य में संस्थापना तथा नित्य का नित्य के समकक्ष/अनित्य का अनित्य के समक्ष एक समानांतर व्यवस्था जो कि कलिप्त आदर्श के नजदीक कवि को ले जा सकने में समर्थ हो, आदर्श काव्य की मौलिक दशाएँ हैं। आदर्श के सम्मुख कल्पना की स्थिति उद्देश्य तथा विधेय के अनुरूप तथा अनुपात में बदलती रहती है अनुभव क्रमबद्ध है लेकिन अनुभव का स्वरूप जगत के मिथ्या का प्रतिद्वंदी है फलस्वरूप वैयक्तिक निष्ठा, कुछ विशिष्ट काव्य स्वरूपों/उदाहरणों को छोड़कर वैयक्तिक स्थापत्य में स्थापित नहीं हो पाती है। आलोचना अनुभव के मूल स्वरूप की व्याख्या उद्‌भव/विकास के परिवर्तनशील काल क्रमों में जनित सोपानों के आधार पर करती है जिसमें व्यक्तिनिष्ठ स्थापत्य, प्रकरण स्वरूप संस्कृति, समाज तथा धर्म के द्वारा मूल्यांकन के पश्चात् ही सर्वमान्य होते हैं। प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि अनुभव तथा चेतना काल-खण्डों के किन संप्रदानों में धर्म व संस्कृति को विकास की श्रेष्ठता के अर्थ में अंतर्भूत करती है। अनुभव का ग्राह्य पक्ष तब प्रबल होता है जब जगत की भौतिकता आडंबरों के आवरणों को भेदकर कर्म के उन्मुख हो जाती है। उन्मुखी कार्य ही चेतना का सहोदर है जो ज्ञान की पृष्ठभूमि को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है।

आलोचना के तत्त्व बिन्दु काव्य को कार्मिक पद्धतियों द्वारा प्रक्रिया मूलक बनाते हैं - उन्मुखीकृत, अनुभव व चेतना इसको निर्विघ्न तथा विश्रांति रूप में नामित अवस्थाएँ हैं। चेतना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी समग्रता की एक सार्थक का प्रस्तुतिकरण है। मम्मट ने यह माना है कि काव्य तत्त्व बोध के स्तर पर अर्थ निर्मित

करते हैं तदनुसार व्यंजना बोध से परिपूर्ण होती है। बोध की परिधि ज्ञान के अनुकीर्तन से है एवम् बोध की गम्यता ज्ञान को ब्रह्म के अनुरूप बनाने में है। काव्य-तत्त्व बोध के संसर्ग से सृजन की व्याप्ति ब्रह्म में करता है जिसमें अनुभव व चेतना नवजागरण सदृश्य उत्कृष्ट अनुबंध हैं। उदाहरण के लिए दिनकर को देखें :-

है यहाँ तिमिर, आगे भी ऐसा ही तम है
तुम नील कुसुम के लिए कहाँ तक जाओगे?
जो गया आजतक नहीं कभी वह लौट सका,
नादान मर्द! क्यों अपनी जान गँवाओगे?

जगत के द्वंद से मुक्ति की परिणिति अंततः एक आदर्श के अभिज्ञान से ही होती- यह आदर्श या तो ईश्वर है, या ब्रह्म या आत्मा या अमरत्व या अंनतोगत्वा परमेश्वर। शरीर तिमिर एवम् जब तक शरीर से मुक्ति न मिले 'तिमिर तम ही है' इस स्थिति में ज्ञान, मुक्ति, मोक्ष (नील कुसम) की प्राप्ति असंभव ही न होकर दुष्कर है (जो गया आज तक नहीं कभी वह लौट सका)। द्वंद्व चेतना की सामाजिकता से है एवं अनुभव के आडंबर युक्त विकार द्वंद्व को कवि इस संदर्भ की प्रामाणिकता मायायुक्त उपालभों प्रगट बनाने में देखता है (नादान मर्द! क्यों अपनी जान गँवाओगे) चेतना की पूर्णता अनुभव की क्रियाशीलता व व्यावहारिकता पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से विवेक, अनुभव/चेतना को जागृत रखने के लिए एक व्यापक अवसर प्रदान करता है, अनुभव प्रक्रिया को पदार्थ की वास्तविक स्थिति से संबंधित करती है। सामान्य स्तर पर कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप से प्रत्यक्ष होते हैं- क्या सृजन पर वैशिष्ट्य विकार की पूर्ण दृष्टि पड़ती है। तत्पश्चात् चेतना अनुभव की अंतरंगता में क्यों समाहित होती है? अनुभव से चेतना एक विकास/उद्‌भव यात्रा ज्ञान संपुष्ट शृंखलाबद्ध रूपकों द्वारा होती है जो कि दृष्टि के हठात तिरोभाव भी हैं। ज्ञान जब प्रगट होता है तब चेतना संवर्धित होती है, ज्ञान जब परोक्ष होता है चेतना कल्पित होती है। तथ्य यह है कि प्रत्यक्ष अंतर्भूत एवम् परोक्ष वैकल्पिक है लेकिन चेतना का यथार्थ दोनों में एक समान रूप से निष्ठात है। भाव जिस अवस्था में प्रकट होते हैं उसी अवस्था में उद्‌भव के लिए काल-चक्र पर आरूढ़ होते है। कालांतर में अनुभव का संवर्धन होता है जिससे की अनुभव का प्रवेश काव्य में होता है। गतिमान कालचक्र परम्पराओं को एकाकी निष्ठा में पुनर्जीवित करता है। इस दृष्टि से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि चेतना के सम्प्रदानों का अभिकर्ता क्या लौकिक अधिकरण ही है या अतीत में स्थापित व्याप्ति से चेतना का कार्यकारण भाव बनता है? साहित्य ज्ञान की अन्य विधाओं की तरह ही प्रत्यक्ष की विवेचना अनंत को विवेक जनित चेतना का आधार मानकर करता है। साहित्य के ज्ञान में सृष्टि व्यंजना स्वरूप है तदनुरूप व्यापकता एक आचार ही है। काव्य-तत्त्व पदार्थ मूलक हैं या उनका संरचना के निमित्त स्थानीयकरण हो जाता है? भामह कहते हैं कि प्रतिभा काव्य को 'नवोन्मेषशालिनी'/स्वरूप प्रदान कर काव्य के स्थायित्व को नैसर्गिक प्रतिमान से सम्पन्न करती है।

इस दृष्टिकोण को निरपेक्ष मानते हुए हम यह कह सकते हैं कि पदार्थ मूलक काव्य-तत्त्व संरचना में समाहित होकर वैशिष्ट्य के अनुकूल एक अनुकृति रचते हैं जो कि संरचना न होकर एक अखण्ड तत्त्व हो जाती है।

आलोचना की सम्पन्नता भावों को दृष्टिगत करते हुए प्रतिस्पर्धात्मक तत्त्व के बिन्दु को स्थापित आदर्श के समकक्ष लाने में है। कवि काव्य में जय-पराजय के स्थान पर मनुष्य के मनुष्य रूपी क्षमताओं के समर्थ विकास को महत्त्व देता है। इसी प्रकार धर्म, इतिहास, परंपरा, संस्कृति एवम् सभ्यता इस सृष्टि जगत के आधार बिन्दू बनते हैं। इतिहास, संस्कृति व सभ्यता कौशल के उच्चतर संसाधन हैं, धर्म निरंतरता की कार्यशैली

है तथा परंपरा निरंतरता की कार्य प्रणाली है। अप्रस्तुत के प्रस्थान भाव की विवेचना सहर्ष के सिरमौर के रूप में करना ही आलोचनात्मकता कही जानी चाहिए। अनुभव में निष्ठा परिपाटी, प्रचलन तथा प्रसाधन है जो कि कवि को चराचर में पूर्णता ढूँढने को बाध्य करती है। प्रसाद को देखें :-

हिमाद्री तुंगशृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती-
स्वयंप्रभा समुज्जवला
स्वतंत्रता पुकारती-

स्वतंत्रता वैयक्तिक न होकर समष्टिपरक और विराट है। आत्मा की मुक्ति ही ज्ञान-स्वरूप मोक्ष का मार्ग है। इसी क्रम से सृष्टि की निरंतरता है। कवि क्षमताओं तथा मानदण्डों की व्याख्या परंपरा व इतिहास के आधार पर करता है। समग्र आत्मबल प्रभृत आत्मज्ञान, विभूषित गौरव, प्रयत्न कर्मठता ही मनुष्य को 'हिमाद्री तुंग शृंग' के परस्पर लाती है। भारतवर्ष में अनादि काल से चली आ रही ज्ञान-परंपरा की पुष्टि इन स्वतंत्रता मूलक संप्रदानों से होती है।

निष्कर्ष स्वरूप हम यह स्थापित कर सकते हैं कि निरपेक्ष अनुभव अपने आदर्श स्वरूप में आलोचना का सर्वोच्च प्रतीयमान है। वैयक्तिक पृष्ठभूमि जिसके गर्भ में सृजन कर्म तत्त्व को प्राप्त करता, आलोचना में इसी सृजन का प्रस्थान ब्रह्म सदृश अधिकरणों के उपचयन में होता है।

अंग्रेजी एवम् अन्य यूरोपीय भाषाएं विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

रमेशचन्द्र शाह : बहुवचनी सृजनात्मकता के शीर्षस्थ साधक

छबिल कुमार मेहेर

''साहित्य के सवालों को शाह साहित्य में उगा कर साहित्य में ही नहीं काट लेते। उनके लिए ये सवाल मानव-संस्कृति के भी सवाल हैं। शाह अपने साहित्य-विमर्श में किसी रचना का तार छूते हैं और उससे उत्पन्न झँकृति मानव-नियति और मानव-अस्तित्व के क्षितिजों-सीमान्तों तक एक सघन और सजीव स्पर्श की सी थरथराहट लिए हुए दौड़ जाती है। उनका साहित्य चिन्तन इतिहास, संस्कृति और परम्परा का एक भरा-पूरा आर्केस्ट्रा है। सिर्फ़ साहित्य या कला की दुबली, एकल तान नहीं .... शाह ने अपना साहित्य-विवेक संस्कृति-मंथन की अपेक्षाकृत गहन-जटिल किन्तु अनिवार्य प्रक्रिया में से गुजर कर अर्जित किया है। यह प्रक्रिया अभी खत्म नहीं हुई है। इसलिए उस विवेक में विचार-संवेदना की नयी-नयी क्यारियाँ निकलती जाती हैं, भाषा-व्यंजना के नए-नए कल्ले फूटते जाते हैं। तथ्य को तत्त्व से पकड़ने और तत्त्व में बदल डालने की उस प्रक्रिया के चलते .... यह विवेक एक कसावट लिए हुए है, एक तनाव लिए हुए है।''

—मलयज

''रमेशचन्द्र शाह हमारी पीढ़ी के उन विरले लेखकों-विचारकों में हैं जो साहित्य को अन्य अनुशासनों का 'गरीब बिरादर' नहीं बल्कि भोजराज के शब्दों में 'सभी प्रकार की विद्यारूपी परिषदों का सदस्य' मानते हुए उसकी स्वतंत्र हैसियत को प्रतिष्ठित करते हैं। और शायद यही कारण है कि उनकी आलोचना जीवन के दिक्काल में सम्पूर्ण विस्तार और उसकी समकालीन अभिव्यक्ति को टटोलती हुई कुछ ऐसे प्रश्न उठाती है जिनके उत्तर साहित्य और केवल साहित्य में ही मिल सकते हैं। इस प्रकार शाह की आलोचना, जीवन और साहित्य के जटिल अन्तःसम्बन्धों और साहित्य की अपनी विशिष्टता को एक साथ रेखांकित करती है।''

—नन्दकिशोर आचार्य

1. बहुमुखी सृजन सरोकार

पिछले पाँच दशकों से साहित्य की समस्त विधाओं में लेखनी चला कर उन्हें उत्कर्ष तक पहुँचाने वाले शीर्षस्थ साधक सर्जक, संस्कृति चिन्तक, तत्त्वान्वेषी विचारक हैं—रमेशचन्द्र शाह। वे हमारे समय के अहम् व अद्वितीय सांस्कृतिक मूल्यान्वेषी साहित्यकार और स्वाधीनता-स्वराज-स्वायत्तता के स्वतन्त्रचेता आलोचक हैं। परन्तु इतना भर उनके चेतना सम्पन्न गम्भीर व्यक्तित्व और बहुमुखी सृजन सरोकार का परिचय नहीं है। वैसे शाह साहब के बारे में कुछ भी कहना या लिखना इस लिहाज़ से ख़तरे से खाली नहीं कि उनके व्यक्तित्व एवं

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 79-87*

कृतित्व का सम्यक मूल्यांकन एक गम्भीर साधक विवेक, विशद अध्ययन और गहन चिन्तन-मनन की माँग करता है। बहरहाल, उनका लिखा, चाहे आलोचना हो या निबन्ध, कथा-कहानी हो या कविता, सबमें उनके गहन चिन्तन, विद्वत्ता, सुदीर्घ जीवनानुभव और विशद व बहुमुखी अध्ययन को आसानी से रेखांकित किया जा सकता है। उनकी सशक्त सर्जनात्मक उपस्थिति हमारी नई पीढ़ी के लिए ही नहीं, समकालीन सृजन-आलोचना व हिन्दी साहित्य के लिए भी गौरव की बात है। संवादहीनता, मौलिकता के क्षरण तथा गुलाम-मानसिकता के मौजूदा दौर में उनकी संवेदनात्मक चिन्ता बहुत ही प्रासंगिक है और हमारी पीढ़ी के लिए प्रेरक-संजीवनी। वैसे शाह जी के सृजन का केन्द्रीय तत्त्व है 'स्वाधीनता'। जड़ता और पराधीनता से मुक्ति। व्यक्ति को मूल सत्ता स्वीकारते हुए वे उसके विवेक और स्वतंत्रता को जगाना चाहते हैं। प्रो. कृष्णदत्त पालीवाल जी ने ठीक ही लक्ष्य किया था : 'शाह जी की बुनियादी चिन्ता वैचारिक स्वराज या स्वाधीनता से जुड़ी है।' अंग्रेजी के गहरे अध्येता एवं प्राध्यापक रह चुके शाह जी का देशज सर्जनात्मक मानस शुरू से ही हिन्दी की ओर झुका हुआ है। प्रख्यात ललित निबन्धकार पंडित विद्यानिवास मिश्र जी ने शाह जी की आशंसा में कहा भी था : 'वे अंग्रेजी के अध्येता होने के साथ-साथ अध्ययन काल से ही हिन्दी साहित्य में डूबे रहे।' उनका संवेदनशील कोमल-विदग्ध मन कबीर, निराला, प्रसाद, प्रेमचन्द, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, रवीन्द्र, कालिदास, दॉस्ताएवस्की, वर्जीनिया वुल्फ़,टी.एस. इलियट, येट्स जैसे लेखकों के सृजन में रमता, डूबता-उतराता है। दिलचस्प बात यह कि साहित्य की हर विधा को छूने वाले शाह जी खुद को 'कविता' के ज़्यादा करीब पाते हैं। इसका कारण उल्लेख करते हुए उन्होंने 'मेरे साक्षात्कार' में कहा है : 'मुझे सबसे ज़्यादा आनन्द कविता में आता है। बुनियादी तौर पर कवि की संवेदना है : अत्यधिक संवेदनशीलता, सौन्दर्य के प्रति लगाव एवं भाषा, शब्द की ध्वनियों के प्रति आकर्षण। भाषा की अपनी लय होती है, संगीत होता है। दरअसल, अपने आसपास की लय मिलाना कवि का स्वभाव होता है, इसलिए कवि हूँ।' 'आधुनिक कवि' की भूमिका में वे इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं : 'मैं तो अपनी समझ से मेरी जीवनानुभूति में ही जो कविता थी, उसी को उकसाने और तीव्रतर-प्रगाढ़तर करने के लिए शब्दों के पास जाता था—अपने जिये को कविता में और सघन-संश्लिष्ट ढंग से जीने के लिए।' ऐसे में पाठक के मन में सवाल उठना स्वाभाविक है कि फिर वे (शाह जी) कथा-कहानी की ओर क्यों मुड़े?शाह जी कहते हैं : 'मानव-चरित्र, सामाजिक सम्बन्ध के अनुभव, यह सब कहानी की माँग करते हैं और आज का समय गद्य का समय ज़्यादा है। अपने लोगों के मन को समझने के लिए उन्हीं से प्रेरणा पाके कहानियाँ लिखीं। कहानी हमारी जातीय विधा है। ख़ास अपनी खोज है। कहानी का कलेवर छोटा होता है, इसलिए उपन्यास भी लिखे। पुराने ज़माने में जो काम महाकाव्य करते थे, आज उपन्यास कर रहे हैं।' इससे पहले कि हम उनसे पूछें 'फिर निबन्ध, आलोचना क्यों?' वे स्वयं ही अपनी ओर से स्पष्ट कर देते हैं—'गद्य ही कवि का निकष होता है, इसलिए कवित्व की ज़रूरत और ज़िम्मेदारी के बोध से गद्य लिखा। निबन्ध गद्य की कसौटी है, इसलिए निबन्ध लिखा। जीवन-मूल्यों और साहित्य-मूल्यों की रक्षा के लिए आलोचना लिखी।' स्पष्ट है कि अलग-अलग अभिव्यक्ति की माँग और जरूरत के अनुरूप शाह जी ने अलग-अलग विधा को चुना। उनकी स्वीकारोक्ति है कि कोई विधा किसी दूसरी विधा का विकल्प नहीं होता : 'जो बात मैंने निबन्धों में कही है, यह मैं कविता में नहीं कह सकता था—वह एक अलग जरूरत, अलग चुनौती में से आती है। जो उपन्यास-कहानी में अभिव्यक्त होता है, वह निबन्ध से नहीं झिल सकता था। इसी तरह आलोचना और चिन्तन की भी अपनी एक स्वायत्त प्रेरणा और हैसियत होती है।'

अपने आसपास की जिन्दगी, अनुभव, प्रकृति और मानव चरित्र को अपने लेखन के प्रेरणा-स्रोत स्वीकारने वाले शाह जी ने जिस विधा को भी छूआ उसे आसमान तक पहुँचाया। अपनी रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है : 'मैंने जब भी, जिस भी विधा में लिखा है, भरसक पूरे मन और पूरे आत्मदान

के साथ लिखा है।.... मैं धीरे-धीरे ही अपने को पहचान सका हूँ। धीमी चाल और धीमी लय में आगे बढ़ता रहा हूँ। कुछ लोग बहुत जल्दी सयाने हो जाते हैं। मैं शायद उनमें नहीं हूँ। मुझे काफी समय लगता है अपने स्वभाव-स्वधर्म को पहचानने-निबाहने में। संयोग देखिए कि मेरे पहले कविता-संग्रह का नाम भी 'कछुए की पीठ पर' ही है।

2. कविता की ज़मीन

शाह जी का साहित्यानुरागी जीवन संवेदन मूलतः एक कवि का ही संवेदन है। कविता के अध्ययन-मनन से उन्हें अपार सुख, शान्ति और रस मिलता है। वे भाषा के प्राथमिक संस्कार कविता में ही ढूँढ़ते हैं। इनके काव्य-संग्रहों में से 'प्यारे मुचकुन्द को', 'चाक पर', 'अनागरिक', 'कछुए की पीठ पर', 'हरिश्चन्द्र आओ', 'देखते हैं शब्द भी अपना समय' आदि पाठकों के बीच ख़ासे चर्चित रहे। उनकी कविता अपनी प्रकृति में बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी है और अपने स्वभाव में ठोस न होकर तरल। शाह जी कविता को स्वतःस्फूर्त (spontāneous overflow) मानते हैं। उनके कथनानुसार : 'यदि हमें पहले से ही पूरा-पूरा मालूम है कि हमें क्या करना है और कविता उसी का पद्य-लेखा है तो फिर कविता कविता नहीं, महज़ एक उद्गार, एक आस्फालन है।'

इनकी कविताएँ अनुभव की उँचाई से निकलकर जीवन की ठोस समतल भूमि पर निर्मल जल की भाँति प्रवहमान हैं। इसमें तालाब का जड़त्व एवं सडांध नहीं, नदी की कल-कल बराबर सुनाई पड़ती है। इस बहते स्वच्छ पानी में हम अपनी प्रतिच्छवि तो देख ही सकते हैं, इसके अन्दर बह रहे सिकता कण, कंकड़, केकड़ा, मीन आदि की सन्तुलित पारिस्थितिकी (bālānced ecology) से भी अभिभूत हो सकते हैं। सच्चे अर्थों में शाह जी की कविताएँ जीवन की मर्मभरी कविताएँ हैं :

''एक ग़रीब मोहल्ला
सार्वजनिक नल के नीचे,
रात-भर ठिठुरते
खाली बरतन
हाँ, मैंने देखे हैं,
जाने कितने सूर्योदय
उनमें
डबडबाते।''

शाह जी जीवन की छोटी-छोटी चीजों को, मामूली-सी लगने वाली बातों को कविता में तब्दील कर देते हैं। 'आत्मकथ्य' में शाह जी ने लिखा है कि कविता की रचना-प्रक्रिया और जीवन-प्रक्रिया के बीच बड़ा गहरा सम्बन्ध है : 'शायद इसीलिए कविता से मिलने वाला समाधान या प्रकाश जीवन की द्वन्द्वात्मक जटिलता से बहुत गहरे जूझते हुए पाया हुआ समाधान होता है। यह भी अनुभव से धीरे-धीरे ही समझ में आता है कि क्यों बौद्धिक स्पष्टता की तुलना में भाव-संवेदनात्मक परिपक्वता कहीं कठिनतर सिद्धि है जो दीर्घ साधना की माँग करती है।'

निर्मल वर्मा जी ने शाह जी की कविताओं को 'रसभरी, पकी, परिपक्व कविता' स्वीकारा था। परन्तु यह भी सच है कि इनकी कविताओं में एक तरह की बौद्धिक संवेदना है। बौद्धिकता इसलिए कि शाह जी अपने पाठक को अपने जितना ही, बल्कि अपने से ज्यादा समझदार मानते हैं। बावजूद इसके इसमें निहित लालित्य के कारण बौद्धिकता कोई बोझिल प्रभाव नहीं छोड़ती और दूसरे ही क्षण यह बौद्धिकता जीवन की सहजता में पर्यवसित हो जाती है :

''बहुत दिनों के बाद
लगी है आँख अचानक
तेरी
बहुत दिनों के बाद
हुई है साँस अधूरी
पूरी
सोई रह माँ युगों-युगों तक
तू पृथ्वी-सी
रह न जाए डरता हूँ
फिर भी
तेरी नींद अधूरी।''

शाहजी की कविताओं में बुद्धि, विचार, अनुभूति और कल्पना की अद्‌भुत समानुपातिक अन्विति देखने को मिलती है। सुप्रसिद्ध कवि कुँवर नारायण जी ने शाह जी के काव्य-विवेक पर सटीक टिप्पणी की है : 'साधारणतः शाह की कविताओं में एक सहज और संश्लिष्ट जीवन-बोध है जो बौद्धिक और भावात्मक के बीच अनावश्यक विभाजन नहीं, एक अन्तरंग जगह बनाने का उपक्रम है।' शाह जी की विशिष्टता भी शायद यही है :

''क्या यह सम्भव है कि इसमें हीरा हो?
वह ठठाकर हँस पड़ा और दूसरी जगह ले गया
जहाँ वैसी ही अनगिनत चट्‌टानें
चकनाचूर की जा रही थीं
एक अभेद्य कण की उम्मीद में।''

शाह जी के लिए कविता कौशल नहीं, प्रसव है। कविता के रूपात्मक विन्यास के बारे में उनका अभिमत उल्लेखनीय है : 'जिस मनःस्थिति में कविता का आरम्भ होता है, वह एक भाविक उद्वेग की मनःस्थिति होती है, जो भाषा और समाज के वृहत्तर अनुभव कोश से जुड़कर, वहीं से एक अपनी लयात्मक संगति और अर्थ भी खोजना-रचना चाहती है। एक अराजक अनुभव जगत् से, तमाम तरह की विसंगतियों और विड़म्बनाओं से जूझते उन्हीं के बीचोबीच से पाया जानेवाला यह सन्तुलन, एक बार-बार कमाया जाने वाला सन्तुलन है। कविता करना, अपने अनुभव का अर्थोन्मेष पाना और रचना है। उसमें एक विन्यास, एक लयात्मक संगति का आश्वासन पाना है। दरअसल हर कविता का प्रारम्भ ही एक लयात्मक शब्द संगति से होता है। कविता पूरी होने का मतलब ही उस आरम्भिक उद्वेग से एक नियन्त्रित लय के जरिए उबर आना है।' मुझे यहाँ वरिष्ठ कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी जी की टिप्पणी याद आ रही है : 'भाषा, चीजें, भू-दृश्य, आख्यान, छन्द-लय आदि सब घुल-मिलकर वह रसायन रचते हैं जो रमेशचन्द्र शाह की कविता है। उसकी चिन्ताएँ भावप्रवण हैं पर निश्चय ही बौद्धिक और आध्यात्मिक भी। वह चीज़ों को उनकी निरपेक्ष अर्थमयता में देखने की बजाय हमारी आज की जिन्दगी और वैचारिक संघर्ष के प्रसंग में उनके गहरे आशय खोजने-देखने की चेष्टा करती है।' यही वजह है कि शाह जी की कविताओं से गुज़रते हुए हिन्दी काव्य-परम्परा की समृद्ध रचनाशीलता एवं विराट कवि-अनुभवों से हम स्वतः ही जुड़ जाते हैं। प्रयाग शुक्ल जी के शब्दों में कहें तो : 'यह अकारण नहीं है कि रमेश जी की कविता(एँ) पढ़ते हुए, मानों हम उनकी कविता के आस्वाद के साथ ही, हिन्दी की भाषा-परम्परा के भी कई कवियों और कई काव्य प्रविधियों-युक्तियों के आस्वाद के रचनाशील स्मरण से जुड़

जाते हैं। उनके पहिले कविता-संग्रह 'हरिश्चन्द्र आओ' की कविताएँ तो इस बात की गवाही देती ही हैं, बाद की भी प्रायः सभी कविताओं में हम किसी न किसी रूप में इस तथ्य को पढ़ सकते हैं। इसे मैं रमेश जी की कविता की एक शक्ति मानता हूँ कि कविताओं में आ गए कवि-अनुभवों के साथ ही हम अपने भीतर ऐसा भी बहुत कुछ जाग्रत होता हुआ पाते हैं, जिसका सीधा सम्बन्ध हमारी अपनी भाषा के इतिहास से है।' शाह जी ने हिन्दी के अलावा कुमाऊँनी में भी कविताएँ लिखी हैं। 'उकाव हुलार' उनकी कुमाऊँनी कविताओं का संग्रह है।

3. आलोचना का बुद्धिवैभव

शाह जी के अनुसार आलोचना का पक्ष सार्वभौम बुद्धिवैभव का पक्ष है। वैचारिक स्वराज और सांस्कृतिक आत्मविश्वास का पक्ष है। उनके शब्दों में, आलोचना स्वैरिणी नहीं, बल्कि स्वाधीन बुद्धि की उत्तरदायी गतिविधि है। आलोचना को लेकर शाह जी कितना सजग हैं उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है : 'हमारी आलोचना खोज की प्रेरणा से वंचित हो जाय, यह तो समझ में आ सकता है—क्योंकि रचनात्मक साहित्य की तरह ही आलोचना में भी पस्ती के दौर कभी-कभार आते ही हैं। चिन्ता तब होती है जब आलोचना जीवन और साहित्य दोनों की धुरी से छिटक कर स्वयं आलोचनाजीवी बनने लगे।'.... स्पष्ट है कि समाज-साहित्य की सापेक्षता में ही आलोचना की सार्थकता है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकों 'आलोचना का पक्ष', 'वागर्थ', 'भूलने के विरुद्ध', 'छायावाद की प्रासंगिकता' आदि में उन्होंने अपने समकालीन सर्जकों एवं सृजन पर गम्भीर चिन्तन-विवेचन किया है। शाह जी ने सैद्धान्तिक आलोचना के बदले कृति-व्यक्ति केन्द्रित आलोचना अधिक लिखी है। इस क्रम में आलोचक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी जी का विचार उल्लेखनीय है : 'रमेशचन्द्र शाह ने उन्हीं रचनाकारों पर लिखा है जिनकी रचनाओं से उनके आलोचक मन का एक आत्मीय रिश्ता कायम हो सकता है, या कहें कि जो उनके भाव और विचार-लोक के निकट पड़ते हैं। किसी को उखाड़ने-पछाड़ने के लिए या किसी से अपना हिसाब-किताब चुकता करने के लिए शाह ने कुछ नहीं लिखा है। इस अर्थ में उनकी आलोचना वाद-विवाद (पोलेमिक्स) पैदा करने वाली आलोचना नहीं है और न ही वर्ग भेद पैदा करने वाली... उनके आलोचना के बीज शब्द हैं—स्वाधीनता, बौद्धिक स्वराज, आत्मालोचन, जातीय स्मृति, परम्परा, सृजनशीलता, स्वधर्म और सांस्कृतिक आत्मविश्वास।' अज्ञेय, निर्मल वर्मा, विजयदेव नारायण साही, मलयज, अशोक वाजपेयी जैसे अपने समकालीनों के प्रति वे बहुत ज्यादा संवादी रहे हैं। इन्हीं सन्तुलित संवाद, वैचारिक टकराहट से महत्त्वपूर्ण सवाल और सार्थक उत्तर-प्रत्युत्तर उभरकर सामने आते हैं। शाह जी की यह मान्यता है कि साहित्य की दुनिया हमारे व्यापक सांस्कृतिक दृश्य का ही एक हिस्सा—गोकि सबसे अन्दरूनी और सबसे गझिन बुनावटवाला हिस्सा है। वे एक गम्भीर अध्येता हैं, और तदनुरूप एक गम्भीर लेखक, विचारक और आलोचक। उनकी आलोचना से गुज़रना एक तरह से विश्व-साहित्य की परिक्रमा करने जैसा है। हम उनकी आलोचना को कुर्सी पर आराम से बैठकर, तकिये पर शरीर को टिका कर रिलैक्स्ड मुद्रा में नहीं पढ़ सकते। उनकी आलोचना को पढ़ने और समझने के लिए हमें आत्मचेतस और जागरूक होना पड़ेगा। ऐसे में सिर्फ हिन्दी भाषा एवं साहित्य तक अपने अध्ययन को सीमित रखनेवाले पाठकों, समीक्षकों को शाह जी की आलोचना प्रथमदृष्ट्या गम्भीर, बौद्धिक और कुछ हद तक बोझिल लगे तो आश्चर्य नहीं। जैसे कि मधुरेश जी ने 'हिन्दी आलोचना के विकास' में लिखा है : 'आलोचना में चिन्तन के नाम पर वे बहुत दुरुह, असम्प्रेषणीय और उलझी हुई भाषा लिखते हैं—जैसे भाषा की जलेबियाँ तल रहे हों। निर्मल वर्मा की पुस्तकों पर लिखे गए उनके लम्बे-लम्बे निबन्ध हों, या फिर मलयज और श्रीकान्त वर्मा की कविताओं पर—सरल और सहज अभिव्यक्ति शाह की प्रकृति नहीं है। चाहे विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास हों या कुँवर नारायण की 'आकारों के आसपास' की बेहद असम्प्रेषणीय और अमूर्त्त कहानियाँ, इन्हें 'वैचारिक एडवेंचर' के रूप में लेकर यांत्रिक यथार्थवाद के

विरुद्ध 'आधुनिक भारतीय मानस के गहन अन्तर्द्वन्द' के रूप में रखकर इनकी व्याख्या की कोशिश करते हैं—बहुत कुछ इन कहानियों की तरह ही दुरुह और दुर्बोध शैली में।' बहरहाल, मधुरेश जी का क्षेत्र कथा-समीक्षा है, आलोचना की आलोचना नहीं। सच तो यह है कि शाह जी की आलोचना पढ़ते हुए हम उन कृतियों-रचनाकारों के साथ एक आत्मीय सम्बन्ध अनुभव करने लगते हैं। इस क्रम में मैं प्रवर आलोचक नामवर सिंह जी को उद्धृत करना चाहूँगा। शाह जी को लिखे दिनांक 26.09.69 के पत्र में उन्होंने स्वीकार किया है : 'प्रसाद, निराला और पन्त की लहर-सम्बन्धी कविताओं का तुलनात्मक विश्लेषण आलोकप्रद है। प्रसाद की आरम्भिक कविताओं से जो उद्धरण आपने चुने हैं, उनमें वस्तुतः प्रसाद पुनर्जीवित हो उठते हैं। आपने इस निबन्ध के द्वारा समकालीन काव्य-प्रेमियों के लिये प्रसाद को सप्रसंग और सार्थक बनाया है। वस्तुतः इस निबन्ध से प्रसाद के पुनर्मूल्यांकन की सही शुरुआत होती है।' 'छायावाद की प्रासंगिकता' से गहरे प्रभावित प्रभाकर श्रोत्रिय जी ने तो यहाँ तक कहा है कि नन्ददुलारे वाजपेयी के बाद प्रसाद पर किया हुआ यह दूसरा मौलिक काम है। वाजपेयी जी ने प्रसाद को छायावादी जमीन पर एक खुली और साफ साहित्यिक दृष्टि से परखा था, जबकि शाह ने उनके अन्तःसंघर्ष और अन्तःसौन्दर्य की भाषा की भीतरी तहें खोलकर उसे वर्तमान युग की प्रासंगिकता में बींध दिया है।

आलोचना कितनी सन्दर्भवान, सर्जनात्मक और व्यावहारिक हो सकती है यह शाह जी के आलोचनात्मक-निबन्धों से गुज़रते हुए सहज ही महसूस किया जा सकता है। नन्दकिशोर आचार्य जी के शब्दों में कहा जाए तो 'समकालीन परिदृश्य में, जहाँ आलोचना अधिकांशतः संकीर्ण मताग्रही तर्कों के पिष्टपेषण और साहित्य में से सर्जनात्मकता को ही खारिज़ कर देने की दुरभिसन्धि बनती जा रही है, रमेशचन्द्र शाह के निबन्ध हमें न केवल आलोचना-कर्म के प्रति पुनः आश्वस्त करते हैं बल्कि अपनी विचारोत्तेजक भाषा के जरिये पाठक को भी आमन्त्रित करते हैं कि इस 'सांस्कृतिक दलदल' को सुखाने के महाप्रयास में वह भी उनका सहभागी हो। शायद यही चीज़ है जो आलोचना को भी सृजन की हैसियत देती है।' वैसे भी शाह जी आलोचना की बुद्धि-ऊर्जा को कविता और कथासाहित्य की बुद्धि-ऊर्जा से अलग और विशिष्ट नहीं मानते हैं। उनके लिए आलोचना और सृजन सहवर्ती और परस्पर पूरक गतिविधियाँ रही हैं। उनकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है : 'मैं जब आलोचना लिखता हूँ तो उसके पीछे जो भाव ऊर्जा है वह मेरे कवि और कथाकार की भी तो है। मैंने अपनी आलोचना भाव-निरपेक्ष बुद्धि से नहीं लिखी है।'

4. कथा-आत्मकथा

रमेशचन्द्र शाह को शीर्षस्थ चिन्तक-आलोचक स्वीकारनेवाले विद्वज्जन भी अक्सर उनके कथाकार पक्ष पर चुप्पी साध लेते हैं। जबकि वे जितने प्रखर-सुग्राही आलोचक हैं उतने ही मार्मिक-मौलिक किस्सागो। शाह जी आत्ममुग्धता के नहीं, आत्मविश्लेषण के कथाकार हैं। लिखना और पढ़ना शाहजी के लिए राहत-कार्य नहीं, आत्मज्ञान का एक साधन है। उन्होंने कोई भी रचना भावुक होकर नहीं लिखी। सृजन के आन्तरिक क्षण में भी उनका जागरूक मानस हमेशा क्रियाशील रहा है। चिन्तन, मन्थन और आत्मविश्लेषण उनकी सृजन-प्रक्रिया के अनिवार्य अंग रहे हैं। यही कारण है कि उनका अधिकतर कथासाहित्य आत्मकथात्मक है। उनके उपन्यास 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम', 'पूर्वापर', 'आख़िरी दिन', 'पुनर्वास', 'कमबख़्त इस मोड़ पर', 'सफ़ेद परदे पर', 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू', और 'विनायक' बहु चर्चित रहे हैं। उनके कहानी-संग्रह 'मुहल्ले का रावण', 'मानपत्र', 'गेट कीपर', 'थियेटर', 'जंगल में आग' हिन्दी कहानी की अमूल्य निधि हैं। संग्रह के रूप में संकलित होने से पूर्व शाह जी की कहानियाँ नियमित रूप से समकालीन भारतीय साहित्य,

सारिका, इण्डिया टुडे, जनसत्ता, नवभारत टाइम्स, हंस तथा साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित होती रहीं। इनकी कथा-कहानियों में शहरी मध्यवर्ग की जिन्दगी धड़कती है। उनके पात्र एवं चरित्र इतने जीवन्त हैं कि वे हमारी जिन्दगी में सहज ही शामिल हो जाते हैं, चाहे वो रामरिख बाबू हो या कुंदन, प्रो. दीनानाथ हों या विनायक। पुष्पपाल सिंह जी ने ठीक लक्ष्य किया था : 'कहानीकार चाहे किसी विशिष्ट चरित्र का वर्णन करता है, चाहे किसी स्थिति विशेष का, उस सबसे हमारे समकालीन जीवन का बहुआयामी यथार्थ अपनी पूरी सचाई में अंकित हो सका है। कथ्य और भाषा में गहरी एन्द्रिकता और संवेदनशीलता है।' सच तो यह है कि शाह जी ने कहानी विधा को एक तरह से पुनराविष्कृत किया और उसके नितान्त मौलिक रूप को अर्जित कर कहानी की भीतरी संस्कृति को ही बदल दिया। यही कारण है कि शाह जी की कहानियाँ हमे देर तक बाँधे रखती हैं। महत्त्वपूर्ण यह कि शाह जी की कहानियों का स्वरूप समय और सत्य के अनुरूप बदलता रहा है। उनका कहना है कि हर दशक में कहानी और उपन्यास का स्वरूप बदलता है। ऐसे में हर उपन्यास-कहानी में हम एक नई समस्या से जूझते हैं, नई बाधाओं से पार पाते हैं, अभिव्यक्ति की एक नई और अलग ही चुनौती का सामना करते हैं।

'गोबर गणेश' एक विशिष्ट औपन्यासिक कृति है जो मध्यवर्गीय आकांक्षाओं और सपनों के बनने और बिगड़ने की कहानी कहती है। गोपाल राय के अनुसार पूरा औपन्यासिक संसार एक पात्र 'विनायक' की चेतना में घटित होता है, यह उसके जिए हुए, भोगे हुए कल की गाथा है। इस कारण यह कथा एक मध्यवर्गीय परिवार की टूटन की कहानी तो बनती ही है, एक संवेदनशील व्यक्ति के जीवन-भोग और पीड़ा का दस्तावेज भी हो जाती है। 'किस्सा गुलाम' कुन्दन की कुण्ठा और विद्रोह को दर्ज करता है जबकि 'पूर्वापर' दो मित्रों के बचपन की कहानी सुनाता है। 'सफ़ेद परदे पर' में शाह जी ने वृद्धावस्था के एकाकीपन और ऊब को बड़े ही दार्शनिक अन्दाज में अभिव्यक्त किया है जबकि 'कमबख़्त इस मोड़ पर' में उन्होंने घनिष्ठ सम्बन्धों की जटिलताओं और उनकी विडम्बनाओं का गहन विश्लेषण किया है। 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' एक प्रयोगशील उपन्यास है, जिसमें लेखक ने आत्मकथा-लेखन की जटिलताओं को दर्ज किया है। 'विनायक' एक चरित्र प्रधान उपन्यास है जिसमें एक कलयुगी चरित्र को पौराणिक एवं महाकाव्यात्मक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की गई है। जहाँ तक कथा-शिल्प का प्रश्न है शाह जी शिल्प के लिए शिल्प की तलाश नहीं करते। इसके विपरीत बदलते परिवेश, जीवनानुभूति और जटिल जगत् यथार्थ ही उनके उपन्यास के रूप और विन्यास को तय करते हैं। शाह जी का कहना है : 'शिल्प के लिए शिल्प में मुझे कभी कोई दिलचस्पी नहीं रही।...हर उपन्यास में आप एक नई समस्या से जूझते हैं, नई बाधाओं से पार पाते हैं, अभिव्यक्ति की एक नई और अलग ही चुनौती का सामना करते हैं तो अलग शिल्प तो होगा ही।'

5. साहित्यिक विविधा

अपने समय के बुनियादी प्रश्नों से जुड़ते हुए रमेशचन्द्र शाह जी ने हिन्दी डायरी, निबन्ध और यात्रावृत्त आदि विधाओं में नये विषयों पर मौलिक चिन्तन किया है। भारतीय संस्कृति और जीवन-दर्शन के सफल विवेचक के रूप में उनकी पहचान बन चुकी है। शाह जी की डायरियाँ 'अकेला मेला', 'इस खिड़की से', 'आज और अभी', 'जंगल जुही' —इस बीच बहुत चर्चित हुई हैं। डायरी लेखन कितना सर्जनात्मक हो सकता है यह शाह साहब की डायरियों को पढ़कर सहज ही महसूस किया जा सकता है। आमतौर पर डायरी लेखन को दैनन्दिनी या 365 दिनों का रोज़नामचा मान लिया जाता है। लेकिन रमेशचन्द्र शाह जी के सन्दर्भ में यह न तो रोज़नामचा है और न ही दैनन्दिनी वाला औपचारिक लेखन कर्म। उनके लिए डायरी लेखन गद्य विधा का

उत्कृष्ट साहित्यिक रूप है। यही कारण है कि नामवर सिंह जी ने 'अकेला मेला' में संकलित डायरियों को 'साहित्यिक डायरी' कहा है। 'रचना के बदले', 'शैतान के बहाने', 'आड़ू का पेड़', 'शबद निरन्तर', 'हिन्दी की दुनिया में', 'भारतीय आधुनिकता की तलाश' उनकी प्रसिद्ध निबन्धात्मक पुस्तकें हैं। 'आवाहयामि' उनकी सद्य प्रकाशित संस्मरणात्मक कृति है, जिसमें उन्होंने अपने ध्यान में साहित्य और दर्शन क्षेत्र के उन व्यक्तियों का आवाहन किया है जिनसे उनकी निकटता हुई।

हिदी सर्जकों में शायद शाह जी अकेले ऐसे हैं, जो रामायण, महाभारत, कुरान, बाइबिल पर समानाधिकार से सम्भाषण कर सकते हैं। उनके निबन्धों में वेद, पुराण, गीता, उपनिषद आदि के अनेकानेक सन्दर्भ एवं प्रसंग अनायास जुड़ते जाते हैं जिससे पाठक को विचारात्मक बौद्धिक बोझ का अहसास ही नहीं होता। भारतीयता के स्वर संचार में वे बार-बार रामकृष्ण, विवेकानन्द, गांधी, अरविन्द, कुमारस्वामी को दोहराते हैं। 'ब्रह्ममुहूर्त्त बनाम मार्निंग विज्डम' में उनकी इसी शुद्ध भारतीय शोधपरक दृष्टि को देखा जा सकता है : 'भारतीय साहित्य ख़ासकर प्राचीन भारतीय साहित्य से गुज़रते हुए क्या ऐसा नहीं लगता कि उसका ज्यादातर ब्रह्ममुहूर्त्त में ही रचा गया होगा। कम से कम प्रेरणा तो उसकी ब्रह्ममुहूर्त्त में ही मिली होगी। विश्वसाहित्य की भी छानबीन अगर इस गरज से की जाए कि उसमें सूर्योदय के, उषाकाल के बिम्ब कितने हैं और कहाँ-कहाँ आए हैं, तो मेरा ख्याल है—ख्याल क्या पक्का यकीन है कि इस मामले में अपना हिन्दुस्तान बाकी सारे मुल्कों को पछाड़ देगा।' शाह जी के निबन्धों को पढ़ते हुए बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त या हजारी प्रसाद द्विवेदी के फक्कड़पन, अल्हड़ मस्ती का सहज स्मरण होना स्वाभाविक तो है ही, साथ ही इन पर दॉस्ताएवस्की, वर्जीनिया वुल्फ़, टी.एस. इलियट, येट्स जैसे विदेशी साहित्यकारों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। कुल मिलाकर शाह जी के निबन्धों में भारतीय एवं पश्चिमी मनीषा के द्वन्द्व और उनके पारस्परिक प्रभावों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। 'मारा जाई खुसरो' उनका चर्चित नाटक है और 'एक लम्बी छाँह' उनका प्रसिद्ध यात्रावृत्त। इन बहुमुखी कृतित्व में शाह जी की एक मुकम्मल साहित्यकार की छवि उभरती है जहाँ उनकी सृजनात्मक क्षमता के साथ वैचारिक सामर्थ्य का अनूठा संयोग देखने को मिलता है।

6. सृजन का अन्तःस्वर

रमेशचन्द्र शाह एक संवेदनशील रचनाकार और सूक्ष्मदृष्टि सम्पन्न आलोचक हैं। वे साहित्य के अनथक यात्री हैं। पिछले 50 वर्षों में फैली शाह जी की बहुविधात्मक बहुवर्णी सृजनात्मक सक्रियता को देखकर सहज ही कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति की समृद्ध आर्ष चिन्तन-परम्परा अभी निःशेष नहीं हुई है। ऐसे में शाह जी जहाँ परोक्ष रूप से हमारी प्राचीन संस्कृति से जुड़ते हैं वहीं प्रत्यक्ष रूप से प्रसाद, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विजयदेव नारायण साही वाले आधुनिक साहित्य चिन्तन और संवेदना से। यह किसी भाषा के सर्जक, सृजनधर्मी, साहित्य प्रेमी, सहृदय के लिए विस्मय, सुखद आश्चर्य और गर्व की बात हो सकती है।

रमेशचन्द्र शाह बाह्यार्थ के नहीं अन्तरार्थ के सर्जक हैं। आलोचक मदन सोनी के शब्दों में कहा जाए तो 'साहित्य की बाहरी दुनिया या उसके परिवेश के संकुचन के प्रति व्याप्त उपालम्भ-भाव साझा करने की बजाय रमेशचन्द्र शाह साहित्य की आन्तरिक दुनिया पर एकाग्र होते हैं, मानों इस आग्रह के साथ कि उसकी आन्तरिक दुनिया की समृद्धि में ही उसके परिवेश के विस्तार की सम्भावनाएँ खोजी जा सकती हैं। वे उसके भीतर और उसके परिप्रेक्ष्य में सत्ता (या तत्त्व), अस्तित्व, धर्म, आस्था, नैतिकता, मूल्य, स्मृति, इतिहास-वेदना, अवस्थितिबोध जैसे प्रश्नों से टकराते हुए उसकी साहित्यजीविता और साहित्यिक अन्तःप्रजनात्मकता का प्रतिकार करते हैं।'

शाह जी एक गम्भीर और मननशील समीक्षक-विचारक हैं। इक्कीसवीं सदी की देहरी पर खड़े होकर वे भारतीयता, संस्कृति, सृजनात्मकता, साहित्य और सामाजिक दायित्वबोध पर विचार करते हुए स्पष्ट करते हैं कि आज के सन्दर्भ में मौलिक विचार और मौलिक कर्म की विशेष आवश्यकता है जिससे कि हम अपने और अपनी संस्कृति के जिम्मेदार प्रतिनिधि की हैसियत से बोल सकें। उनका यही दायित्वबोध, उनकी यही सजगता, सचेतनता उनके लेखन को विशिष्ट बनाती है। कहने की जरूरत नहीं कि संस्कृति मंथन की गहन प्रक्रिया से उपजा उनका साहित्य विवेक इतिहास, संस्कृति और परम्परा से पोषित है। यही कारण है कि समकालीन सृजन परिदृश्य में शाह जी का लेखन एक अलग मुहावरा लिये हुए है। उनका समस्त चिन्तन हिन्दी के अति प्रसिद्ध लेखक अज्ञेय और निर्मल वर्मा की राह का चिन्तन है और उनसे स्वतंत्र भी। भारतीयता, परम्परा, संस्कृति और साहित्य को वे अनवरत संस्कार की परम्परा से जोड़ते हैं। उनके लिए अपने को निरन्तर माँजना ही आधुनिकता का पर्याय है। कहने की जरूरत नहीं कि उनकी आधुनिकता एक गहरे अर्थ में देशज आधुनिकता ही है। आज की तेज भागती आधुनिकता और उसके शोर, चीख-पुकार में धँसे चालाक आधुनिक मनुष्य को सबकुछ जल्दी, फटाफट चाहिए। फल ही उसका ध्येय है .... पीड़ा, श्रम, संघर्ष जैसे शब्द उसके लिए अचानक निरर्थक हो गये हैं। *'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'*—उसके लिए मात्र एक अप्रासंगिक पंक्ति रह गई है। शाह जी ने आधुनिकता के भँवर में फँसे ऐसे मनुष्य की कमजोरी को ठीक ही पकड़ा है : 'कुछ होना चाहिए, यह बेचैनी और हड़बड़ी और चीख-पुकार चारों ओर है। पर जिस के लिए वह 'कुछ' होगा, उसकी फिक्र कोई नहीं करता। न किसी को फुर्सत है। संघर्ष है, पर सार्थक रूपाकार के लिए संघर्ष नहीं है। सार्थक रूपाकार के संघर्ष को सरलीकृत किया गया है।' प्रश्न है, ऐसे में करें तो आख़िर क्या करें जिससे हम अपने खोए हुए अर्थ को फिर से पा सकें?भ्रष्ट और विगलित समय को सार्थक और मूल्यवान अभिव्यक्ति दे सकें? शाह जी उपाय सुझाते हैं : 'क्या राजनीति, क्या साहित्य में, 'लोकचित्त' ही वह माध्यम है, जिस पर एकाग्र होकर आप उस परिवर्तन, उस क्रान्ति का आवाहन कर सकते हैं जो जीवन के कुण्ठित और भ्रष्ट हो गये अर्थ को, खोये हुए अर्थ को फिर से लौटा सके।'

कुल मिलाकर रमेशचन्द्र शाह उन विरले व्यक्तियों और लेखकों में से हैं जो अपने देश-काल की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए साहित्य की बहुविधाओं में निरन्तर सृजनशील रहे हैं। सृजन का यह सिलसिला आज भी पूर्ववत् जारी है : 'है, अभी बहुत कुछ और है, जो कहा नहीं गया'—'श्रेष्ठतम रचना अभी बाकि है'। मौजूदा परिदृश्य में देश और विदेश में अपनी सृजन प्रतिभा का लोहा मनवाने वाले शाह जी विरले साहित्यकार हैं, और ऐसे में उनका पर्याय ढूँढ़ना मुश्किल है। कहना, वरन् दोहराना निरर्थक है कि शाह जी का बहुमुखी और बहुविध सृजन हिन्दी साहित्य की अनमोल निधि है और इस नाते वे हिन्दी साहित्य के इतिहास के 'तपस्वी साधक सर्जक' हैं.... 'मील के पत्थर' हैं, जबकि हमारे लिए तो वे 'जीवित किंवदन्ती' हैं।

राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

भारत में औपनिवेशिक हस्तक्षेप की बौद्धिक परियोजनाएँ

सर्वेश पाण्डेय

औपनिवेशिक पराधीनता को भोगते हुए भारतीयों द्वारा अपनी पहचान को लेकर एक प्रकार की सांस्कृतिक द्विधा उत्पन्न होती है, जिसका अनुभवजन्य बयान प्रस्तुत करते हुए जवाहरलाल नेहरू बताते हैं, ''मैं पूर्वी और पश्चिमी दुनिया का एक विचित्र मिश्रण बन गया हूँ, हर जगह बेगानापन महसूस होता है, कहीं भी अपनेपन का एहसास नहीं होता। जीवन के संबंध में मेरे विचार और दृष्टिकोण उस चीज़ से शायद कम मेल खाते हैं जिसे पूर्वी कहा जाता है और उससे ज़्यादा जो पश्चिमी कहलाती है लेकिन साथ ही भारत असंख्य रूपों में मुझसे उसी तरह चिपटा हुआ है जिस तरह वह अपनी सारी संतानों से चिपटा हुआ है। .... मैं न तो उस अतीत की विरासत से छुटकारा पा सकता हूँ और न हाल में जो कुछ प्राप्त किया है उससे। .... पश्चिमी दुनिया में मैं अजनबी और पराया हूँ। मैं उसका हिस्सा नहीं हो सकता। लेकिन खुद अपने देश में मुझे कभी-कभी किसी निर्वासित व्यक्ति जैसा महसूस होता है।''[1] निर्मल वर्मा का अनुभव भी कुछ इसी प्रकार का है, वे लिखते हैं कि ''मुझे लगता है मेरी चेतना के बीचों-बीच एक फाँक खिंच गई है। एक तरफ आधुनिक अनुभव हैं- दूसरी तरफ अखण्डित सम्पूर्णता का अनुभव, जिसमें मेरी संस्कृति का स्वप्न छिपा है और बीच में ऐसा कोई धागा नहीं है जो मेरे वस्तु अनुभव को मेरे स्वप्न अनुभव से जोड़ सके-हालाँकि दोनों ही मेरे समकालीन चेतना के सच्चे और प्रमाणिक पहलू हैं।''[2]

ये दोनों विचार ब्रिटिश औपनिवेशीकरण के कारण पैदा हुए भारत की ज्ञानमीमांसात्मक दरार को बताते हैं। यों तो ब्रिटिशों के आने के पहले भी कई लोग भारत में आए और इसकी इन्द्रधनुषी छटा को मजबूत किए लेकिन ब्रिटिशों का आना, पूर्ववर्तियों जैसा आना नहीं था। हालाँकि सिकन्दर से पहले भी यूरोप का भारत से परिचय हो चुका था लेकिन सिकन्दर के अभियान के बाद तो परिचय का स्वरूप बदलने के साथ-साथ गहरा भी हुआ। 1498 ई. में पुर्तगाल के नाविक वास्को-डि-गामा द्वारा 'भारत की खोज' से तो एक अलग तरह का सिलसिला शुरू होता है। रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं, 'कालीकट में वास्को-डि-गामा से जमोरिन ने जब ये पूछा कि 'कहाँ आए हो?' तब उसने कहा, ईसाईयों और मसालों की खोज में।' सत्य ही यूरोप वाले भारत की ओर दो कारणों से प्रवृत्त हो रहे थे। एक तो ईसाईयत का प्रचार करने को, दूसरे व्यापार द्वारा धन बटोरने को। कालीकट का राजा वास्को-डि-गामा से मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने पुर्तगाल के राजा को पत्र लिखा कि अब से हम और तुम मित्र हो और हम दोनों देशों के बीच खुलकर व्यापार चलना चाहिए। लेकिन, पुर्तगाल के राजा ने, जबाब में कालीकट को अपना उपनिवेश मान लिया और यह हुक्म देकर पुर्तगाल से एक बड़ा-सा बेड़ा भारत भेज दिया कि उस देश में ईसाईयत का प्रचार करो और जहाँ जरूरत हो, वहाँ युद्ध भी।[3] इसी मंशा से बाद

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 88-107*

में हॉलैंड, फ्राँस एवं अंग्रेज़ों का आगमन होता है। अंग्रेज़ों के आने बाद तो यूरोपीय हस्तक्षेप की मुकम्मल तस्वीर बनती है। यद्यपि शुरूआत में अंग्रेज़ व्यापारी की हैसियत से आए लेकिन धीरे-धीरे उनमें राज्य स्थापित करने का लोभ मजबूत होता गया। रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखते हैं कि, 'रातोंरात सौदागरों का तराजू राजदंड में बदल गया।'[4] तराजू से लेकर राजदंड के क्रमिक विकास की यात्रा में अंग्रेज़ों ने बहुत ही सोची समझी रणनीति के तहत कार्य किया। वे एक सांस्कृतिक कर्म के रूप में भारत पर अपनी श्रेष्ठता साबित करने में लीन हुए। उनकी इस परियोजना से भारत ख़ासकर मध्यम वर्ग, ब्रिटिश औपनिवेशिक मूल्यों एवं विचारधारा के प्रभाव में तल्लीन होता गया जिसकी परिणति में 'सांस्कृतिक तथा बौद्धिक द्वीप की सृष्टि हुई।'[5]

भारत में अपने शासन को 'वैधानिक' एवं 'नैतिक' जामा पहनाने एवं भारत की एक 'नई छवि' गढ़ने के लिए अंग्रेज़ों द्वारा उच्च स्तरीय बौद्धिक परिघटनाएं बनायी गईं जिसमें अनेक विद्वान चाहे-अनचाहे शामिल हुए। औपनिवेशिक हस्तक्षेप की बौद्धिक परियोजनाओं को हम निम्नलिखित तरीके से समझ सकते हैं।

(क) एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना

1772 ई. में वारेन हेरिंस्टग्स भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया। भारत आने के बाद उसे इस बात का गहराई से ज्ञान हुआ कि एक मजबूत प्रशासन की बुनियाद डालने के लिए नागरिक सेवा में आए हुए ब्रिटिश अफसरों को भारतीय समाज-संस्कृति का समुचित बोध हो। 4 अक्टूबर 1784 ई. को उसके द्वारा एम. स्मिथ को लिखे पत्र इसी बात को प्रमाणित करते हैं, 'ज्ञान का हर संचय और ख़ासकर उस ज्ञान का संचय जिससे हम उन लोगों से सामाजिक संवाद स्थापित करते हैं जिन पर विजय के अधिकार के आधार पर हमने प्रभुत्व स्थापित किया, राज्य के लिए उपयोगी है। यह मानवता की महान उपलब्धि है।'[6] इस कड़ी में 1784 ई. को विलियम जोन्स द्वारा एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई और यहीं से 'भारत की खोज' का एक व्यवस्थित अभियान चला। लेकिन पृष्ठभूमि बननी तो पहले ही शुरू हो गई थी, जिसके संबंध में धर्मपाल लिखते हैं कि, जहाँ ब्रिटिश, डच, पुर्तगाली और फ्रेंच लोगों के समूह सीधे या कि 16वीं-17वीं शती में बनायी अपनी विविध ईस्ट इंडिया कम्पनियों के नाम से भारतीय क्षेत्र एवं भारतीय महासागर क्षेत्र में अपना प्रभाव, आधार, स्थिति सुद्रढ़ करने में लगे थे, वहीं यूरोपीय विद्वान इस क्षेत्र की सभ्यता को समझने में निरन्तर प्रवृत्त थे, ताकि उस ज्ञान का लाभ उठाकर इस सभ्यता को अपने हिसाब से ढाल सकें और प्रभावित कर सकें। इनमें विविध ईसाई मठों के पंथ प्रचारक एवं पंथाधिकारी प्रमुख थे, विशेष कर जेसुइट लोग। ये लोग भारतीय विज्ञान, सामाजिक प्रथाएँ, रीति-रिवाज, तत्त्व ज्ञान एवं धर्म-पंथों को समझने हेतु सक्रिय थे। कुछ अन्यों की रुचि अधिक राजनैतिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक विषयों में थी। वे 'कथात्मक' एवं 'उत्तेजनापूर्ण', 'पूर्व' के अपने अनुभव और कथाएँ लिखते थे। यूरोपीय अभिजात वर्ग में इस तरह की लिखित सामग्री की इतनी मांग बढ़ी कि शीघ्र ही एक या एकाधिक यूरोपीय भाषाओं में ऐसे साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। जो वृत्तान्त और विमर्श किन्तु विशिष्ट विद्वज्जनोचित उपयोग के थे, अथवा धार्मिक अभिप्राय के काम के थे उनकी हाथोहाथ अनेक प्रतिलिपियाँ तैयार होती थीं। उदाहरणार्थ, एक विदुषी ने डॉक्टरेट के अपने शोधग्रंथ 'एटूड सुर ल रोल देस मिसनरीज योरोपीन्स दान्स ला फार्मेशन प्रीमियर्स देस इडीज सुर इ इन्दे' में बताया कि अठारहवीं शती के आरम्भ की एक पांडुलिपि 'ट्रेट दे ला रिलीजन देस मालावर्स' की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं। उसकी पहली प्रतिलिपि पांडिचेरी में 1699 से 1720 ई. तक पेरिस फारेन मिशन के प्राकूरेटर रहे टेसीयर डे केव्रले द्वारा 1709 ई. में पूर्ण की गई थी। वे 1727 ई. में थाइलैंड के एपास्टालिक वाइकार नामांकित किये गये थे। इस पाण्डुलिपि की प्रतियाँ इन संग्रहालयों में उपलब्ध हैं, पेरिस में बीबिलयाथिक नेशनल में 3 प्रतियाँ,

बीबिलयाथिक दे ल आर्सनल में एक प्रति, बीबिलयाथिक स्टे. जेनेवी में एक प्रति, आरकाइव्स नेशनल में एक प्रति, चार्टर्स में बीबिलयाथिक म्युनिसिपेल में एक प्रति, जो कि पहले गवर्न बेनाइ डूमा के पास थी, लंदन में इंडिया आफिस लाइब्रेरी में दो प्रतियाँ-एक कर्नल मैकेजी के संग्रह में, दूसरी जान लंडेन के। रोम में एक प्रति (बीबिलयाटेका केसानटेसा, जिसमें वेटिकन कलेक्षन है) ऐसी संचित सामग्री के विशाल संग्रह के कारण यूरोपीय विद्वानों का ध्यान भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया की राजनीति, विधिशास्त्र, दर्शन विज्ञान और भारतीय गणित ज्योतिष की ओर गया। वाल्टेयर, एबे रेनाल, जां सिलवां बैली जैसे योरोपीय विद्वान लोगों के प्रभाव को ग्रहण कर ब्रिटेन में भी एडम फर्गुसन, विलियम राबर्टसन, जान प्लेफेयर और मेकनोची आदि ने भारतीय राज्य, राजनीति, समाज-जीवन, सामाजिक संबंध आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त करने में गहरी रुचि दिखाई। अपने सुनियोजित प्रयास में वे सब क्रमशः भारतीय राज्य, राजनीति एवं समाज व्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाने जाते में सफल होते गए। अपने प्रयोजन के अनुरूप वे भारत के बारे में जानकारी एकत्र करते रहे।''[7]

इस जानकारी ने योरोपीयों के लिए बुनियादी स्रोत का काम किया जिसके फलस्वरूप 'प्राच्यवादी' अवधारणा की उत्पत्ति हुई। इस अवधारणा के प्रक्रिया की पुष्टि चार्ल्स विलकिंस, विलियम जोन्स, एफ.डब्ल्यू. एलिस, लेफ्टिनेंट विलफोर्ड जैसे विद्वानों के कार्यों से होती है। इन विद्वानों ने विस्मृति के अँधेरे में डूबे भारत के अतीत के विषय में व्यस्थित ज्ञान प्राप्त करने का भरसक प्रयास किया। जोंस के शब्दों में एशिया में जो कुछ एक (मनुष्य) के द्वारा निष्पादित किया जाता है और दूसरी (प्रति) के द्वारा उत्पादित की जाती हैं, उसकी छानबीन करना था।[8] इस छानबीन का उपयोग शासन-संबंधी क्रिया-कलापों में उठाया गया। मजूमदार, राज चौधरी और दत्ता वारेन हेस्टिंग्स एवं उनके समकालीन प्राच्यवादी विद्वानों एवं संस्थाओं की कार्य-योजना को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, वारेन हेरिंस्टग्स ने अपने प्रयत्नों से भारतीय संस्कृति को समझने के लिए पारसी एवं संस्कृत भाषा के धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया और इनसे मिले ज्ञान का प्रशासनिक मामलों में बख़ूबी प्रयोग किया। कलकत्ता मदरसा स्थापित करने का श्रेय वारेन हेरिंस्टग्स को ही जाता है। इसी उत्साह एवं ललक के साथ 1784 में सर विलियम जोन्स ने कलकत्ता में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की और उसके बाद 1792 में बनारस में रहने वाले जोनाथन डंकन ने एक संस्कृत कालेज स्थापित किया। हालाँकि उस समय तक किसी भी व्यक्ति ने एक शिक्षा व्यवस्था स्थापित करने का न तो कोई प्रस्ताव किया था और न ही इस तरह कोई सुझाव आया।[9]

एशियाटिक सोसाइटी के प्रमुख कार्यो में से था साहित्य, कला और धर्म संबंधी रचनाओं की खोज एवं उसका अनुवाद करना। यह अनुवाद कार्य दो स्तरों पर चल रहा था। एक साहित्यिक रचनाओं का जो भारतीय उच्च वर्ग में प्रचलित थीं, अनुवाद द्वारा पश्चिमी समाज में बहुत लोकप्रिय हुई। दूसरा धार्मिक रचनाओं का अनुवाद, जिनका उपयोग प्रशासनिक नियमों को जायज ठहराने में हुआ। 1789 ई. में विलियम जोन्स द्वारा कालिदास के नाटक शंकुतला एवं 1794 ई. में जयदेव कृत गीत गोविन्द का अनुवाद पहले वर्ग में आता है तो 1784 में चार्ल्स विलिकन्स द्वारा अनुवादित गीता एवं 1794 में मनुस्मृति का 'इंस्टीट्यूट आफ हिन्दू लॉ' के नाम से अनुवाद दूसरे वर्ग में आता है। ग़ौरतलब है कि केवल गीता एवं स्मृति में से केवल मनुस्मति के अनुवाद के पीछे अंग्रेज़ों के निहित उद्देश्य थे। मनुस्मृति में नियमों के पालन में ज़्यादा सख़्ती बरती गई है जिसका अंग्रेज़ों ने अधिक राजस्व वसूली के हितार्थ प्रयोग किया। मनुस्मृति के अनुवाद के आमुख में जोन्स ने बताया कि यदि इस नीति पर चला जाए तो ''लाखों करोड़ो हिन्दू प्रजा द्वारा सुनियोजित उद्योग-धंधे काफी हद तक ब्रिटेन की धन-सम्पत्ति में ही वृद्धि करेंगे।''[10] धार्मिक ग्रंथों के चयन एवं उसके अनुवाद के पीछे की योजना को

रेखांकित करते हुए धर्मपाल भी लिखते हैं, 1780 से आगे अंग्रेज़ों ने अनेक कारणों से मनु संहिता को विशेष महत्त्व दिया। 1815 ई. के लगभग, लंदन में विविध भारतीय ग्रंथों एवं पाठों के अनुवाद और प्रकाशन के कार्य को हतोत्साह किया जाने लगा। उस समय जिस एकमात्र पुस्तक के पुनर्मुद्रण को प्रोत्साहन दिया गया, वह कुल्लूक भट्ट की टीका सहित मनुस्मृति का प्रकाशित संस्करण था।''[11] इसी तरह गीता जैसी पुस्तक जिसका कोई प्रशासनिक सरोकार नहीं था राजनीतिक हितों के लिए प्रयुक्त की गई ताकि प्राच्यवादी रूप-रंग को वैध ठहराया जा सके। गीता के अनुवादक चार्ल्स विलकिन्स, वारेन हेरिंस्टग्स को लिखे अपने पत्र में कहते हैं, सर पूरी दुनिया आपके द्वारा मेरे सहयोगियों को दिए गए असीमित संरक्षण व व्यक्तिगत प्रेरणा से अवगत है। इसने उन्हें स्थानीय लोगों की भाषा, कानून और परंपरा के अध्ययन के जरिए उन्हें वाणिज्य, राजस्व और नीति जैसे विभिन्न विभागों में अपने कर्तव्यपालन में अधिक योग्य बना दिया है।[12] इस प्रकार के कार्यों से अंग्रेज़ अधिकारी दो लक्ष्य साधते। एक तरह जहाँ औपनिवेशिकता के शिकार भारतीयों को 'गुलामी की जंजीर' की रगड़ से कम तकलीफ पहुँचती वहीं वे ब्रिटिश जनमत को भी प्रभावित करते। 1784 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी के गवर्नर जनरल वारेन हेरिंस्टग्स द्वारा अपनायी गई इस कार्य-योजना की झलक उनके द्वारा कंपनी के चेयरमैन एम. स्मिथ को लिखे ख़त से मिलती है, ''यह योजना यहाँ पर गुलामी से जकड़े निवासियों की जंजीर की रगड़ को भी कम कर देगी और हमारे देश के लोगों के दिलों में भी विनम्रता की भावना और जिम्मेदारी के अहसास को जाग्रत कर देगी।''[13]

इस प्रकार सोसाइटी द्वारा किए गए कार्यों के हवाले से कहा जा सकता है कि वे बिना प्रशासन की सहायता से अपना शोध-कार्य जारी नहीं रख सकते थे। जो महत्त्वपूर्ण कार्य थे उसे शासन से प्रायोजित किया। एशियांटिक सोसाइटी से जुड़े कार्यों का विशद अध्ययन ओ.पी. केजरीवाल ने किया। वे वारेन हेरिंस्टग्स एवं विलियम जोन्स तथा अन्य महानुभावों के कार्यों पर मुग्ध हैं और उन्हें भारतीय ज्ञान मंडल की खोज करने वाले कापरनिकस से कम कुछ मानने को तैयार भी नहीं हैं, क्योंकि अनेक विषम परिस्थितियों में, स्थानीय जलवायु का प्रकोप सहते हुए भी भारत के बिखरे हुए इतिहास को एक स्पष्ट रूप दिया लेकिन हमने उनके इस उपलब्धि एवं ऐतिहासिक कर्त्तव्य के बदले इन विद्वानों को साम्राज्यवादी के रूप में प्रस्तुत किया, ''ब्रिटिश इतिहासकारों और विद्वानों को या तो भुला दिया या फिर उन्हें पूर्वग्रहों से ग्रस्त साम्राज्यवादी के रूप में प्रस्तुत किया गया।''[14] उनकी दलील है कि उस समय प्रशासनिक दुनिया एवं अकादमिक दुनिया में एक दूरी थी एवं विद्वानों ने तो बिना प्रशासन की किसी ठोस सहायता के अपने कामों को पूरा किया। 'इस काल में दो अलग-अलग संसार थे। एक था ज्ञान-विज्ञान और शोध का और दूसरा था प्रशासन का क्षेत्र। वे अनिवार्यतः एक दूसरे के पूरक न थे।'[15] ठीक बात है कि बेहद कठिन परिस्थितियों में सोसाइटी के लोगों ने भारत का अध्ययन किया लेकिन यह बात भी उतनी ही सही है कि उन सबका उद्देश्य साम्राज्यवाद को पुष्ट करना ही था। हो सकता है एक दो अपवाद रहे हों लेकिन अपवादों के आधार पर तो सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता। विद्वानों में चाहे जो भी मतभेद[16] रहे हों लेकिन वे एक बात में एकमत थे कि साम्राज्यवाद अक्षुण्ण रहे। स्वयं विलियम जोन्स ने अन्य लोगों को यह विश्वास दिलाया कि भारतीय उन दिल्ली के सुलतानों और क्षुद्र राजाओं की तुलना में हमारे अधीन अधिक सुखी हैं जिनके अधीन वे थे या होते।[17] सोसाइटी के परियोजना के विषय में पणिक्कर बताते हैं कि, एशियाटिक सोसाइटी ने जिन अनुसंधानों को बढ़ावा दिया उसके फलस्वरूप भारतीय सभ्यता के संबंध में ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे साम्राज्य की दो जरूरतें पूरी हुईं। एक तो यह कि अतीत की उपलब्धियों के प्रकाश में वर्तमान के ह्रास को उजागर करने में सहायता मिली, जिसके सहारे औपनिवेशिक हस्तक्षेप का कारण बताते हुए उसे वैध करार

दिया गया। दूसरे, उससे साम्राज्यीय शासन को अधीनीकृत लोगों के संसार के संबंध में महत्त्वपूर्ण अंतदृर्ष्टियां प्राप्त हुईं। इस प्रकार ये दोनों बातें औपनिवेशिक नियंत्रण से अभिन्न रूप से संबद्ध थीं।''[18] विचारणीय है कि एशियाटिक सोशाइटी की संकल्पनाओं में हिन्दू, मुसलमान के आत्यंतिक श्रेणी का विभाजन भी स्पष्ट था। जैसे-जैसे भारत में उनकी राजनीतिक दिलचस्पी बढ़ती गई वैसे-वैसे वे विभाजन की नीति को एकदम से स्पष्ट कर, अलग सामुदायिक पहचान बनाकर 'फूट डालो राज करो' में जुट गए। 'औपनिवेशिक रिकाड्र्स में उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक ग्राम समुदाय ही भारतीय समाज की वह बुनियादी इकाई है जो उसके सार का प्रतिनिधित्व करती थी। लेकिन शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते इसकी जगह 'जाति' ने ले ली।'[19]

ज्ञान का संबंध सिर्फ जिज्ञासा से नहीं होता अपितु उस शक्ति से भी होता है जिससे वर्चस्व की स्थापना को वैधानिक स्वरूप दिया जाता है। आखिरकार पश्चमी जगत की यह धारणा है कि 'नालेग इज पवार'। निःसन्देह विलियम जोन्स विद्वान थे, उनकी यह विद्वत्ता या आलोचनात्मक विवेक कई स्थलों पर भारतीय साहित्य के बारे में निष्पक्ष मूल्यांकन करता प्रतीत होता है, लेकिन थे तो साम्राज्यवादी सत्ता के उपकरण ही। अतः उनका ज्ञान तटस्थ मूल्यांकन की अपेक्षा कुछ और अधिक था।

साम्राज्यवादी सत्ता जटिल तरीकों से, विरोधाभासी विचारों को पचाकर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को सफलतापूर्वक लागू कर रही थी। वारेन हेरिंस्टग्स द्वारा सोसाइटी की स्थापना एवं भारतीय अतीत की खोज एवं चार्ल्स ग्रांट एवं जेम्स मिल इत्यादि द्वारा भारतीय अतीत की निंदा, ये दोनों धाराएँ उसी सत्ता से निकलती और उसी में समा जाती। साम्राज्यवादी सत्ता के इस गति-विज्ञान को एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक 'ओरिएन्टलिज़्म' (1978) में स्पष्ट किया है। उनके लिए 'प्राच्यवाद पूरब के बारे में वक्तव्य जारी करने, उसके प्रति घृणा का दृष्टिकोण निलमत करने, उसकी व्याख्या करने, उसके बारे में शिक्षित करने, उसे बसाने एवं उस पर शासन करने का एक पूँजीवादी संस्थान है, संक्षेप में प्राच्यवाद पूरब पर अधिपत्य ज़माने और उसकी पुनर्रचना करने की पाश्चात्य शैली है .... प्राच्यवाद की ऐसी वर्चश्वशाली स्थिति रही कि कोई भी व्यक्ति जो पूरब के बारे में लिखता, सोचता या सक्रिय रहता रहा है वह अपने विचारों और क्रियाकलापों पर प्राच्यवाद द्वारा थोपी गई सीमाओं को ध्यान में रखे बग़ैर सक्रिय नहीं रह सकता। ऐसा नहीं कि प्राच्यवाद, पूरब के बारे में जो कुछ भी कहा सुना जाता है, उसे एकतरफा ढंग से निर्धारित करता है। लेकिन वह (पश्चिमी) हितों का ऐसा संजाल है जो पूरब का प्रश्न उठने पर अनिवार्यतः असर डालता है।[20] इस पुस्तक के महत्त्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसके प्रकाशन के बाद से इस विषय पर यदि एक भी लेख लिखना हो तो इसके बिना बात पूरी नहीं होती। लेकिन ओ.पी. केजरीवाल एवं ए.एल. बाशम जैसे लोग प्राच्यवादी संस्थान के किसी व्यापक साम्राज्यवादी परियोजना का हिस्सा होने से इंकार करते हुए सईद से भिन्न मत रखते हैं और उन्हें पूर्वग्रहों से ग्रस्त एवं अतिवादी आलोचना होने का आरोप तक लगाते हैं। तमाम आलोचना के बावजूद इस बात से तो इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत पर ब्रिटिश शासन को न्यायोचित होने का विचार प्राच्यवादियों ने ही दिया। ज्ञान बेशक मुक्त करता हो लेकिन जब ज्ञान ही मुक्त न हो तो गुलामी के परिष्कृत प्रतिमानों का ही निर्माण करता है।

(ख) पुनर्जागरण

एमिल्कर कैबलर ने एक महत्त्वपूर्ण स्थापना दी है, 'राष्ट्रीय मुक्ति अनिवार्यतः संस्कृति का कर्म है।'[21] यह कर्म भारतीय चिन्तकों द्वारा 19वीं सदी में प्रारंभ हो चुका था जिसे बंगला नवजागरण के नाम से जाना जाता है, जो अनवरत जनान्दोलन में बदलता हुआ अखिल भारतीय हो गया।

बंगला नवजागरण के विषय में सुषोभन सरकार नोट करते हैं, 'यूरोपीय नवजागरण की तुलना में बंगला का नवजागरण सीमित, आंशिक तथा कुछ हद तक कृत्रिम है। किन्तु, इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारे जागरण का ऐतिहासिक महत्त्व नगण्य है। आधुनिक समालोचकों की दृष्टि में यूरोप का महान नवजागरण भी दोषों से रहित नहीं है। बाकी उपलब्धियाँ भी कुछ अंशों तक सीमित रहीं। लुप्त अतीत का अंधानुकरण, गैर-क्लासिकी विचारों तथा मध्ययुगीन अनुभवों की उपेक्षा, अशिक्षित समुदायों तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों के बीच गहरी खाई अवश्य ही उसकी वास्तविक दुर्बलताएं थी। यहाँ पर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे प्रथम पीढ़ी के उन बंगाली युवाओं का भी ज़िक्र करना जरूरी है जिनके लिए मिल, स्पेंसर, रूसो और टाम पेन एक प्रकार से नशा बन गए। इन तरुण बंगालियों का मानना था कि ब्रिटिश व्यवस्था ने उक्त चिंतकों के सिद्धान्तों को साकार किया है लिहाजा यही व्यवस्था उन्हें नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रता का वरदान दे सकती है। अंग्रेज़ी चिंतकों से प्रभावित, अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे बंगालियों की प्रथम पीढ़ी ने जो आन्दोलन चलाया उसे 'तरुण बंगाल आन्दोलन' कहा गया। 'तरुण बंगाल' की चिन्तनधारा (जिसे इसी दल के सदस्य प्यारेचंद मित्र ने 1877 ई. में 'तरुण कलकत्ता' की संज्ञा दी) 19वीं शताब्दी के तीसरे दशक के अंतिम वर्षों में उद्भूत हुई और पांचवे दशक तक प्रवाहित हुई। पांचवें दशक के मध्य में ही गति धीमी पड़ गई। इसके प्रेरक डिरोजियो (1809-31) एक सक्षम विद्वान, प्रतिभाशाली लेखक, मौलिक चिंतक तथा नवीन शिक्षा के अत्यन्त ख्याति प्राप्त अध्यापकों में से थे।[22] इस धारा के प्रतिनिधि में रसिकृष्ण मल्लिक (1810-58), दक्षिणारंजन मुखोपाध्याय (1812-87), कृष्णमोहन बंधोपाध्याय (1813-85), रामगोपाल घोष (1815-68), शिवचंद देव (1811-90) इत्यादि थे। इस धारा के लोगों का यकीन था कि ''यूरोपीय शिक्षा तथा वैज्ञानिक प्रशिक्षण की सर्वाधिक आवश्यकता है। ये लोग आचार-व्याहार एवं खान-पान में जो कुछ निषिद्ध था उसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे। सूअर और गोमांस खाकर शराब पीकर अपनी मानसिक उदारता को प्रदर्शित करते थे। कहने को तो ये तार्किक थे लेकिन ब्रिटिश शासन की शोषणकारी स्वरूप को आंकने में पूरी तरह असफल रहे क्योंकि इनका ध्यान पूरी तरह तात्कालिक लाभ पर था एवं किसान मजदूर की दुनिया से बेख़बर थे।''[23]

नवजागरण के अग्रदूत कहे जाने वाले राजा राममोहन रॉय के यहाँ भी बौद्धिक द्विधा स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। कहा जाता है कि राममोहन रॉय के कलकत्ते में दो घर थे। एक में वे यूरोपीय मित्रों की मेजबानी करते थे और दूसरे में उनका परिवार रहता। पहले घर में सिवा राममोहन के हर चीज़ यूरोपीय थी और दूसरे में सिवा राममोहन के हर चीज़ भारतीय थी। यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि वे अंग्रेजों के निकट सहयोगी थे। विलियम बेंटिक उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त भारतीय कहते थे। राममोहन रॉय की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि 'सती प्रथा' को समाप्त करने को लेकर है। हालाँकि इस प्रथा को लेकर बड़ा विवाद छिड़ा और लामबंदी भी हुई जो क्रमशः 'रूढ़िवादी' एवं 'सुधारवादी' के रूप में जानी जाती है। राधाकांत देव एवं उनके समर्थक 'रूढ़िवादी' कहलाये और राममोहन राय एवं उनके समर्थक सुधारवादी कहलाये जबकि दोनों के लिए आधार धार्मिक ग्रंथ ही थे, अंतर केवल उनकी व्याख्या को लेकर था। अपने 'साभ्यतिक मिशन' को लेकर सर्तक रहने वाले अंग्रेज़ राममोहन रॉय के पक्ष में थे। अंग्रेज़ों के लिए भी सती प्रथा, बाल विवाह, कन्या भ्रूण हत्या, मूलतपूजा, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता इत्यादि को उजागर करके और इसी आधार पर औपनिवेशिक शासन को वैध ठहराना उचित जान पड़ता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी राज की विचारधाराओं का अध्ययन कर रहे थॉमस मेटकॉफ लिखते हैं, ''ऐसी कुरीतियों को इस प्रकार से नाटकीय प्रस्तुति राज की अपनी छवि के लिए आवश्यक थी। अंग्रेज़ों को भारतीय नैतिकता के सुधार से संबंधित गतिविधियों के अलावा शायद ही किसी

दूसरी चीज़ में अधिक संतोष मिला हो।''[24] ग़ौरतलब है कि सती प्रथा को लेकर जिस तरह भारत की छवि गढ़ी गई वैसा कुछ था ही नहीं। बंगाल और कुछ हद तक राजस्थान के उच्च वर्गीय हिन्दुओं को छोड़कर इस प्रथा का पालन शायद ही कोई करता था। इस प्रथा को लेकर जो अध्ययन हुए उसके दस्तावेजों की कहानी तो कुछ और ही है। सती होने की प्रथा महज कुछ जातियों या यों कहें कि परिवारों तक सीमित थी। पूर्वी और उत्तरी भारत के कुछ हिस्सों को छोड़कर बाकी जगहों पर लोगों ने इसके बारे में सुना तक नहीं था। सन् 1815 से लेकर सन् 1823 के बीच सती होने की घटनाओं में से 63 फीसदी घटनाएँ अकेले कलकत्ता मंडल में हुई। (जबकि उस समय कलकत्ता अंग्रेज़ों के शासन की धुरी थी)[25] आनंद ए. यांग (हूज सती : विडो बलनग इन अर्ली नाइराटीन सेंचुरी), तनिका सरकार एवं सुमित सरकार (विमेन एंड सोशल रिफॉर्म इन मॉडर्न इंडिया : अ रीडर) ने भी सती प्रथा को लेकर अध्ययन किया और पाया कि, अंग्रेजों द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों के अनुसार 1842 ई. में बंगाल सूबे में विधवा होने वाली 2,50,000 औरतों में से केवल 600 औरतों के सती होने की बात सामने आई। यानी कुल विधवा महिलाओं की तुलना में सती होने वाली महिलाओं की संख्या महज़ 0.2 फीसदी थी।[26] हिन्दुओं की सबसे प्राचीन धार्मिक नगरी वाराणसी के आँकड़े तो आँख खोल देने वाले हैं। ''वहाँ सती होने के मामले छिट-पुट ही थे और बनारस के जिलाधीश ने वास्तव में नस्लवादी दृष्टिकोण से ही सही बड़े आश्चर्य के साथ पाया कि सन् 1820 से 1828 के बीच सती होने के महज 125 मामले ही सामने आए थे।[27] स्पष्ट है कि सती प्रथा के माध्यम से भारत की छवि को असभ्य, बर्बर, जंगली ही बनाने की थी। सती प्रथा के खिलाफ़ कानून को बनवाने में अहम भूमिका निभाने वाले विलियम कैरे लिखते हैं, 'गंगा का पानी शताब्दियों में पहली बार .... बिना खून से सने समुद्र में जाकर मिला।'[28]

सती प्रथा की ही तरह ठगी को लेकर अंग्रेज़ों की नीति स्पष्ट थी। बेशक उत्तर भारत के कुछ हिस्से में ठग सक्रिय थे लेकिन पूरे भारत में नहीं थे। मैरकॉफ लिखते हैं, 'सती के ख़िलाफ अभियान ने दुनिया के सामने भारतीय महिला को धर्म के सामने लाचार, अबला होने की छवि पेश की, वहीं ठगी की कहानी के जरिए यह धारणा प्रचारित की गई कि सभी भारतीय ख़तरनाक और अविश्वनीय होते हैं।'[29] स्पष्ट है कि अंग्रेज़ों के इस नीति के पीछे छिपे नीयत की निशानदेही राममोहन राय नहीं कर सके और अंग्रेज़ अपनी कार्य-योजनाओं का क्रियान्वयन उन्हीं के द्वारा करते रहे जिसका उन्हें बोध तक न था। राममोहन रॉय जब लंदन गए तो द टाइम्स ने अपने 13 जून 1931 वाले अंक में लिखा कि हम उनके आगमन को इस बात का संकेत मान रहे हैं कि आने वाले वक़्त में ग्रेट ब्रिटेन पूरब में अपनी जो जड़े मतबूत करना चाह रहा है और यूरोपीय ज्ञान व साहित्य का प्रचार करना चाह रहा है, उसमें उसे कामयाबी मिल रही है।[30] इसका कारण यह था कि राममोहन रॉय का आदर्श यूरोप था जिसके कारण वे इसके साम्राज्यवादी चेहरे को पहचान न सके। जिस समय अंग्रेज़ भारत में लूट-पाट का नया मानक गढ़ रहे थे उस समय रॉय अंग्रेज़ी राज को 'दैवी वरदान' के रूप में देख रहे थे। लेकिन इससे रॉय की देशभक्ति पर संदेह नहीं किया जा सकता। आख़िरकार वह मैक्समूलर ही था जिसको इस बात की गहरी चिंता थी कि सबकुछ हमारे पक्ष में था, रॉय हमारे इतने क़रीब थे फिर भी हम उन्हें इसाई नहीं बना सके। हालाँकि लगभग पूरा बंगाल ही अंग्रेज़ों के दैवी रूप के दीदार में था। सुषोभनम सरकार लिखते हैं कि 'सामाजिक सुधार, तर्क, बुद्धिवाद और मानवतावाद के क्षेत्र में बंगालियों की अभिलाषाओं का मूल स्रोत 19वीं शताब्दी का यूरोप था।'[31] निर्मल वर्मा भी बंगला पुनर्जागरण की निर्मम समीक्षा करते हुए लिखते हैं, मुझे लगता है कि उन्नीसवीं सदी के बंगाली बुद्धिजीवियों में सबसे अधिक सचेत और प्रखर बंकिमचंद्र चटर्जी ने यूरोप पर भारत की प्रतिक्रिया को बहुत सटीक ढंग से संक्षेपित किया, जब उन्होंने कहा, 'आज तक विश्व में ऐसी भौतिक समृद्धि के दर्शन नहीं किए जैसे आधुनिक योरोप की सभ्यता ने किए हैं। यह प्रगति अभूतपूर्व और आशातीत

है।' .... हम बंगाल के पुर्नजागरण जैसी विलक्षण सांस्कृतिक संघटना को कैसे समझ सकेंगे जो हिन्दुओं की ओर से योरोप से प्रतिकृत होने का एक विशाल अभियान था ताकि वे अपने अतीत को पुनर्परिभाषित कर सकें और अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की पड़ताल कर सकें? यह प्रक्रिया हर जगह एक सी नहीं थी, बल्कि वह एक ओर पंडित भूदेव मुखोपाध्याय और राधाकांत देव जैसे पारंपरिक पंडितों से लेकर दूसरी ओर राजा राममोहन रॉय और देवेन्द्रनाथ ठाकुर जैसे पश्चिमीकृत बौद्धिकों तक अनेक समूहों में भिन्न-भिन्न ढंग से फैली थी। .... यह एक ऐसी सांस्कृतिक उथल-पुथल का दौर था जिसे भारत में पहले कभी नहीं देखा गया। भारतीयों को पहली बार इतने खुले रूप में एक पूरी सभ्यता का सामना कर पड़ रहा था। शहरी मध्यवर्ग के मानस पर कितना गहरा प्रभाव था, यह इस बात से समझा जा सकता है कि एक आरम्भिक 'ज्ञानोदित' बंगाली पत्रिका ने अपने को उन लोगों की पत्रिका बताया जो 'जन्म से हिन्दू और शिक्षा से योरोपीय थे।' .... योरोप के विषय में भारतीयों के चाहे जितने भी विविध विचार रहे हों लेकिन सभी ऑगस्त कॉम्ते द्वारा प्रस्तावित इतिहास के उस विधेयवादी (पॉजिटिविस्ट) दर्शन के प्रति उत्साही थे, जिसके अनुसार, मनुष्यता धर्मशास्त्रीय और अधिभौतिक अवस्था से विकसित होती हुई पश्चिमी सभ्यता की वैज्ञानिक अवस्था में अपनी वयस्कता को प्राप्त करती है। आज हमें यह दृष्टि बचकानी और बासी लग सकती है, लेकिन यह तो पाश्चात्य-बुद्धि होगी। राजाराममोहन रॉय से लेकर विवेकानन्द जैसे ज्ञानोदित भारतीयों के लिए इस तरह ऐतिहासिक गल्प में केवल आस्था ही नहीं थी, बल्कि वे सोचते थे कि यह आस्था उन्हें ऐसे अंधविश्वास से मुक्ति दिलवा देगी जिसने भारत को शताब्दियों से अंधकार में फेंके रखा था।[32] इसी कारण यह लोग अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रमुख पैराकार भी थे। राममोहन रॉय ने 15 दिसम्बर 1829 को कलकत्ता टाउन हॉल में एक सभा में कहा कि 'जितना अधिक सम्पर्क हमारा पढ़े-लिखे अंग्रेज़ों के साथ होगा, उतना ही शैक्षिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से हमारा विकास होगा।'[33]

इन सबके अतिरिक्त इस नवजागरण में 'जातीय छवि' की तलाश भी एक केन्द्रीय प्रश्न था। एक तरफ प्राच्यविदों द्वारा खोजा गया गौरवशाली अतीत था, राजनीतिक-प्रशासनिक संरचनाओं के रास्ते आए हुए वर्तमान बदलाव थे तो वहीं यूरोपीय ज्ञानोदय के कारण तथ्यों एवं तर्कों के बदौलत, कार्य-कारण शृंखला से संचालित 'इतिहास' भी था जिसने भारत को एक नए देश-काल में पहुँचा दिया जहाँ अतीत और वर्तमान का स्पष्टतः भेद पैदा हुआ जिसे टैगोर 'बाहर से पृथक और अंदर से खण्डित'[34] के रुपक में समझाते हैं एवं निर्मल वर्मा 'भारतीय संस्कृति के देशकाल का औपनिवेशीकरण नहीं, बल्कि स्वयं एक भारतीय के मानस और उसके आत्मबोध का औपनिवेशीकरण'[35] बताते हैं। इन सबसे परे जानें के लिए भारतीय नवजागरण में 'आत्म छवि' की तलाश शुरू हुई, जहाँ एक तरफ अतीत से संवाद था तो दूसरी तरफ पश्चिम से भी था। इस कारण भारतीय नवजागरण अपनी कमियों के रहते हुए भी अपने आप में जटिल, संशलिष्ट एवं बहु-आयामी था, अपने में बहुसंदर्भी अर्थों को समेटे हुए था। इसीलिए निर्मल वर्मा लिखते हैं कि 'आत्मचेतना और आत्मखंडन दोनों का उत्स पुनर्जागरण में निहित था।'[36] इस पुनर्जागरण का सबसे प्रामाणिक आवाज़ महात्मा गाँधी बने।

(ग) औपनिवेशिक शिक्षा

19वीं शती के अधिकांश बौद्धिक जनों का विश्वास था कि 'ज्ञान' ही सभी दुःखों की दवा है। वे लोग भारतीय समाज में सभी दोषों का मूल कारण अज्ञान को मानते थे इसीलिए अपने सुधार के कार्यक्रमों में सर्वाधिक महत्त्व ज्ञान के प्रसार को देते थे। अक्षय कुमार दत्त, केशवचंद्र सेन, राममोहन रॉय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सर सैयद अहमद खाँ इत्यादि सभी लोगों का मानना था कि पारंपरिक शिक्षा समय के तकाजे के अनुकूल नहीं है लिहाजा नई शिक्षा की ओर उन्मुख हुआ जाए। गौरतलब है कि भारतीय बौद्धिक जनों के

शैक्षिक कार्यक्रमों का उद्देश्य जहाँ समाज-सुधार करके नवजीवन का संचार करना था वहीं औपनिवेशिक शासकों की शिक्षा नीति का उद्देश्य औपनिवेशिक विचारधारा का प्रसार करते हुए प्रशासनिक आवश्यकताओं को पूरा करना था।

मैकाले का यह प्रसिद्ध कथन कि, मुझे लगता है कि अपने सीमित साधनों को देखते हुए पूरे जन समाज को शिक्षित करना हमारे लिए असंभव है। अभी हमें एक ऐसा वर्ग तैयार करने में पूरा जोर लगा देना चाहिए जो हमारे और जिन करोड़ों लोगों पर हम शासन करते हैं उनके बीच दुभाषियों का काम करें। यह रक्त और रंग की दृष्टि से भारतीयों का लेकिन रुचियों, मतों, नैतिक मूल्यों तथा बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज़ों का वर्ग होगा। हमें देशी बोलियों का परिष्कार करने, पश्चिमी पारिभाषिक शब्दावली से शब्द उधार लेकर उन बोलियों को समृद्ध करने और उन्हें क्रमिक रूप से आम आबादी तक ज्ञान पहुँचाने के सक्षम वाहन बनाने का कार्य इसी वर्ग पर छोड़ देना चाहिए।[37] इस प्रकार यह नूतन शिक्षा नवजीवन का संचार करने के बनिस्बत औपनिवेशिक राज्य को अधिक मजबूत बनाने एवं मानसिक गुलामी पैदा करने में सबसे ज़्यादा सहायक साबित हुई। 'विदेशी हुकूमत सिर्फ पुलिस और सेना के बल पर टिकी हुई नहीं थी; विचारधारात्मक प्रभावों से सृजित भ्रम भी उसके लिए मजबूत पाए का काम करता था। इस भ्रम की सृष्टि में शिक्षा की कल्पना एक प्रभावकारी माध्यम के रूप में की गई, जिसके सहारे अंग्रेज़ी संस्थाओं और मूल्यों को आदर्श संस्थाओं और मूल्यों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था।'[38]

प्राच्यवादी संस्थान के लोग भी अंग्रेज़ी शिक्षा के पक्ष में थे लेकिन वे भारतीय भाषाओं (वर्नाक्यूलर लैंग्वेजेज) में भी शिक्षा जारी रखना चाहते थे। उनका ख़्याल था कि इस तरह से भारतीय समाज एवं संस्कृति पर पश्चिमी शिक्षा के ज्ञान की एक बड़ी रेखा खींच जाएगी और छोटी रेखा को मिटाने की भी जरूरत नहीं पड़ेगी एवं 'गुलामी की रगड़' का अहसास भी कम से कमतर होता जाएगा। लेकिन आंग्लवादी संस्थान के लोग इस मामले में ज़्यादा उत्साही निकले और तुरन्त ही अंग्रेज़ी शिक्षा को लागू करना चाहते थे, जो हुआ भी। पणिक्कर लिखते हैं कि, तब तक ईस्ट इंडिया कम्पनी अपनी प्रजा के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के प्राच्यवादी कार्य से हटने लगी थी और उन्हें ज्ञान प्रदान करने की आंग्लवादी कार्य में जुटने लगी थी। अब राज्य का सरोकार था आधुनिकता की तलाश में लगे भारतीयों के लिए एक सांस्कृतिक प्रतीक की रचना करना। आंग्लवादी और विशेष रूप से मैकाले तथा बैटिक द्वारा आरंभ की गई शिक्षा नीति का महत्त्व ठीक इसी सांस्कृतिक आयाम में निहित था।[39] ऐसा करके वे एक झटके में भारतीय परंपरा में प्रवाहमान हजारों साल के बौद्धिक अनुभव को जड़ बना दिया जबकि पश्चिमी टकराव से पहले भारत में अपनी शिक्षा पद्धति थी। धर्मपाल ने अपनी पुस्तक 'भारत का स्वधर्म' में एडम के सर्वेक्षण के हवाले से सविस्तार दिखाया है कि भारत में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक, भारतीय आवश्यकताओं की पूलत के लिए गतिशील शिक्षा पद्धति थी।[40] के.एन. पणिक्कर ने भी मद्रास प्रेसिडेंसी के संबंध में टामस मुनरो की 1822 की रिपोर्ट, बंबई प्रेसिडेंसी के संबंध में माउंट स्टुअर्ट एलफिस्टन की 1823 की रिपोर्ट और बंगाल प्रेसिडेंसी के बारे में विलियम एडम की 1835-38 की रिपोर्ट के आधार पर प्राक् औपनिवेशिक काल की शिक्षा व्यवस्था का चित्र दिखाया है।[41]

आंग्लवादियों द्वारा प्रस्तुत शिक्षा नीति में देशी भाषाओं को दबाकर सिर्फ़ अंग्रेज़ी माध्यम द्वारा शिक्षा देने का उद्देश्य, भारत की पराधीनता को चिरस्थायी करना था। इतिहास लेखक डॉक्टर डफ़ ने बेंण्टिक और मैकाले की नीति की सराहना करते हुए तुलना करके दिखलाया कि 'जब कभी प्राचीन रोमन के लोग किसी देश को विजय करते थे तो उस देश की भाषा और साहित्य को यथाशक्ति दबा कर वहाँ के उच्च श्रेणी के लोगों में

रोमन भाषा, रोमन साहित्य और रोमन आचार-विचार के प्रचार के प्रयत्न करते थे। यह नीति रोमन साम्राज्य के लिए कितनी हितकर साबित हुई। .... मैं यह विचार प्रकट करने का साहस करता हूँ कि भारत के अंदर अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी साहित्य के फैलाने और उसे उन्नति करने का लार्ड विलियम बेण्टिक का कानून .... भारत के अंदर अंगरेज़ी राज के अब तक के इतिहास में कुशल राजनीति की सबसे ज़बरदस्त चाल मानी जाएगी।[42] अंग्रेज़ी को लेकर इतना उतावलापन था कि बेण्टिक ने यह आज्ञा दी और नियम कर दिया कि देशी-नरेशों का साथ अंग्रेज़ों का सारा पत्र-व्यवहार फ़ारसी की जगह अंग्रेज़ी में हुआ करे।

अंग्रेज़ी शिक्षा के उद्देश्य को लेकर 1853 की पार्लियामेण्टरी कमेटी के सामने 'भारत की अलग-अलग शिक्षा प्रणालियों के अलग-अलग राजनैतिक नतीजें' शीर्षक से चार्ल्स ट्रेवेलियन ने अपना लेख प्रस्तुत किया, जिसमें वह जोर देकर कहता है कि 'हमारे पास उपाय केवल यह है कि हम भारतवासियों को यूरोपीय ढंग की उन्नति में लगा दें, ... फिर पुराने ढंग पर भारत को स्वाधीन करने की इच्छा ही उनमें से जाती रहेगी और उनका यह लक्ष्य ही यह न रह जाएगा। देश में अचानक राजक्रांति फिर असम्भव हो जाएगी और हमारे लिए भारत पर अपना साम्राज्य कायम रखना बहुत काल के लिए असन्दिग्ध हो जाएगा। .... भारतवासी फिर हमारे विरुद्ध विद्रोह न करेंगे। .... फिर उनके राष्ट्र भर के प्रयत्न यूरोपीयन शिक्षा प्राप्त करने और उसे फैलाने और अपने यहाँ यूरोपियन संस्थाएँ कायम करने में ही पूरी तरह लगे रहेंगे, जिससे हमें कोई हानि न हो पाएगी। शिक्षित भारतवासी स्वभावतः हमसे चिपटे रहेंगे।'[43] अंग्रेज़ शासकों को अब ट्रेवेलिन, मैकाले इत्यादि आंग्लवादियों की नीतिज्ञाता और दूरदर्शिता पर पूरा यकीन हो गया था कि उनके ही बताए रास्ते द्वारा भारत में अंग्रेजी शासन आसानी से चलाया जा सकता है। इसी कड़ी में 1854 में एजुकेशन डिसपैच' या वुड डिसपैच' आता है जिसमें लंदन विश्वविद्यालय के मॉडल को ध्यान में रखकर कलकत्ता, मद्रास और बम्बई (महानगरों को ही ध्यान में रखकर) विश्वविद्यालय की स्थापना की गई, जिसमें समय के साथ मात्रात्मक बढ़ोत्तरी होती गई। 'देश में 1885 तथा 1921-22 के बीच 10 विश्वविद्यालय, 18 से बढ़कर 7564 महाविद्यालाय, 281 से बढ़कर 7530 माध्यमिक विद्यालय, 2810 से बढ़कर 155017 प्राथमिक विद्यालय हो गए।'[44]

इस औपनिवेशिक शिक्षा ने भारतीय ज्ञान परंपरा और समाज की संरचना को कैसे छिन्न-भिन्न किया, उसके संबंध में तफसील से छानबीन करते हुए यूनिस रज़ा लिखते हैं कि, 'औपनिवेशिक काल में शिक्षा केवल विदेशी शासक की जरूरतों को पूरा करती थी। औपनिवेशिक प्रशासन के कार्यकलाप के परिणामस्वरूप प्रति हेक्टेअर और साथ ही प्रतिव्यक्ति कृषि उत्पादकता तथा श्रमशक्ति के द्वितीयक क्षेत्र का भाग कम होते जाने के कारण उत्पादकता के लिए निवेश के रूप में और प्रौद्योगिकी विकास के लिए वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी आधार तथा प्रशिक्षित श्रमशक्ति जुटाने की दृष्टि से शिक्षा आवश्यक नहीं रह गई थी। इसके बजाए इससे आशा की जाती थी कि यह शासन तंत्र के लिए शिक्षित पुर्जे तैयार करेगी। यह शिक्षा व्यवस्था बहुस्तरीय और पिरामिडाकार थी और इसका आधार बहुत संकीर्ण था। प्राथमिक से माध्यमिक, माध्यमिक से उच्चत्तर माध्यमिक, उच्चत्तर माध्यमिक से स्नातक (तृतीयक स्तर) और स्नातक से स्नातकोत्तर (उच्च तृतीयक) स्तर तक पहुँचने की दर बहुत कम थी। एक उदाहरण से इस बात को समझा जा सकता है। स्नातकोत्तर शिक्षा और शोध कार्य, शिक्षा में आत्मनिर्भरता के आधारभूत निवेश का काम करते हैं। उच्च शिक्षा में इनका अनुपात असाधारण रूप में कम था। स्नातकोत्तर स्तर पर यह अनुपात 11.5 प्रतिशत था और अनुसंधान में यही अनुपात सिर्फ़ 0.8 फीसदी था। उच्च शिक्षा अधिकांशतः स्नातक स्तर तक सीमित थी। एक अन्य तथ्य ने इस स्थिति को और निष्क्रिय कर दिया था। उपनिवेशों में शैक्षिक रूप से अर्ध उपजाऊ जमीन में ऐसी दुर्लभ प्रजाति

का उदय हुआ जिसके कारण स्नातक शिक्षा शेश उच्चत्तर शिक्षा से कट कर रह गई। इस दुर्लभ प्रजाति का नाम था, 'डिग्री कालेज'। इन संस्थानों के निर्दय वातावरण की कल्पना करना कठिन नहीं है जिनमें संकाय से बस इतनी उम्मीद की जाती है कि वे बाहरी अभिकरणों (एजेंसियों) द्वारा तैयार किए गए 'पाठ्यक्रम' की तैयारी कराएं और सत्र के अंत में निबंध शैली की परीक्षाओं के लिए छात्रों को तैयार करें। यह शिक्षा विशेष रूप से उच्च्य शिक्षा बंदरगाहों पर बसे नगरों में और उनके आस-पास के इलाकों तक सीमित थी। इस प्रकार शिक्षा कुछ छिटपुट जगहों में सिमटी हुई थी। कुछ स्थानों का विकास, कुछ का अल्पविकास किया गया था और कुछ विकास से स्वतः वंचित थे। यह शिक्षा उसमें महत्त्वपूर्ण तत्त्व थी। इसमें कलकत्ता, बंबई और मद्रास में महानगरों की स्थापना कर इनको शोषण का केन्द्र बनाया गया और पराधीन अर्थव्यवस्था की संपत्ति का अधिशेष इन नगरों के अंधाधुंध विस्तार में खिंचता चला जाता था। .... इस शिक्षा ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र और हृदय माने जाने वाला क्षेत्र को हाशिए पर ढकेल दिया। हड़प्पा सभ्यता के समय से ही भारत का उत्तरी क्षेत्र तथा गंगा-यमुना का मैदानी इलाका हमारी सांस्कृतिक परंपराओं का स्रोत रहा था। तक्षशिला और ननकाना, इंद्रप्रस्थ और उज्जयिनी, वाराणसी और अयोध्या, वैशाली और पाटलीपुत्र, सरहिंदी और देवबंद तथा फिरंगी महल और फुलवारी शरीफ उत्तर भारत के मैदानी इलाके में एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए थे। ये भारतीय मनीषा के केंद्र में थे, जहाँ से भारतीय समुदाय की सामासिक संस्कृति को उजागर करने वाली मेधा हमको प्राप्त होती थी। उपनिवेशवादी शासकों ने मध्यदेश कहें जाने वाले इस क्षेत्र के विकास के केन्द्र नहीं स्थापित किए। उन्होंने विकास केन्द्रों की स्थापना परिधि पर की। इन परिधीय नगरों को हम बंदरगाहों की संज्ञा देते हैं। इस तरह से भारतीय भू-भाग का परंपरागत संघटन उलट गया। .... जिस क्षेत्र ने भारतीय जनमानस को हजारों साल तक ऊर्ज्वस्वित किया था और राम, कृष्ण, निजामुद्दीन औलिया खुसरो, नानक, कबीर, सूर और तुलसी जैसी महान विभूतियों ने जिस भूमि ने जन्म दिया था, वही अब सांस्कृतिक जड़ता का क्षेत्र बन गई। राष्ट्रीय जीवन के विखंडन में इन दोनों के दर्शन हुए जिसमें एक ओर निष्प्राण, विकास चेतना से रहित परंपरा बची थी और दूसरी ओर बिना जड़मूलवाली आधुनिकता। .... औपनिवेशिक भारत में शिक्षा का सामाजिक-आर्थिक आधार निहायत संकुचित था। हजारों हजार श्रमजीवी बहुसंख्यक जनता के लिए इसके दरवाजे बंद थे। .... औपनिवेशिक भारत में शिक्षा 'अध्यापन' (शिक्षण) पर केन्द्रित थी 'अधिगम' (सीखना) पर नहीं। शिक्षक और छात्र का रिश्ता इस मान्यता पर टिका था कि गुरु से 'ज्ञान प्राप्त' किया जाता है। इसलिए सीखने की सबसे मान्य पद्धति थी बिना तर्क और बहस के अनालोचनात्मक तरीके से ईश्वरीय संदेश की तरह, गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान को स्वीकार करना। इस पद्धति से बुद्धि के बाज़ार के लिए शिक्षा की दुकानों में जो माल तैयार होता था इस पर गुणवत्ता (प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी आदि) की अलग-अलग छाप लगी होती थी तथा इसका उपयोग मूलतः तथाकथित सेवाक्षेत्र में दिया जाता था।'[45]

इस प्रकार शिक्षा औपनिवेशिक शासन का महत्त्वपूर्ण अंग थी जिसने राज्य तथा उसके जुड़ी संस्थाओं द्वारा सांस्कृतिक हस्तक्षेप के लिए बड़े-बड़े क्षेत्रों के द्वारा खोल दिए जिससे वे सत्ता का खुलकर आनंद उठा रहे थे। ऐसी शिक्षा-पद्धति को विश्वनाथन 'अधीनीकरण का मुखौटा'[46] कहती हैं तो गुणतिलके 'सांस्कृतिक आवेष्ठन'[47] का औज़ार कहते हैं।

(घ) औपनिवेशिक विज्ञान

अठारहवीं शती के अंत में स्थापित एशियाटिक सोसाइटी एवं उसके प्राच्यवादी संस्थान ने अपनी 'खोजों' का उपयोग जिस तरह प्रशासनिक प्रयोजनों को नैतिक जामा पहनाने में किया उसी तरह 19वीं शती के अंत में औपनिवेशिक शासन ने विज्ञान का उपयोग अपनी सत्ता के वैधीकरण एवं प्रभावी प्रशासन के रूप में

किया। दरअसल औपनिवेशिक विज्ञान ने उस चीज़ के विकसित होने में बहुत कुछ मदद की जिसे 'साम्राज्यवाद का केन्द्रीय संस्कृति' कहा गया। इसीलिए माइकल अदास महत्त्वपूर्ण मत देते हैं कि 'विज्ञान और प्रौद्योगिकी यूरोपीय बोध द्वारा किसी को सभ्य मानने के मूल तत्त्व थे। औज़ारों की तुलना करने और ब्रह्माण्ड की अवधारणाओं की चर्चा करने की अपेक्षा नस्ल का मामला उस साहित्य में कहीं अधिक आता।''[48] देखने वाली बात है कि पश्चिमी संस्कृति एक भिन्न दर्शन प्रणाली से परिचालित है और उस प्रणाली को व्यक्त करने वाली भाषा की बुनावट तक में नस्ली भेदभाव मौजूद हैं। 'दुनिया में जितनी भी भाषाएँ हैं उनमें संभवतः अंग्रेज़ी सबसे ज़्यादा नस्लवादी भाषा है। आपको ढेर सारे ऐसे शब्द मसलन ब्लैक मार्केट, ब्लैक मेल, ब्लैक लिस्ट आदि मिल जाएँगे जिनके मूल्य के स्तर पर कालेपन की भाषात्मक नकारात्मक परिभाषा सामने आती है। गोरे नस्लवादियों की इन चालों को धर्म ने और ख़ासतौर पर ईसाइयत ने और भी ज़्यादा मजबूती दी, जिसने ईश्वर, ईशा मसीह, देवदूतों आदि को तो सफेद रंग का बताया जबकि पाप, शैतान आदि को काले रंग का चित्रित किया। इसी के साथ यह भी बताया गया कि स्वर्ग एक ऐसा स्थान है, जहाँ ईश्वर द्वारा चुने गए बंदों को एकदम श्वेत परिधान से सुशोभित किया जाता है, जबकि नरक में जाने वाले लोगों के शरीर पर जले कोयले की काली राख मली जाती है।'[49]

जिसे हम औपनिवेशिक विज्ञान कहते हैं उसके अध्ययन की मुकम्मल तस्वीर तब तक सामने नहीं आती है जब तक पूर्व औपनिवेशिक विज्ञान का आइना सामने नहीं रखा जाए। डेविड आर्नोल्ड लिखते हैं कि 'भारत में दीर्घकालीन औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बहुत पहले से ही एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक परंपरा रही है। यहाँ विज्ञान, प्रौद्यागिकी और आयुर्विज्ञान पर लंबे इतिहास पर विज्ञान पर सामाजिक चरित्र एवं सांस्कृतिक विविधता की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है यद्यपि विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुर्विज्ञान को सामान्य इतिहास-पुस्तकों में अब भी पश्चिमी जगत की देन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु पूर्वापेक्षा अब इस मान्यता को कहीं अधिक स्वीकृति मिल रही है कि ऐसे ऐतिहासिक विवरणों को मात्र यूरोपीय उपलब्धियों का वृत्तांत अथवा विदेशों में यूरोपीय उद्यम का आख्यान नहीं माना जा सकता।''[50] लेकिन जैसा कि दूसरे क्षेत्रें में हुआ, नए शासकों ने इसे 'अवैज्ञानिक' और 'अंधविश्वासी' करार दिया। धर्मपाल, अंसारी, के.एन. पणिक्कर, दीपक कुमार जैसे विद्वानों ने दर्शाया है कि 18वीं शती में भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की अपनी प्रणाली थी जिससे स्थानीय जरूरतों की पूर्ति होती थी जिसमें विविध प्रकार की देशी पद्धतियाँ थी - आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध और लोक चिकित्सा।

आयुर्वेद के ग्रंथों में रेनोप्लास्टी, चर्मारोपण, नेत्र-शल्य-क्रिया, कपाल-छेदन, हड्डी जोड़ना और अंगच्छेदन शल्य-क्रिया के कुछ खास-खास क्षेत्र थे। इसके अतिरिक्त, भारतीयों में न तो शरीर-रचना- विज्ञान के ज्ञान का अभाव था और न वे शवच्छेदन से परहेज करते थे।[51] लेकिन इस देशी पद्धति को भी अवैज्ञानिक, युग-जर्जर और अपर्याप्त घोषित किया गया जिसमें सरकारी तंत्र का बहुत हाथ था। मद्रास के गवर्नर लार्ड पेंटलैड ने केरल में चेरुतुरुती में एक आयुर्वेदिक औषधालय का उद्‌घाटन करते समय जोर देकर कहा कि, देशी-पद्धति को शरीर-रचना विज्ञान की कोई जानकारी नहीं है, उसकी औषधियों की गुणवत्ता निष्कृत है और उसमें कारण-परिणाम संबंध स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं। गवर्नर का यह भी कहना था कि ऐसी पद्धति सरकारी धन पाने की हकदार नहीं है।'[52] इसी को तर्क बनाकर पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को भारत में प्रवेश करवाने की कोशिश की गई। देशी चिकित्सा पद्धति को चलन से बाहर करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप को बढ़ावा दिया गया जिससे 'सरकारी वैज्ञानिक'[53] की अवधारणा का जन्म हुआ। जबकि ब्रिटिश पूर्व भारत में इस तरह की

कोई अवधारण नहीं थी क्योंकि यहाँ चिकित्सकीय पेशा एवं सामाजिक उत्तरदायित्व के बीच कोई अलगाव नहीं था। राजनीतिक संरक्षण फिर बाद में धीरे-धीरे शिक्षित वर्गों द्वारा सामाजिक समर्थन के फलस्वरूप देशी-चिकित्सा पद्धति हाशिए पर चली गई।

ध्यान देने वाली बात है कि अपने विज्ञान को वैध ठहराने के लिए भारतीयों को अवैज्ञानिक, अंधविश्वासी और परिवर्तन विरोधी घोषित किया गया जिसमें प्राच्यवादी एवं आंग्लवादी दोनों एकमत थे। विलियम जोंस ने यह घोषित किया कि 'एशियाटिकों की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ यूरोपीयों की तुलना में बच्चों जैसी थी।'[54] राममोहन रॉय भी जोरदार तरीके से जोंस की श्रेणी में खड़े थे; 'हमने ज्ञान के उदय को सुखद आशा की दृष्टि से देखा, जो उदीयमान पीढ़ी के लिए वरदान रूप था। हमारे हृदय प्रसन्नता और कृतज्ञता की मिश्रित भावना से भर गए। हमने ईश्वर को इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि उसने पश्चिम के परम उदार और प्रबुद्ध राष्ट्रों को आधुनिक यूरोप की कलाओं तथा विज्ञानों की एशिया में आरोपित कर देने की प्रेरणा दी।''[55]

राज्य द्वारा समर्थित चिकित्सा का पहला स्पष्ट प्रयास 1912 में बंबई चिकित्सक पंजीकरण अधिनियम (मेडिकल रजिस्ट्रेशन एक्ट)[56] के रूप में मिलता है, जिसके तहत चिकित्सों के पंजीकरण की व्यवस्था की गई और यह नियम निकाला गया जो लोग इस अधिनियम के अनुसार पंजीकृत हैं वहीं चिकित्सीय प्रमाण पत्र जारी कर सकते हैं या फिर सरकारी पदों पर नियुक्त हो सकते हैं।[57] अन्य प्रान्तों ने भी इसका अनुसरण किया। ऐसा हो जाने से देशी चिकित्सा पद्धति और उसे जुड़े लोग को राज्य द्वारा तिरस्कृत किया गया और उसके निर्बाध फलने-फूलने की संभावना को रोक देने की कोशिश की गई। इसके बरक्स पाश्चात्य चिकित्सा को दिल खोलकर अनुदान दिया गया ताकि उचित समय आने पर देशी पद्धति के स्थान पर पाश्चात्य पद्धति को पूर्णतया स्थापित किया जा सके।

इस तथ्य की तरफ भी ध्यान देना जरूरी है कि पाश्चात्य आयुर्विज्ञान ने ईसाई मिशनरियों के काम को और आसान बनाया। चिकित्सकीय सेवा के साथ-साथ धर्म-प्रचार संबंधी गतिविधियाँ भी 1930 के बाद से तेजी से जुड़नी लगीं, जिसमें महिलाएं सबसे आसान जरिया बनीं। उन्नीसवीं सदी में पश्चिम की भाँति भारत में जिन कुछेक वैज्ञानिक और प्राविधिक क्षेत्रों में महिलाओं के लिए द्वारा खुले थे उनमें आयुर्विज्ञान भी था। उसके दो कारण थे; एक तो यह मान्यता थी कि महिलाओं में रोगियां की देख-भाल और सेवा-शुश्रुषा की सहज प्रवृत्ति होती है और दूसरा यह था कि भारत में औपनिवेशिक सत्ता की पहुँच जनानाखानों के 'अँधेरे' कोटरों तक नहीं हो पाई थी और महिला चिकित्सकों और उपचारिकाओं को आसानी से वहाँ प्रवेश हो सकता था और वे परिवार की महिलाओं और उनके माध्यम से उनके पतियों और बच्चों को प्रभावित कर सकती थीं।[58] स्पष्ट है कि चिकित्सकीय सेवा के रूप में महिलाओं की तरफ ज़्यादा ध्यान देने के पीछे का एक कारण महिलाओं का 'औपनिवेशिकरण' करके ईसाईयत को अपने अंजाम तक पहुँचाने का भी था।

औपनिवेशिक शासन ने देशी ज्ञान पद्धति पर पश्चिमी आधुनिक विज्ञान द्वारा विश्व में कैसे अपना स्थान पक्का किया, उस पर जार्ज नासल्ला[59] लिखते हैं यह प्रक्रिया तीन चरणों में पूर्ण हुई। प्रथम यूरोपवासियों ने पाश्चात्य सर्वेक्षण, व्यापार, विजय-अभियान और उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के एक अंग के रूप में नए देशों से संबंध स्थापित किए। उन्होंने 'वैज्ञानिकेतर' समाज से मानचित्रों और सर्वेक्षणों के द्वारा आँकड़े, खनिज द्रव्य, पौधों और जन्तुओं के नमूने प्राप्त किए। इस चरण में प्रकृति के क्रमबद्ध दोहन' में यूरोप की अभिरूचि मुख्य रूप से जिन विज्ञानों में थी वे थे वनस्पति विज्ञान और जन्तु विज्ञान। इसके बाद खगोल विज्ञान, भूगर्भ-विज्ञान

और भूगोल का स्थान रहा। यद्यपि व्यापारिक प्रयोजनों के कारण भी इस वैज्ञानिक सर्वेक्षणों को प्रोत्साहन मिला। दूसरा चरण स्थानीय स्तर पर पनपने वाले 'औपनिवेशिक विज्ञान' का था जिसमें वैज्ञानिक स्थानीय स्तर के क्रियाकलापों में भाग लेना शुरू किया जिसके फलस्वरूप स्थानीय स्तर पर वैज्ञानिक संस्थाओं की स्थापना होने लगी। तीसरा चरण में प्रशिक्षण प्राप्त वैज्ञानिकों द्वारा स्थानीय स्तर पर ही 'स्वतंत्र वैज्ञानिक परंपरा' तथा 'राष्ट्रीय विज्ञान' की स्थापना होने लगी। वासल्ला की अवधारणा से स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक विज्ञान, विज्ञान की उपयोगिता के रूप में ही सार्वभौमिकता के दावे के साथ अपने को प्रस्तुत किया। हाल के शोध कार्य से अब ये साबित हो गया है कि 'पर्यावरण संरक्षण'[60] का विचार भी उपनिवेशों से ही आया है।

कुछ लोगों का मानना है कि भारत के विज्ञान एवं प्रौद्यागिकी के विकास में अंग्रेजी शिक्षा का महत्त्व है। ऐसे लोगों के लिये ये आँकड़े आँख खोलने वाले हैं जिससे पता चलता है कि, ''टोक्यो इंजीनियरिंग कालेज 1873 में, रूड़की इंजीनियरिंग कालेज के बहुत बाद स्थापित हुआ था और 1903 आते-आते इसके स्टाफ में 24 प्रोफेसर, 24 सहायक प्रोफेसर और 22 लेक्चरर थे। दूसरी तरफ सौ वर्षो के अस्तित्व के बावजूद (यानी 1947 में) रूड़की के पास सिर्फ तीन प्रोफेसर, छह सहायक प्रोफेसर और बारह लेक्चरर थे।''[61] ग़ौरतलब है कि जापानियों ने अपनी भाषा को महत्त्व दिया था जिसके कारण वे आज भी प्रौद्योगिकी में शिखर पर है - आंकड़े से स्पष्ट है कि ''औपनिवेशिक शासक अपनी प्रजा को एक सीमा तक ही शिक्षित करते थे। उस सीमा के बाद प्रौद्योगिकी की संस्कृति का विकसित होना वे रोक देते थे।''[62] इस प्रकार औपनिवेशिक शिक्षा एवं विज्ञान के गति-क्रम को देखते हुए यह कहना उचित जान पड़ता है कि, ''इस नयी शिक्षा का दूसरा पहलू था- शिक्षा का राजनीतिक सत्ता के अधीनस्थ बन जाना। ओरियंटलिस्ट हो या आंग्लिसिस्ट, उनके द्वारा प्रस्तावित शिक्षा नीति का बुनयादी उद्देश्य था- औपनिवेशिक शासन सुदृढ़ बनाना। ओरियंटलिस्ट यह काम स्वदेशीकरण के माध्यम से और आंग्लिस्टिक पश्चिमीकरण के माध्यम से करना चाहते थे।''[63]

(ङ) औपनिवेशिक अर्थतंत्र

भारत में अंग्रेज़ी राज के पक्षधर हों या फिर उसके विरोधी दोनों इस पर एकमत हैं कि अंग्रेज़ों ने भारत को लूटने की हद तक लूटा। डी.आर. हीड्रिक लिखते हैं- ''साम्राज्यवाद महज पश्चिमी श्रेष्ठता का परिणाम नहीं था, बल्कि न्यूनतम लागत पर बहुत सारी ताकत खड़ी कर लेना इसके मूल में था।''[64] यह सारी ताकत लूट के ही बल पर खड़ी हुई। अंग्रेज़ों ने भारत में शिल्प उद्योग एवं कृषि व्यवस्था, को तहस-नहस कर दिया और भारत को दरिद्र बना दिया।

ये तथ्य तो प्रसिद्ध हैं कि भारत के बने हुए कपड़े एवं अन्य माल चीन, जापान, लंका, ईरान, अरब, कम्बोडिया, मिस्र, अफ्रीका, इटली, मैक्सिको इत्यादि देशों में जाते थे लेकिन प्लासी के युद्ध के बाद से लूट का क्रमिक और योजनाबद्ध सिलसिला चला। ''अन्दाजा लगाया गया है कि प्लासी से, वाटर लू तक यानी 1757 से 1815 तक क़रीब एक हजार मिलियन पाउण्ड यानी 15 अरब रूपया शुद्ध लूट का भारत से इंग्लिस्तान पहुँचा। यानी, 58 वर्ष तक 25 करोड़ रूपया सालाना कम्पनी के मुलाजिम भारतवासियों से लूट कर अपने देश ले जाते रहे।''[65] दादाभाई नौरोजी ने पहली बार सांख्यिकी गणना के आधार पर आनुपातिक प्रति व्यक्ति आय का विवरण प्रस्तुत किया। उन्होंने गणना करके बताया कि ''1867-68 में ब्रिटिश भारत की सत्रह करोड़ जनसंख्या की कुल राष्ट्रीय आय 3.4 अरब रुपये हैं, अथवा दूसरे शब्दों में, इस देश की आय बीस रुपये प्रति व्यक्ति है।''66 उनके द्वारा प्रस्तुत आंकड़ा इतना चलचत एवं प्रभावशाली साबित हुआ कि जहाँ एक तरफ ब्रिटिश अधिकारियों को उसका उत्तर ढूँढना आवश्यक हो गया वहीं दूसरी तरफ राष्ट्रीय आन्दोलन के संगठन का मंत्र

भी बन गया। 1901 में इग्लैण्ड की एक सभा में उन्होंने इस बात की तरफ भी संकेत किया कि, ''महमूद गज़नी ने भारत पर अठारह बार हमला किया और उसे लूटा लेकिन जितना तुम एक साल में लूटकर ले जाते हो, उतना वह अठ्ठारह बार में न ले जा सका था। उसने जो घाव किये, उनका सिलसिला अठ्ठारहवें आघात के बाद खत्म हो गया पर तुम्हारा घाव करने का सिलसिला जारी है। इस शताब्दी के आरम्भ में तुम तीस लाख ले जाते थे, अब सालाना तीन करोड़ ले जाते हो। हम मरें चाहें जियें, तीन करोड़ रुपये कीमत का सामान तुम्हारे यहाँ पहुँचना ही चाहिए।''[67]

भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट करने के लिए अंग्रेज़ों ने जरूरत से ज़्यादा कर भारतीय मालों पर लगाया ताकि भारत में बने माल ब्रिटेन में उनके बने मालों से सस्ता न बिक सके। सुन्दरलाल लिखते हैं कि ''सन् 1813 से 1832 तक इंगलिस्तान की आवश्यकतानुसार बराबर इंगलिस्तान के अंदर इन चीज़ें (सूती, ऊनी, रेशमी कपड़ों के अलावा हाथ की घड़िया जिन पर सोने-चाँदी की मूठें और तरह-तरह का काम होता था, चीनी मिट्टी के बरतन, चमड़े और लकड़ी की चीजें, शराब, अरक़्, वारनिश का काम, नारियल का तेल, सल्ग, रस्सियाँ, चाय, अराहट, चटाइयाँ, चीनी, साबुन, कागज इत्यादि) पर महसूल घटता-बढ़ता रहा। कई तरह के भारतीय कपड़ों, ख़ासकर रेशमी रूमालों और रेशम की बनी हुई चीज़ों का बिकना इंगलिस्तान में सन् 1826 तक कानूनन बंद रहा। बहुत सी चीज़ों पर 100 फ़ीसदी से भी ज़ियादा महसूल लिया जाता था। कई पर 600 फ़ीसदी तक और रिचर्ड नाम के एक अंगरेज़ ने सन् 1832 की पार्लियामेण्ट की कमेटी के सामने बयान किया कि किसी चीज़ पर 3,000 फ्री सैकड़ा तक महसूल लिया जाता था, अर्थात् एक रुपये की चीज़ पर तीन रुपये महसूल।''[68]

भारतीय कृषि व्यवस्था का भी सर्वनाश कुछ इसी तरह किया गया। अंग्रेज़ों ने भूमि के संबंध में राजस्व प्राप्ति के लिए जिस जमीदारी व्यवस्था को इजाद किया उसने भारत में प्रचलित भूमि पर सामुदायिक हक को व्यक्तिगत हक में रूपांतरित कर दिया। इस व्यवस्था ने यह भी आरोपित किया कि चाहे फसल वर्ष में हो या न हो, किसानों को राजस्व अदा करना ही पड़ेगा वरना उसे जमीन से बेदखल कर दिया जाएगा। साथ ही इस व्यवस्था ने ऐसे वर्ग को भूमि में निवेश करने को प्रोत्साहित किया जिनकी स्थिति थोड़ी अच्छी थी-यही वर्ग जमिंदार वर्ग बना जो ब्रिटिश साम्राज्य के लिए बहुत उपयोगी साबित हुआ। ध्यान देने वाली बात है कि अंग्रेज़ी राज के लिए जमीन सबसे क़ीमती वस्तु थी। फ्रेन्ज़ फ़ेनन ने लिखा है कि, 'उपनिवेशित लोगों के लिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी और मूल्यवान चीज़ जमीन है। जमीन सर्वाधिक ठोस और बुनियादी चीज़ है क्योंकि इसी से उनकी रोजी-रोटी चलती है और ख़ास बात है कि इस से उनकी इज्जत मरजात बनती है।'[69] जमीन को लेकर आज के दौर में भी ख़ास बदलाव नहीं आया है। 1996 में विश्व बैंक ने भारत को निर्देश दिया कि वह अगले 20 वर्षों में 40 करोड़ लोगों को ग्रामीण से शहरी क्षेत्रें में स्थानांतरित करें। तर्क था कि भूमि बेशक़ीमती सम्पत्ति है और उसे अक्षम उत्पाद को यानी किसानों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। चूँकि किसानों की युवा पीढ़ी को खेती के अलावा कुछ आता नहीं, विश्व बैंक ने सुझाव दिया कि भारत में प्रशिक्षण संस्थानों के जाल बिछया जाए ताकि वे युवा औद्योगिक श्रमिक बन सकें। यह एक नवउपनिवेशवादी परियोजना है, जिसमें भूमि को किराए पर देने के साथ उसके अधिग्रहण की भी शुरुआत होती है।

जमीन और राजस्व को लेकर धर्मपाल द्वारा प्रस्तुत तथ्य का जिक्र करना जरूरी है। वे बताते हैं कि ''सन् 1800 ई. के आसपास भारतीय खेती की उपज-दर इंग्लैण्ड की कृषि-उपज-दर से दुगुनी व तिगुनी तक थी। भारत में कृषि का अधिकांश काम किसान स्वयं करते थे, जबकि इंग्लैण्ड में अधिकतर खेती का काम

कृषि-दासों और मजदूरों से ही लिया जाता था।.... पश्चिमी यूरोप में 18वीं शताब्दी में वहाँ के 'लैंड लार्ड' भूमि से जो कर लगान वसूलते थे, वह कुल कृषि उपज का 50 से 80 प्रतिशत था।.... प्रारम्भिक ब्रिटिश अधिकारियों के अनुसार मालाबार में 1740 ई. तक भूमि पर बिल्कुल कर नहीं था। 15वीं शती तक कली प्रान्त में ऐसा कोई कर नहीं था। रामनाद (जिसमें रामेश्वश्वरम् है) जैसे क्षेत्रों में 1790 के दशक में भी नाममात्र का भूमिकर था। लावणकोर में 19वीं शती के आरम्भ में भी भूमिकर कुल उत्पादन का 5 से 10 प्रतिशत से अधिक नहीं था। मुसलमानों के समय जहाँ-तहाँ कर शायद बढ़ा, लेकिन इतना नहीं जितना अंग्रेज़ों के आने के बाद।.... मुगल शासकों (1556-1707 ई.) के खजाने में धन की आमद उनके राज्य के माने जाने वाले कुल राजस्व के 20 प्रतिशत से अधिक कभी नहीं हुई। जहांगीर के शासन में तो यह आमद कुल राजस्व का 5 प्रतिशत से भी अधिक नहीं होती थी।.... बंगाल के कलेक्टरों ने 1770 के दशक में ऐसी स्थिति होने की सूचना ही है और कहा कि ब्रिटिश भू-राजस्व बहुत भारी पड़ता है। परम्परागत दर से लगभग चार गुना।''[70] धर्मपाल जिस तरफ ध्यान दिलाते हैं वो हैं कि भारत में कभी भी लगान 5-6 फीसदी से ज्यादा नहीं थी। फिर भी लोग खुशहाल जीवन बिताते थे। अंग्रेज़ों ने अपने यहाँ के मॉडल के अनुसार यहाँ एक जमीदार वर्ग पैदा किया (कहा जाता है कि उच्चवर्गीय दास थे अंग्रेज़ों के) ताकि वे ज़्यादा से ज़्यादा राजस्व वसूल करें, इसके लिए वे स्रोत के रूप में 'मनुस्मृति' को खोज निकाला। यही कारण है कि मनुस्मृति का अनुवाद करके ज़्यादा से ज़्यादा प्रकाशित कराया गया, जिसका ज़िक्र पीछे किया जा चुका है। इसके अलावा वे खाद्य फसलों की जगह नगदी फसलों के पैदावार को बढ़ावा देकर 'बाजारोन्मुख कृषि अर्थव्यवस्था' की नींव डाली जिससे भारतीय परम्परागत फसल-चक्र की अटूट शृंखला भी छिन्न-भिन्न हो गई।

अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय उद्योग धन्धों का विनाश और परम्परागत कृषि व्यवस्था को तोड़ना, भुखमरी, दरिद्रता और अकाल पड़ने का प्रमुख कारण बना। भारत में अकाल पहले भी पड़ते थे लेकिन वे स्थानीय होते थे जिसके पीछे मुख्य कारण प्राकृतिक आपदाएँ होती थी। लेकिन 1860 के बाद अकाल का स्वरूप बदल गया, अब कारण आर्थिक-सामाजिक एवं राजनीतिक हो गया। भारत में पड़ने वाले अकाल के संबंध में ए. लवडे लिखते हैं, ''प्रामाणिक अभिलेख बताते हैं कि 400 वर्षों का कलावधि (ग्यारहवीं से चौदहवी सदी) में केवल 14 भयंकर अकाल पड़े।.... ब्रिटिश शासन के पहले मोटे तौर पर 50 वर्षों में एक बार अकाल पड़ा, मगर 1860 और 1908 के बीच के बीच 49 वर्षों में से 20 वर्षों के दौरान देश का कोई न कोई भाग अकाल अथवा सूखे से पीड़ित रहा।''[71] वे इस बात को भी रेखांकित करते हैं कि ''इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि सारे भारत में एक साथ सूखा पड़ा हो। मौसम वैज्ञानिक इस घटना का असंभव बतलाते हैं।''[72]

अंग्रेज़ों के इस 'लूट' की पूरी परियोजना को खुद ही एक अंग्रेज़ मेयर आर.डब्ल्यू. बर्ड ने अपनी पुस्तक 'अवध की लूट' (अपनी उर्वर भूमि के कारण अवध को 'भारत का उद्यान' कहा जाता था) में प्रस्तुत किया है, 'जिस पाप को ब्रिटिश जनता से बड़ी चालाकी से अभी तक छिपाया गया है, वह सामने आकर ही रहेगा। जब उन लोगों को ज्ञात होगा कि उनकी सरकार की काली करतूतों के विषय में अब तक वे निरन्तर अंधकार में रखे गए तो वे आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहेंगे। उनको यह भी विदित होगा कि उनकी सरकार ने लूट मचाने के लिए करों के बीच से लोगों को अपंगु करके उनकी सम्पत्ति का अपहरण करने की नीति अपनायी है। .... कोई सरकार अपने इरादों को पूरा करने के लिए कितना गिर सकती है? अपनी धन की भूख मिटाने के लिए अवध के लोगों को बुरा बताते हुए हम उन पर बलपूर्वक अपना शासन लाद देने में जरा भी नहीं हिचके।

यह हमारे लालच की चरम सीमा नहीं तो और क्या है? वर्क और थेरिडन द्वारा क्रोध के आवेश में आकर किये गये दोषारोपण की बातें अब परम्परा की कड़ी बन गई हैं। हमारे अत्याचार अब भी हैस्टिंग्ज़ के अमानुषिक कृत्यों के समकक्ष रखे जा सकते हैं।''[73] सिविलियन मि. डोनल्ड स्मीटन ने 1904 में एक भाषण दिया था उसमें उन्होंने अंग्रेज़ों की शासन-प्रणाली को सारा दोष दिया कि वे भारत को दरिद्र बना रहे हैं एवं उन्हीं के 'धन' पर ब्रितानी अफसर ऐशोआराम करते हैं, ''वर्तमान शासन-प्रणाली के दोष से सब भारतवासी दरिद्र हो गए हैं। प्रायः चार करोड़ परिवारों को नित्य केवल तीन आने पर जीविका चलानी पड़ती है। किंतु उन्हीं से हर साल फी आदमी तीन रुपये कर वसूल किया जाता है! पांच आदमियों के परिवार को वार्षिक पंद्रह रुपये केवल राजकर देना पड़ता है। इस प्रकार भारतवासियों से सरकार हर साल 110 करोड़ रुपये राजस्व वसूल करती है। प्रजा का यह धन गोरे सिविलियनों के ऐश-आराम में और सैनिक कर्मचारियों की समर-कण्डू दूर करने में मनमाना खर्च किया जाता है। इन्हीं अपव्ययों का बोझ भारतवासियों के लिए असह्य हो रहा है।''[74]

अंग्रेज़ों की यह लूट सिर्फ आर्थिक रूप से घातक नहीं था अपितु नैतिक दृष्टि से भी घातक साबित हुआ। वे भारतीय जीवन की सरलता व शुद्धता भंग करने के लिए बड़ी मात्रा में शराब के व्यापार को पनपाया और उसमें निवेश किया एवं अपने संसर्ग में भारतीयों में शराब पीने की आदत को बढ़ाया। भारतीयों का चरित्र भ्रष्ट करके उन्हें स्पष्ट लाभ मिलता। सुन्दरलाल ने 1832 ई. की पार्लियामेण्टरी कमेटी में हुए जिरह का हवाला देकर इसको स्पष्ट किया है। उन्हीं की शब्दों में ''1832 की पार्लियामेण्टरी कमेटी के सामने जो गवाह पेश हुए उनमें से एक, मिस्टर ब्रेकन, ने अपने बयान में खुश होकर कहा - अब कलकत्ते में, उन हिन्दोस्तानियों के अन्दर, जो शराब पर खर्च कर सकते हैं, तरह तरह की शराबें बहुत बड़ी मिक़दार में खपती है। इसी गवाह ने एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहा - 'मैंने कलकत्ते के एक देशी दूकानदार से, जो वहाँ के बड़े से बड़े खुर्दाफ़रोशों में से है, सुना है कि उसकी शराब, ब्राण्डी और बियर के ग्राहकों में से अधिकांश ग्राहक हिन्दोस्तानी हैं।' इस गवाह से पूछा गया कि - हिन्दोस्तानीयों को कौन सी शराब सबसे ज़ियादा पसन्द है? उसने उत्तर दिया - 'शैम्पेन'। फिर पूछा गया कि - 'क्या हिन्दोस्तानी पहले बिल्कुल शराब नहीं पीते थे?' उसने जवाब दिया - 'मैं समझता हूँ, कि बहुत ही कम।' पूछा गया - 'क्या शराब पीना उनके धर्म के विरूद्ध नहीं है?' जवाब मिला - 'मुझे नहीं मालूम कि उनके धर्म के विरूद्ध है या नहीं, किन्तु उनकी आदतों के विरूद्ध अवश्य है, वे खुले तौर शराब नहीं पीते। किन्तु जब कभी पीते हैं तो उनका पीना धर्म के विरूद्ध हो या न हो, उनके यहाँ के सामाजिक रिवाज के विरूद्ध अवश्य होता है।[75] मुंशी प्रेमचंद भी इस बात की पहचान करते हुए अपनी कहानी 'शराब की दूकान' में लिखते हैं कि, अंग्रेज़ों के बाप-दादा अभी डेढ़-दो सौ साल पहले लुटेरे थे। हमारे-तुम्हारे बाप-दादा ऋषि-मुनि थे। लुटेरों की संतान पिएँ, तो पीने दो। उनके पास न कोई धर्म है, न नीति, लेकिन ऋषियों की सन्तान उनकी नकल क्यों करें। हम और तुम उन महात्माओं की संतान हैं जिन्होंने दुनिया को सिखाया जिन्होंने दुनिया को आदमी बनाया। हम अपना धर्म छोड़ बैठे, उसी का फल है कि आज हम गुलाम हैं।'[76]

इस प्रकार देखते हैं कि औपनिवेशिक भारत में जो बौद्धिक परियोजनाएं चलाई गई वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति को आत्यांतिक रूप से बदल कर एक नया आख्यान रचने के 'महान' इरादों के साथ लगी थीं क्योंकि भारत में अंग्रेज़ों का सामना एक महान और प्राचीन संस्कृति के साथ-साथ एक प्रतिभाशाली और गौरवपूर्ण विद्वता की परंपरा से भी हुआ। इस सबल परंपरा से औपनिवेशिक शासकों को मुक्ति दिलाने के लिए श्रेष्ठ ज्ञान एवं श्रेष्ठ श्रम को लगाया गया ताकि इसे 'साभ्यतिक मिशन' के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इस

मिशन की जो भी व्याख्या होती वो प्रायः उपनिवेशी रंग में रंगी होती। 'पश्चिम ने न केवल आधुनिक उपनिवेशवाद को जन्म दिया बल्कि इसने उपनिवेशवाद की अनेक व्याख्याओं को जन्म दिया। यहाँ तक कि यह व्याख्या की व्याख्या को भी अपना रंग देता है।'[77] यह रंग इतना गाढ़ा है, व्याख्या का वर्चस्व इतना स्पष्ट और प्रभावी है कि ज्ञान के लगभग सभी अनुशासनों के अवधारणाओं के निर्माण में सफल है। 'यह प्रभुत्ववादी प्रणाली का अंतिम विजय है जिसमें लोग खुद ही विजेताओं का गुणगान करने लगते हैं।'[78]

हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

सन्दर्भ -

1. *Jawaharlal Nehru, An Autobiography, Oxford University Press, Delhi,1982, p-596.*
2. *ढलान से उतरते हुए, पृ. 112*
3. *रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ. 353*
4. *उद्धृत, शिवनी किंकर चौबे, भारत में उपनिवेशवाद स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रवाद, अनुवादक-मिलिंद भारद्वाज, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 1996, पृ. 14। भारत में अंग्रेजी राज के प्रसार को लेकर इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री लॉर्ड पामर्स्टन ने कहा था, आरम्भ में यूरोपीय जाति ने व्यापार के अड्डे बनाए, अड्डे बनते-बनते किले हो गए, किले बढ़कर जिलों में परिवलतत हुए और जिलों से फिर प्रान्तों का विकास हुआ। उद्धृत, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 354*
5. *के.एन. पाणिक्कर, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक एवं विचारधारात्मक संघर्ष, अनुवादक-आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी, 2003, पृ. 11*
6. *P-J- Marshall, British Discovery of Hinduism in the Ninteenth Century, Combridge University Press, 1964, p-189.*
7. *भारत का स्वधर्म, पृ. 33-34*
8. *के.एन. पणिक्कर, पृ. 132*
9. *भारत में औपनिवेशिक शिक्षा। http%//vle-du-ac-in/mob/book-/print--php-\id=1094&chapterid=19738.*
10. *रामशरण शर्मा, प्रारंभिक भारत का आलथक एवं सामाजिक इतिहास, हिन्दी माध्यम क्रियान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1992, पृ. 2*
11. *भारत का स्वधर्म, पृ. 63*
12. *O.P. Kejariwal, The Asiatic Society of Bengal and The Discovery of Indian's Past, Oxford University Press, Delhi, 1988, p-54.*
13. *P.J. Marshall, p-189.*
14. *O.P. Kejariwal, p-233.*
15. *Ibid, p-216.*
16. *जहाँ विलियम जोन्स भारतीय अतीत के प्रशंसक थे वहीं चार्ल्स ग्रांट भारतीय अतीत की घोर निंदा करते थे। अपनी पुस्तक 'आब्जर्वेशन ऑफ द स्टेट ऑफ सोसाइटी एमंग एशियाटिक सब्जेक्ट्स ऑफ ग्रेट ब्रिटेन (1792) में चार्ल्स ग्रांट भारतीय समाज-संस्कृति को आलोचना करते हुए लिखता है, 'अत्यंत प्राचीन काल से उनका समाज पूरी तरह निरंकुश था। यह इतिहास में शक्ति और समय विस्तार की दृष्टि से ऐसी निरंकुशता थी जिसे दुनिया ने पहले कभी नहीं देखा था। यह उनकी सरकार, धर्म और कानून हर क्षेत्र में उपस्थित थी। इतिहास की रोशनी में देखा जाए तो इसने उन्हें एक निश्चित चरित्र प्रदान किया। यह चरित्र उनका अब भी बना हुआ है और इसी चरित्र ने उन्हें हर आक्रमणकारी के आगे घुटने टेकने के लिए मजबूर किया और अपने ही शासकों के प्रति उदासीन बनाया। ऐसे लोग हर प्रकार के आत्म सम्मान, लगाव से रहित और पतित, बेईमान तथा आस्थाहीन लोग हैं।' A.L. Basham, S.N. Mukherjee, Subarnarekha, India : History and thought, essay in honor of A.L. basham, Calcutta, 1982, p. 95.*

17. *Javed Majeed, Ungoverment Imagining : James Mill's The History of British India and Orintalism, Clarendon Press, Oxford, 1992, p. 23.*
18. *औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, पृ. 132*
19. *Gyanendra Pandey, Construction of Communalism in colonial North India, Oxford University Press, New Delhi, 1992, p. 67*
20. *उद्धृत, उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2008, पृ. 103, 104*
21. *Ashis Nanay, The Intimate Enemy : Loss and Recovery of Self Under Colonialism, Oxford University Press, 1983. p.112.*
22. *सुषोभन सरकार, बंगला नवजागरण, अनुवादक-एस.एन. कानूनगो, गंथ शिल्पी, 1997, पृ. 123*
23. *वही*
24. *उद्धृत, पवन कुमार वर्मा, भारतीयता की ओर, अनुवादक-वैभव सिंह, प्रभात प्रकाशन, 2014, पृ. 48*
25. *वही, पृ. 50*
26. *वही*
27. *उद्धृत, वही*
28. *उद्धृत, वही*
29. *उद्धृत, पृ. 51*
30. *उद्धृत, वही, पृ. 53*
31. *बंगाल नवजागरण, पृ. 127*
32. *भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति का क्षेत्र, पृ. 9*
33. *भारतीयता की ओर, पृ. 51*
34. *रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग-1, अनुवादक-विश्वनाथ नरवणे, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृ. 9*
35. *भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ. 59*
36. *वही, पृ. 70*
37. *उद्धृत, पृ. 134*
38. *वही, पृ. 16*
39. *वही, पृ. 134*
40. *भारत का स्वधर्म में 'यूरोप के टकराव से पूर्व' का लेख, पृ. 39*
41. *उद्धृत, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, पृ. 54*
42. *सुन्दर लाल, भारत में अंगरेज़ी राज, द्वितीय खंड, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1961, पृ. 694*
43. *वही, पृ. 696*
44. *आर.एल. शुक्ल (संपा.), आधुनिक भारत का इतिहास, ऋहदी माध्यम कार्यान्वयन निदेषालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998, पृ. 179*
45. *मूनिस रज़ा, शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम, अनुवादक-सुजाता राय, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 1997, पृ. 2-4*
46. *उद्धृत, दीपक कुमार, विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज, अनुवादक- चन्द्रभूषण, ग्रंथ शिल्पी, 2014, पृ. 299*
47. *वही*
48. *उद्धृत, वही, पृ. 23*
49. *न्गुगी वा थ्योंगो, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, संपादन-अनुवादक-आनंद स्वरूप वर्मा, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृ. 56*
50. *डैविड आर्नोल्ड, औपनिवेशिक भारत में विज्ञान, प्रौद्योगिकी और आयुलवज्ञान, अनुवादक-शैलेन्द्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 17*
51. *विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज, पृ. 160*
52. *वही, पृ. 156*

53. वही, पृ. 26
54. वही, पृ. 297
55. उद्धृत, के.एन. पणिक्कर, पृ. 175। राममोहन राय का यह भी कहना था कि यदि भारतीय मानस देशी ज्ञान पद्धति की चारदीवारी में घिरा रहा तो देश अंधकार में ही पड़ा रहेगा। उनके अनुसार एकमात्र उपाय पश्चिमी ज्ञान को आत्मसात करना और इस प्रकार प्रगति के मार्ग पर चल पड़ना।
56. के.एन. पणिक्कर, औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, पृ. 155
57. वही
58. डैविड आर्नोल्ड, औपनिवेशिक भारत में विज्ञान, क्षैद्योगिकी और आयुलवज्ञान, अनुवादक-शैलेन्द्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 115
59. वही, पृ. 28
60. विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज, पृ. 297
61. वही, पृ. 301
62. वही
63. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 10-11
64. विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज, पृ. 22
65. सुन्दर लाल, पृ. 569
66. उद्धृत, विपिन चन्द्र, भारत में आलथक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास, अनामिका पब्लिषर्स, एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. 2009, पृ. 24
67. उद्धृत, रामविलास शर्मा, भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, खण्डःदो, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982, पृ. 346
68. भारत में अंग्रेरेजी राज, पृ. 572
69. Frantz Tanon, The Wretched of Earth, Penguin Books, Delhi, 1974, p. 3470.
70. भारत का स्वधर्म में लेख, 'यूरोप के टकराव से पूर्व'
71. उद्धृत, गिरिश मिश्र, आधुनिक भारत का आलथक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ. 100
72. वही
73. मेजर आर.डब्ल्यू. बर्ड, अवध की लूट, अनुवादक श्री राजेन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1966, भूमिका, पृ. 18
74. सखाराम गणेश देउस्कर, देश की बात, अनुवादक बाबूराव विष्णु पराड़कर, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2014, पृ. 227
75. भारत में अंगरेज़ी राज, पृ. 579
76. प्रेमचन्द : स्वाधीनता संबंध कहानियाँ, प्रधान संपा. रवीन्द्र कालिया, समय जितेन्द्र श्रीवास्तव, भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली, 2013, पृ. 180
77. Ashis Nanay, The Intimate Enemy : Loss and Recovery of Self Under Colonialism, Oxford University Press, 1983, p. 12
78. न्गुगी वा थ्योंगो, पृ. 30

आलोचनात्मक लेखन के सन्दर्भ में कवि कुँवर नारायण पर विचार

मिथलेश शरण चौबे

''मेरी समझ में आलोचना का काम साहित्यिक कृति की संवेदना को जबरदस्ती खींचकर पाठक तक पहुँचाना नहीं है। आलोचना सिर्फ़ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक या धारणात्मक पूर्वग्रह जाने या अनजाने अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोक रहे हैं जहाँ से काव्य का 'प्रभाव' प्रवाहित हो रहा है, उन्हें विनष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था में छोड़ दे। यन्त्र जगत की एक स्थूल उपमा द्वारा हम यों कह सकते हैं कि रेडियो की सुई को उचित लहरमान पर लाकर लगा भर देना आलोचना का काम है।''

— विजयदेव नारायण साही

एक रचनाकार यदि जीवन की दृश्य-अदृश्य परतों का रहस्योद्घाटन करता है, यानि वह कुछ इस तरह से अभिव्यक्त करता है कि पाठक का संवेदनात्मक जुड़ाव पहली बार उस दुनिया से एक बिलकुल भिन्न रूप में संभव हो सके, तो इसी अर्थ में आलोचक रचना की दृश्य-अदृश्य परतों का रहस्योद्घाटन कर रहा होता है, यानि रचना के वे पाठ और महत्त्वपूर्ण आशय जो पाठक के लिए अपनी सीमित स्थिति के कारण विचारणीय न हों, उन्हें उजागर करता है, कि वह संभव हो सके, आखिरकार जो रचना से संभव हो सकता है। यह आलोचकीय उद्यम ज़ाहिर है कि छिपे हुए को संभव समग्रता से प्रकट करने के आपद्धर्म के चलते बहुधा जटिल ही रहता है। आलोचक को ज़्यादा सरोकारों से समृद्ध होना पड़ता है, ज्ञान व जीवन की बहुज्ञता से परिपूर्ण होना पड़ता है। रचना के निहितार्थों और बृहत्तर सरोकारों तक पहुँचना उसकी साहित्यिक परम्पराओं के विषद अध्ययन व उन पर चिंतन की माँग तो करता ही है, साथ ही जीवन जगत के साहित्येतर प्रतिमानों के प्रति भी गहरी समझ की आवश्यकता प्रकट करता है। अकसर होता यह है कि इस सारी पात्रता की कवायद में 'बाहरी' इतना ज़्यादा प्रभावी होता जाता है कि रचना की आंतरिक दुनिया का मर्म किंचित कम ही उद्घाटित हो पाता है। आलोचना जिसका केंद्र अंततः रचना ही होती है, अन्य प्रतिकेंद्रों में उलझकर रह जाती है और ठीक यहीं आकर आलोचक के पूर्वग्रहों को मुखरित होने की गुंजाइश मिलती है। इसके साक्ष्य हेतु पारंपरिक आलोचना से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। मुख्यधारा की आलोचना के इस पथ-विचलन और किंचित जड़ता की स्थिति के समानान्तर रचनाकारों ने भी रचना केन्द्रित आग्रहों के साथ आलोचकीय उपक्रम किया है। हिन्दी काव्य में यह परम्परा अज्ञेय और मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिंह, विजयदेव नारायण साही, मलयज, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, अशोक वाजपेयी, केदारनाथ सिंह, रमेशचंद्र शाह, विष्णु खरे, कमलेश के रूप में

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 108-117*

हम प्रवाहित देखते हैं और जो उदयन वाजपेयी, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, अरुण कमल, उदय प्रकाश, ध्रुव शुक्ल आदि रचनाकारों के साथ आगे भी निरंतर है और निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी जिसकी बुनियाद हैं। कुँवर नारायण इसी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं जिनके आलोचकीय उपक्रम में काव्य के अलावा साहित्य के अन्य रूप तो शामिल हैं ही, साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष और अन्य विषयों से उसकी आपसदारी के साथ ही विविध कलाओं पर विचार भी शामिल है।

हर बड़ा आलोचक अपने अध्यवसाय से न केवल आलोच्यकृति का मुकम्मल पाठ देता है बल्कि वह कृति के समय, अन्य समयों में आवाजाही, तदनुसार वे सभी समाज और उनकी समूची सांस्कृतिक अवस्थिति को ही सूक्ष्म रूप से टटोलकर उसकी कुछ ज़रूरी चीज़ों को पाठकों को सौंपता है। यह अलग प्रसंग बनता है कि पाठक अर्जित क्या कर रहा होता है या कर पाता है। इस तरह आलोचक के समक्ष देश और काल बड़ा होता है, होना ही चाहिए, जबकि चाहे कृति सीमित देश काल पर ही रची गयी हो। एक रचनाकार जितनी चीज़ों से मुठभेड़ करता है, उनसे तो आलोचक की वाबस्तगी होती ही है, वह क्यों - कैसे और कहाँ तक इस उपक्रम को संभव कर सका है, यह भी आलोचक के हिस्से आता है। इस तरह हम विचार करें तो भले ही रचना के बाद ही आलोचकीय प्रक्रिया घटित होती है, इसलिए वह दूसरे क्रम पर हो रहा सृजन कर्म है लेकिन उसकी प्रक्रिया जिन पात्रताओं, चुनौतियों और विस्तार की माँग करती है वे कदाचित रचना से कमतर तो नहीं ही होते हैं, ज़्यादा होने का हठ यदि नहीं किया जाए तो। मुक्तिबोध ने लिखा ही है - ''आलोचक या समीक्षक का कार्य, वस्तुतः कलाकार या लेखक से भी अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है।''[1]

अतीत, परम्परा और आधुनिकता पर हिन्दी में पर्याप्त चिंतन हुआ है। एक आग्रह समसामयिक का भी है और कहीं-कहीं इतना प्रभावी मिलता है कि अतीत और परम्परा पर विचार करने की आवश्यकता ही वहाँ नहीं रह जाती। जिन कृतियों और आलोचकों का तात्कालिकता पर ज़्यादा ही मुग्धभाव है वहाँ हम समय की विपन्नता को अनायास ही महसूस कर लेते हैं। दरअसल अतीत और परम्परा को जाने व समझे बिना न तो सामाजिक रूप से और न ही साहित्यिक रूप से नैरन्तर्य का बोध हो सकता है। बहुतेरे विचार इस सन्दर्भ में अपूर्ण मिलते हैं, जहाँ अतीत महज तितर-बितर इतिहास की तरह मौजूद है और परम्परा केवल जड़ताओं के सीमित अर्थ तक। कुँवर नारायण अतीत और परम्परा पर विचार करते हुए भाषा को इस विचार का अनिवार्य हिस्सा मानते हैं और उधार की भाषा (दूसरी भाषा) के माध्यम से अपने अतीत को जानने की असम्भाव्यता की ओर संकेत करते हैं। अतीत को उन्होंने अव्यवस्थित और एक तरह से विविध चित्रों का कोलाज माना है और परम्परा को सूत्रबद्ध व अन्वितिपूर्ण, भारतीय परम्परा को आधुनिकता के बेबुनियाद ग्लेमराईज तथ्यों की ओर अनासक्त व मूल्यवान जीवंत पक्षों के प्रति आग्रहशील माना है। कुँवर नारायण के विचार से, जिस देश की सुदीर्घ परम्परा होगी वहाँ आत्मसात या अलगाव दोनों ही प्रक्रियाएँ कठनाई व लम्बे समय में संपन्न होती हैं। जबकि जिन देशों की स्थायी, सुदृढ़ और निरंतर परम्परा नहीं है और उनका बहुत छोटा अतीत है, वे इन दोनों प्रक्रियाओं को सरलता से अपना लेते हैं। यही कारण है ऐसे देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तीव्र जबकि भारत जैसे देशों में मंद गति से चल रह है और इसी कारण भारतीय परम्परा में शामिल अनेक जड़ताओं को दूर करने में कठिनाई होती है। आधुनिकता पर उनका विचार है। ''आधुनिकता एक मूल्य नहीं है, मूल्य के प्रति एक दृष्टि है। ये मूल्य समकालीन भी हो सकते, पारंपरिक भी और अतीत के भी। कभी-कभी अतीत का कोई मूल्य हमारे लिए आज के किसी मूल्य से भी अधिक आवश्यक हो सकता है और तब आधुनिकता एक विवेक हो सकती है जो उसका सही मूल्यांकन कर सके।''[2] भारतीयों ने आधुनिकता को जिस लुभावने आकर्षण के

रूप में व्याख्यायित किया, दरअसल वह उसे नहीं समझने के कारण ही है अन्यथा विभिन्न नयी दृष्टियाँ एवं नवाचार हर समय देखने मिलते हैं और जिन्हें उस समय की आधुनिकता ही माना जाएगा। कुँवर नारायण आधुनिकता को एक सर्वकालिक पद मानते हैं।

यथार्थ का दबाव और उसका आग्रह न केवल कविता में ही रहा बल्कि समूचे साहित्य और चिंतन में ही उसकी भूमिका अत्यंत प्रभावी रही, इस कदर कि यथार्थ के अलावा को साहित्य व चिंतन का विषय बनाने वालों को या यथार्थ का ज़रूरत भर इस्तेमाल कर स्मृति और कल्पना को अपना सृजनात्मक स्रोत मानने वालों को सिरे से खारिज करने का ही काम किया गया। कुँवर नारायण ने यथार्थ को ज्यों का त्यों नहीं, उसकी समूची दूरदर्शी दृष्टि से देखना ज़रूरी माना है। उनके विचार से यथार्थ से उद्विग्न और आदर्श से आश्वस्त कवि ही कविता की सही जमीन को खोज सकता है। कविता यथार्थ से ज़्यादा उसके बारे में गहन चिंतन-मनन और अनुभव सामर्थ्य का नतीजा होती है। यथार्थ की अपनी उपस्थिति से उद्वेलन तो हो सकता है लेकिन उसके समूचे निहितार्थों, संबंधों और उस पर विचार के बिना कविता में वह शक्ति प्रतिध्वनित नहीं होगी जो उसे श्रेष्ठ रचना बनाती है। कुँवर नारायण यथार्थ के संज्ञानात्मक काम और सौंदर्यानुभूतिमूलक कार्यों की बहस में न पड़कर रचनाकार की अपनी अनिवार्यता की तरह उसके इस्तेमाल के हिमायती हैं। कविता में यथार्थ को लेकर उनका विचार है। ''कविता यथार्थ को नज़दीक से देखती मगर दूर की सोचती है। वह एक बारीक मगर ज़रूरी फ़र्क करती है जीवन-यथार्थ और जीवन-सत्य के बीच, दुनिया जैसी है और जैसी उसे होना चाहिए के बीच कहीं वह एक लगातार बेचैनी है। एक कवि में अगर दूर तक सोच सकने की ताकत नहीं है तो उसकी कविता या तो यथार्थ की सतह को खरोंचकर रह जायेगी, या किसी भी आदर्श से चिपककर।''[3]

कुँवर नारायण यथार्थ के अतिरिक्त आग्रह को अस्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि सामाजिक यथार्थ के दबाव से रचनाकार के अपने सर्जक व्यक्तित्त्व की पहचान नहीं उभर पाती। यदि यह व्यक्तित्त्व नहीं बचेगा तो यथार्थ भी अपने समूचे रूप में प्रकट नहीं हो सकेगा, रचनाकार की व्यक्तित्त्वहीनता की स्थिति में कोई भी रचना या उसका कोई भी प्रत्यय अपनी पहचान स्थापित नहीं कर सकता। यथार्थ को लेकर हमारा दृष्टिकोण ही किंचित संकीर्ण है। हम सरलीकरणों के अभ्यस्त यथार्थ को भी सिकोड़कर रख देते हैं और इसी सीमित नज़रिए से रचनाओं व रचनाकारों का विश्लेषण करते हैं। निर्मल वर्मा के विचार इस सम्बन्ध में हमें विस्तार देने का यत्न करते हैं ''हम जिसे यथार्थ समझते हैं वह केवल परिभाषित अनुभव का क्षेत्र है किन्तु परिभाषित अनुभव के बाहर जो यथार्थ है क्या वह कम यथार्थ है। एक रचना हमें परिभाषित यथार्थ से अपरिभाषित अनुभवों की ओर ले जाती है। अब यदि कोई आलोचक अपने पहचाने हुए यथार्थ की कसौटी से उस अपहचाने यथार्थ के अनुभव को नापेगा तो हमेशा रचना के मर्म को पकड़ने में चूक जाएगा।''[4]

यथार्थ पर ज़्यादा आग्रही होकर हम उन सूक्ष्म संवेदनों को छोड़ते जा रहे हैं जो मनुष्य और मनुष्येतर जीवन के ज़्यादा नज़दीक हैं। हम यह समझना ही नहीं चाहते कि रचनाकार उस निर्णायक हैसियत में नहीं है कि वह वृहत्तर यथार्थ को अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप बना सके। राजनीति और आर्थिकी ने मिलकर यथार्थ में केन्द्रीयता हासिल कर ली है। हम यदि यथार्थ के आग्रही रहते हैं तो न चाहते हुए भी हम राजनीति और आर्थिकी के दायरे में खुद ही प्रविष्ट हो जाते हैं। भारतीय समाज में अब निर्विवाद रूप से राजनीति और आर्थिकी का दबदबा है और इन दोनों ने मिलकर किसी अन्य के सक्रिय होने की संभावना को पूरी तरह नाउम्मीदी की ओर ठेल दिया है। हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप अव्वल तो अत्यल्प-सा ही बचा है और जितना है भी उसे भी इन दोनों ने आक्रांत कर रखा है। यही हमारा यथार्थ है। रचनाकार को जिस स्वतः स्फूर्त

भाव से साधारण मनुष्य की दुनिया में प्रवेश करना होता है, उसकी निजता के सूक्ष्म अर्थों को जानकर सामाजिक के बरक्स उसकी प्रतिष्ठा की कामना करना होती है, वह सब इस यथार्थ में, जहाँ केन्द्रीय शक्तियाँ कोई और हैं, कैसे संभव हो सकता है। कुँवर नारायण की साहित्य के पक्ष से यह चिंता वाजिब ही है। ''पिछली सदी में सामाजिक चेतना के आयाम राजनीति और आर्थिक के साथ कुछ इस तरह नत्थी हो गए हैं मानो समाज की कोई अपनी स्वतंत्र या स्वायत्त चेतना न होकर आर्थिक-राजनीतिक पर आश्रित चेतना हो। सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक का एक ऐसा दुरूह त्रिकोण नैक्सस बन गया कि उसके पीछे सामाजिक चेतना झाँकती हुई तो यदा-कदा दिख जाती थी, पर नितांत भौतिक दृष्टिकोण के नीचे दबी और बुझी-सी। इस सामूहिक चेतना को भी चतुर तर्क द्वारा व्यक्ति की शिखर-चेतना और जन की आधार-चेतना में विभाजित करके सामने रखा जाता है। फलतः साहित्यिक चेतना को भी स्वतंत्र मान्यता न देकर उपरोक्त नैक्सस के ही तहत सोचा-विचारा जाता रहा। सफल साहित्य की एक शर्त और निशानी यह मान ली गयी कि वह राजनीतिक-आर्थिक मसलों के कितना नज़दीक है - यह नहीं कि वह जन और जीवन-चेतना के कितना नज़दीक है।''[5] रचनाकार की शुरुआत ही सामाजिक चेतना की स्वतंत्र पृष्ठभूमि से यदि नहीं हो पाती, वह अन्य कारकों से अतिक्रमित है तो उसमें जीवन की निस्संग अनुभूति कैसे हो सकती है।

विचार और विचारधारा साहित्य सृजन और उसके विश्लेषण में सबसे विवादग्रस्त विषय रहे हैं। साहित्य हालाँकि विचारों के ही व्यक्त करने का एकनिष्ठ कर्म नहीं करता, लेकिन हमेशा ही श्रेष्ठ साहित्य ने मूल्यपरक विचारों को देने का काम किया है। सिर्फ़ विचार साहित्य नहीं हो सकता लेकिन साहित्य में विचार की अनिवार्यतः मौजूदगी उसे उल्लेखनीय और ध्यानाकर्षी बनाती है। विचारधारा का सवाल ज़्यादा समस्याग्रस्त है, जैसे ही रचनाकार किसी 'निर्धारित' के अंतर्गत रचनात्मक उपक्रम करता है, यह कैसे मान सकते हैं कि वह स्वतः स्फूर्त ढंग से रचना और खुद के साथ न्याय कर पा रहा है। वह 'निर्धारित' अनायास ही रचनात्मकता और विवेक को प्रभावित करता ही है। जीवन को नितांत निजी नज़रिए से देखने के बजाए यदि विचारधारा के चश्मे से देखा जा रहा हो, तब कैसे उससे सम्बद्ध सृजन को विचारधारा के दबाव से मुक्त मान सकते हैं। भले ही विचारधारा गहरे रूप से मनुष्यता के पक्ष में उतनी ही क्रियाशील हो जितना साहित्यकार का साहित्य के मार्फ़त और अलावा भी स्वप्न रहा हो। साहित्य के संसाधन और तरीके विचारधाराओं से अलग व भिन्न होते हैं। भले ही दोनों एक ही ज़मीन पर क्रियाशील हों लेकिन दोनों के रास्ते अलग होते ही हैं। विचारधारा का अनुगामी होकर साहित्य का पिछड़ना असंदिग्ध है। साहित्य को इस हक़ीकत से वाबस्ता होना ही चाहिए कि वह कोई फ़ौरी और फौजी किस्म की कार्यावाही नहीं कर सकता। विचारधाराएँ जन आन्दोलनों के ज़रिये इस तरह की चेष्टा कर सकती हैं, करती भी हैं।

कुँवर नारायण विचार को कृति के सौन्दर्य का हिस्सा मानते हैं। उनकी दृष्टि में विचार रचना का हिस्सा तो हो सकता है लेकिन मात्र विचार के कारण रचना बेहतर नहीं हो सकती। साहित्य में विचारों को उपयोगी मानते हुए भी विचार की उपस्थिति की सीमाएँ और स्वरूप को वे स्पष्ट करते हैं। ''बड़े विचारों का प्रभाव या दबाव कलाओं को अकसर रचनाशील ढंग से भी उकसाता है, बशर्ते दोनों के बीच एक खुला और उदार रिश्ता बनता हो।''[6] रचनाकार की स्वतंत्रता के अंतर्गत ही विचार का होना ठीक जान पड़ता है काफ़्का, ज्वाइन, ब्रेख्त और मारकेज जैसे उल्लेखनीय रचनाकारों द्वारा विचारों को जिस तरह अपनी शर्तों पर प्रयुक्त किया गया, उसी तरह के इस्तेमाल की हिमायत कुँवर नारायण करते हैं वे मानते हैं कि श्रेष्ठ साहित्य विभिन्न विचारों की वैधता के लिए खुद ही प्रमाण होता है, अपनी प्रमाणिकता का आधार दूसरे विचारों या विचारधारा

को नहीं बनाता। आलोचनात्मक उपक्रम में इस बात की गुंजाइश ज़्यादा रहती है कि आलोचक किसी ख़ास विचार या विचारधारा से प्रेरित होकर कृति का विश्लेषण कर सके, और यही होता भी है। रचना की तरह ही कुँवर नारायण आलोचना की स्वतंत्रता के हिमायती हैं। आलोचना तभी निष्पक्ष हो सकती है जब वह कृति-आवश्यक प्रत्ययों से अपना काम कर रही हो, किसी विचारधारा के फ्रेम में रचना की पड़ताल करने से रचना को क्षति पहुँचने का अंदेशा तो रहेगा ही, खुद आलोचना की अवस्थिति भी कमज़ोर होगी।

राजनीति और आर्थिकी की केन्द्रीयता से आक्रांत यथार्थ में साहित्य के संबंधों पर भी अनिवार्यतः असर पड़ा है। साहित्य जिन प्रत्ययों के अनिवार्य समावेश से बनता है, उनको तो हाशिए पर कर ही दिया गया, अन्य अनुशासनों में आवाजाही से उसे जो अर्थ व भाव समृद्धि मिलती है, उन्हें भी अलक्षित किया जाने लगा। साहित्य के पाठ में या आलोचनात्मक उपक्रम में उन सबको विस्मृत कर देना आखिरकार जिनसे ही साहित्य का 'साहित्य' हो पाना संभव होता है, कदाचित अज्ञानता तो है ही, साहित्य को संकीर्ण या दूसरे शब्दों में ज्ञान के किसी एक विषय जैसा संकुचित कर देना है। साहित्य को उसके बहुरागवैभवपूर्ण स्वरूप से अपदस्थ करना ही है। इतिहास, नैतिकता, संस्कृति, कलाएँ, अर्थशास्त्र आदि वे ज़रूरी अंतर्विषय हैं जिनसे साहित्य की गहरी वाबस्तगी है। राजनीति और एक सीमित आर्थिकी के दबाव से इन सबकी मूल्यवान उपस्थिति कमतर मान ली गयी है। रचना और आलोचना दोनों में ही इनकी सघन मौजूदगी जिन दो वजहों से कमतर हुई है उनमें से एक तो राजनीति की केन्द्रीयता का निरुपाय स्वीकार है, जिसे हमारी विचारधाराएँ भी पोषती हैं। दूसरी उल्लेखनीय वजह रचनाकारों और आलोचकों का इन क्षेत्रों से निरंतर विरल होता संपर्क है। ये सभी राजनीति की तरह दृष्यमान नहीं हैं, अपने अध्यवसाय से साहित्यकार इन्हें अर्जित कर सकता है। सवाल इन्हें हासिल करने की ज़रूरत का भी है।

रचना और आलोचना दोनों में ही सरलीकरण तथा विधागत तैयारी व उसके अभ्यास का अभाव इतना ज़्यादा बढ़ता जा रहा है कि स्वभावतः उनका एकांगी हो जाना ही विशिष्टता मान लिया जाता है। कुँवर नारायण साहित्य के अंतर्विषयक स्वभाव व संबंधों की ज़रूरत महसूस करते हैं तथा आलोचना की समृद्धि के लिए अंतविषयक समझ होने को उल्लेखनीय गुण मानते हैं। हालाँकि वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि दूसरे अनुशासन के तर्क की अपनी उपयोगिता व सीमाएँ भी हैं। उससे साहित्य के कुछ और अर्थ सन्दर्भ यदि मिल सकते हैं तो उस विषय का अपना दबाव भी काम करता है जो साहित्य के लिए ग़ैरज़रूरी है। उन्होंने दाँते द्वारा प्रयुक्त इलियट की समीक्षा के सम्बन्ध में इस बात का ज़िक्र किया है जहाँ उल्लेख है कि एक कविता, कविता है या नहीं, इसका फैसला तो साहित्यिक मानदंडों से ही होगा, लेकिन वह महान कविता भी है, इसके लिए हमें साहित्य से उच्चतर मानदंडों की ज़रूरत पड़ेगी।

अंतर्विषयक अध्यवसाय से आलोचना को जड़ प्रत्ययों व प्रतिमानों से मुक्ति मिल सकती है तथा एक ज़्यादा उदार, खुले और व्यापक संवाद की संभावना भी बनती है। उनका विचार है ''आज की हिन्दी समीक्षा स्वयं अपने साहित्य को किस तरह सोच रही है। पिछले पचास वर्षों में उसकी विचार पद्धति में अगर कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव आया है, तो वह किस रूप में समीक्षा की भाषा, पदावली, मूल्यांकन और जीवन दृष्टि में प्रतिबिंबित हो रहा है। कुछ विषय हैं, जैसे अर्थशास्त्र, इतिहास, संस्कृति, नैतिकता आदि जिनका मानव समाज के लिए हमेशा केन्द्रीय महत्त्व रहा है और आज भी है। इन विषयों में आज महत्त्वपूर्ण चिंतन हो रहा है लेकिन हिंदी समीक्षा जितना व्यवहारिक राजनीति से प्रभावित या वाबस्ता दिखती है उतना अन्य विषयों से नहीं। वह अन्य विषयों से लिए गए 'शब्दों' या 'पदों' को भी जब इस्तेमाल करती है तो उन पर राजनीति की रंगत ही

ज़्यादा चटक रहती है, बजाए उस चिंतन के जो साहित्य समीक्षा में प्रयुक्त हो रहे अनेक निर्जीव से लगते 'शब्दों' और 'पदों' को नयी तरह अनुप्राणित कर सकता है।''[7] समीक्षा की भाषा में अधिक खुलेपन तथा उसके विवेचना के तरीकों में गहराई के लिए ही कुँवर नारायण का यह अंतर्विषयक चिंतन का आग्रह है।

भाषा को कुछ बताने तक सीमित होने के बजाए कुछ रचने के विचार के हिमायती कुँवर नारायण 'रचनात्मकता के दौरान एक नए प्रकार के भाषाई अनुभव का आविष्कार' साहित्य का प्रमुख काम ही मानते हैं। वे भाषा को सांस्कृतिक सन्दर्भों में देखते हैं तथा इसी सामर्थ्य को उन्होंने छायावादी कविता की प्रमुख रचनात्मक शक्ति माना है। उनके विचार से साहित्य की गतिशीलता भाषा के सर्वथा नए अनुभवों पर ही आश्रित होती है। भाषा के महत्त्व पर उनका विचार है कि ''अपनी कविताओं में एक कवि केवल मौजूदा यथार्थ को ही नहीं एक विस्तृत और समग्र भाषा-बोध को भी जीता है। उसका भाषा-दर्शन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उसका जीवन दर्शन। उसके लिए 'शब्द' केवल नींव का ईंट-गारा नहीं, उस खरे निर्माण की इकाइयाँ हैं जिससे उसकी रचना अस्तित्व में आती है। उसका वास्तु-कौशल केवल धरती की सतह तक सीमित नहीं, आसमानी ऊँचाइयों तक पहुँचता है।''[8] विषय पर अपनी विचार प्रक्रिया केन्द्रित कर रचना प्रक्रिया में भी भाषिक निर्वाह को उपेक्षित कर देने के चलन में, यह जीवन-दर्शन के समतुल्य भाषा दर्शन की मान्यता एक कठिन प्रस्ताव है। एक तरह से रचनाकार से दोहरी तैयारी की माँग कुँवर नारायण करते हैं। एक ही भूमिका से प्रशंसित रचनाकार इस दूसरे के अध्यवसाय में क्यों पड़े? भाषा का संधान किये बिना कोई महान साहित्य कैसे रचा जा सकेगा रचनाकार को यह दोहरी जिम्मेदारी न केवल अपने लिए बल्कि अपनी भाषा के श्रेष्ठ साहित्य सृजन के लिए निर्वाह करना ही होती है। अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ही इसके प्रबल साक्ष्य हैं।

आमतौर पर स्वायत्तता के नाम पर हम निपट एकांगी होना स्वीकार कर लेते हैं जहाँ किसी और का प्रवेश निषिद्ध ही रहता है, या फिर परस्पर आवाजाही की ज़रूरत पर हम लगभग अन्योनाश्रित तक उदार हो जाते हैं। साहित्य और अन्य रचनात्मक कलारूपों को लेकर हमारा कुल विचार इन्हीं दो अतियों में से एक को अपनाने का रहता है। बहुतेरे कला विशेषज्ञ अपने ही कलारूप में अन्य कलाओं के लिए प्रेरणा तत्त्व की उपस्थिति देख पाते हैं, अन्य में उन्हें यह गुंजाइश लक्षित नहीं होती, साहित्य के सम्बन्ध में भी अन्य कलाओं पर जो विचार मिलता है, वह भी दो तरह का ही है, कुछ लेखक मानते हैं कि साहित्य का दायरा, सम्प्रेषण और प्रभाव अधिक होने से, उसमें ही अन्य कलारूपों को प्रेरित करने और विस्तार दे सकने का गुण मौजूद है, दूसरी पंक्ति उन लेखकों की है जो साहित्य तथा प्रत्येक कलारूपों की स्वायत्तता पर तो यकीन करती है लेकिन इस बात पर उनका गहरा भरोसा है कि साहित्य व अन्य कलारूपों के बीच आवाजाही अनिवार्यतः प्रेरक व समृद्धि कारक होती है और इसलिए इस आवाजाही को निरंतर बढ़ाने के उपक्रम भी होना चाहिए। संगीत और सिनेमा के रसिक कुँवर नारायण के कलाओं के स्वरूप, औचित्य और उनके अंतर्संबंधों पर विचार इस अर्थ में उल्लेखनीय हैं कि वे न तो विविध कलारूपों को एक दूसरे के लिए आपस में ग़ैर ज़रूरी मानते हैं और न ही एक दूसरे को अनिवार्य रूप से समृद्ध करने वाला। उन्हें कदाचित एक मध्य स्थिति जैसा सम्बन्ध ही घटित होने की संभावना लगती है, हर कला की एक अपनी एक स्वतंत्र वंशावली होती है, और उसके गति और विकास की शर्तें उसके जीन्स में अंकित होती हैं। ''दूसरी कलाओं का सान्निध्य, सह अस्तित्व या निकटता किसी भी कला के लिए एक अनुकूल (homogenous) वातावरण तो हो सकता है किन्तु उसके विकास के क्रम में किसी भी अन्य कला की हस्तक्षेपी भूमिका या हिस्सेदारी नहीं हो सकती। हर कला की अपनी अलग भाषा और उस भाषा का अपना अलग व्याकरण होता है। उनमें एक सीमित संवाद ही संभव है।''[9]

साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध जिस तरह से बनते चले गए हैं, उसमें हमें साहित्य की मशाल की अगुवाई का प्रेमचन्द स्वप्न विलीन हुआ सा लगता है, हालाँकि यह हाल ही का मामला ही नहीं है। हमारा लोकतंत्र आजादी के बाद से लगातार इस बात का प्रबल साक्ष्य बन पड़ा है कि जिसमें साहित्य, कला, संस्कृति आदि राजनीति के अंतर्गत ही हैं। हम कितना भी व्याख्यानों में सुन लें कि 'साहित्य को राजनीति से निर्देशित नहीं होना है, राजनीति का साहित्य द्वारा मानवीयकरण होना है', लेकिन इस अघटित के घटने की किंचित संभावना भी अपनी जगह बनाती नहीं लगती। होना तो यह चाहिए कि राजनीति स्वयं इसकी पहल करे कि उस पर प्रश्नांकन करने वाली, उसे चुनौती देने वाली शक्तियाँ और अधिक स्वायत्त व दबाव रहित हों, जिससे उनकी वास्तविक और अपरिहार्य क्रियाशीलता में सकारात्मक वृद्धि हो सके। लेकिन यही व खतरा है जिसे राजनीति भली-भाँती जानती है। उसे अपने सारे अनैतिक और ग़ैर जवाबदेह किये-धरे को ही असली वैध यदि मनवाना है तो प्रश्नांकन सामर्थ्य को अपने ही अधीन कर लिया जाए। वर्तमान हालात तो राजनीति के वर्चस्व में लोकतंत्र के कुछ स्तंभों के ढहने के ही हैं। राजनीति की अनुषांगिक इकाई की तरह उनकी क्रियाशीलता है। ऐसे में साहित्य और कलाओं के मुखर प्रतिपक्ष बनने का सवाल न केवल जोखिमभरा और अकेले पड़ जाने का है, उससे भी आगे जाकर किन्हीं लांछनों और व्यक्तिगत लालच के दुष्प्रचार में झोंक देने का भी है। सिर्फ़ राजनीति ही ऐसा करे तो बात समझ आती है, लेकिन कुँवर नारायण एक दूसरी विकरालता की ओर इशारा करते हैं, जहाँ से साहित्य व कलाओं के निरुपायबोध का संकट खड़ा होता है - बात मैंने साहित्य पर राजनीतिक दबाव से उठाई थी। यह दबाव आज राज्य की ओर से आ रहा हो ऐसा नहीं - स्वयं लेखक वर्ग का एक बड़ा हिस्सा भी इसे ज़रूरी समझ रहा है कि आदमी के मौजूदा हाल में अगर कोई फ़र्क लाया जा सकता है तो राजनीति द्वारा ही। ''वे ज़माने लद गए जब लोग समझते थे कि धर्म या शिक्षा-दीक्षा द्वारा यह परिवर्तन लाया जा सकता है। मैं समझता हूँ इस सवाल को ही गलत तरह पेश किया जाता है। फिर दुहराना चाहूँगा कि कलाएँ या साहित्य राजनीति के समानांतर चेष्टाएँ हैं - उसकी मातहत चेष्टाएँ नहीं, उसकी सहयोगी चेष्टाएँ भी नहीं। साहित्य, यदि राजनीतिक शब्दावली में ही कहें तो, एक निर्दलीय राय है और उसकी उपयोगिता इसमें अधिक है कि वह सत्ता के खिलाफ़ राय भी दे सके।''[10]

हाल ही में नरेन्द्र दाभोलकर, एम एस कालबुर्गी तथा गोविन्द पानसरे की हत्याओं सहित, अल्पसंख्यकों पर हमले, स्त्रियों पर अत्याचार तथा जनांदोलनों को कुचलने के बर्बर तरीकों पर अनेक लेखकों ने रचनात्मक उपक्रमों में मुखर विरोध प्रकट कर, पुरस्कार वापस कर, प्रदर्शनों में शामिल होकर इस बात को पुष्ट ही किया है कि साहित्य एक तरह का प्रतिपक्ष ही होता है और उसे तत्परता से अपनी इस भूमिका का निर्वाह करना होता है।

कृति या रचनाकार के मूल्यांकन से पूर्व आलोचक रूप की अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि और आलोचकीय संसाधन का पता कुँवर नारायण के उल्लिखित विचारों में मिलता है। इन सभी सैद्धांतिक विश्लेषणों में कुँवर नारायण कहीं भी हड़बड़ी में नज़र नहीं आते। उनका विचार इतमीनान और व्यापक सन्दर्भों की पड़ताल से आता है। विश्व साहित्य के विरल अध्येताओं में उनकी गणना की जाती है, उनकी दोनों आलोचना पुस्तकों आज और आज से पहले तथा शब्द और देशकाल के सैद्धांतिक निबंधों में उल्लिखित लेखकों, किताबों और विचारों के सन्दर्भ इसका प्रमाण हैं।

इन सभी विचारों को यदि सूत्र रूप से एकत्र कर हम कुँवर नारायण का आलोचकीय उद्यम देखें,तो हमें विचार और आलोचना प्रक्रिया में साम्य ही नज़र आएगा। बहुधा हमारी आलोचना इस दुविधा का ही

इज़हार है कि विचारों में तो हम किन्हीं आग्रहों पर कायम हैं लेकिन समीक्षा करते वक़्त कुछ दूसरी मुद्रा अख़्तियार कर लेते हैं, जिसका नाता पसंद, पूर्वग्रह, संबंध और किसी निर्धारित की रक्षा करना होती है। कुँवर नारायण की विचार प्रक्रिया में इस बात की छूट के लिए को गुंजाइश नज़र नहीं आती। इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि वे किसी एक लकीर से सभी का नाप नहीं लेते। उनके सैद्धांतिक विचार जिस खुलेपन, उदारता, अंतर्विषयक समझ की पैरवी करते हैं, उनकी समीक्षा में वही पैरवी आलोचना के पूर्व निर्धारित तरीकों से उन्हें मुक्त करती है। हर आलोचक अपनी सैद्धांतिकी से कुछ तय प्रत्यय अपनी आलोचना के लिए फ्रेम कर लेता है,उसी के अनुरूप वह कृतियों और प्रतिकारों की जाँच-पड़ताल करता है। कुँवर नारायण ने इससे उलट रचनात्मकता की माँग के अनुरूप आलोचकीय मुद्रा अपनाई है। उनका मानना है कि हर एक कृति या कृतिकार को एक ही तरह से नहीं पढ़ा जा सकता, सभी का एक से आलोचना अस्त्रों से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। हर रचनाकार की अपनी ख़ास विशिष्टता व तेवर है, उसे उसकी बनावट की आवश्यकता के अनुरूप ही मूल्यांकित किया जाना चाहिए।

जयशंकर प्रसाद पर उन्होंने सर्वथा नयी तरह से विचार किया है, उनका मानना है कि प्रसाद में जीवन और कला की घनिष्ठता का अभाव है "प्रसाद की कला एक भिन्न प्रकार का रचनात्मक प्रस्ताव है। उसे यथार्थवादी साहित्य की तरह पढ़ना उसका गलत पाठ होगा। वह मूलतः मनुष्य की सौन्दर्य भावना और उसके नैतिकता बोध को संबोधित कल्पना प्रधान कला है। प्रसाद जीवन से थोड़ा हटकर एक आश्चर्यलोक की रचना करते हैं-उसका ऐश्वर्य हमें आकृष्ट करता है पर उसके साथ हम बहुत सहज और आत्मीय नहीं हो पाते। उसमें लकदक, सजावट और सौजन्य है पर जीवन की निकटता और ऊष्मा का अभाव लगता है।"[11]

निराला को कुँवर नारायण ने अपने से ही बार-बार भिन्न कवि के रूप में व्याख्यायित किया है। उन्होंने अनेक कविताओं के ज़रिये सिद्ध किया कि निराला ने हमेशा अपनी रचनात्मकता में नवाचार किया है और इस अर्थ में वे हिंदी के अकेले कवि हैं, अपनी प्रत्येक कविता में पूर्ववतः निराला से निराला तेवर उनकी मूल शक्ति है।

मुक्तिबोध पर विचार करते हुए कुँवर नारायण उनकी कविताओं के खुरदुरेपन की ओर इशारा करते हैं और इस ऊबड़-खाबड़पन के सिरे से रचनात्मकता की पड़ताल करते हैं। वे मानते हैं कि मुक्तिबोध सिर्फ़ रचनाकार ही नहीं एक चिन्तक भी हैं, अतः उनका रचा हुआ चिंतन की स्पष्टता से गुज़रकर आता है। इसीलिये उसमें काव्यात्मक तनाव की शर्त पर जो खुरदुरापन है वह उनकी अभिव्यक्ति की अनिवार्य माँग के फलस्वरूप है। मुक्तिबोध की कविताओं की उद्विग्नता पर उनका मानना है कि - "मुक्तिबोध की कविताएँ एक ख़ास तरह की झपट और ज़ल्दी में हैं.... एक मिल, एक मशीन की तरह ज़ल्दी में कहीं कुछ ऐसे आवश्यक को नष्ट हो जाने से बचाने की ज़ल्दी में जिसके साथ आदमियत के जीवन मरण का प्रश्न झूल रहा हो।"[12]

शमशेर की कविताओं को कुँवर नारायण ने 'शब्द रचनाएँ' कहा है। शिल्प और भाषा के सूत्रों से उनकी कविताओं का विश्लेषण करते हुए उन्हें इन दोनों ही को लेकर प्रयोगशील व विशिष्ट माना है। लय, ध्वनि, बिम्ब योजना एक अलग ही काव्यास्वाद निर्मित करते हैं। विजयदेव नारायण साही की कविताओं में औदात्य की विशेष उपस्थिति और इतिहास बोध को लक्षित कर उन्हें सबसे अधिक संवाद की सम्भावना निर्मित करने वाला कवि माना है। साही की कविताएँ विचार संपन्न हैं लेकिन उनकी यह ख़ासियत है कि वह संवाद में रूपांतरित भी हो सका है।

मलयज की आलोचना पर विचार करते हुए कुँवर नारायण की आलोचना का एक ख़ास स्वभाव प्रकट होता है। वे किसी असहमति या खामी पर निष्कर्ष न देकर पूरी विनम्रता व आलोचकीय साहस के साथ उन पर इशारा करते हैं। मलयज के चिंतन में 'ब्लाइंडस्पॉट्स' रेखांकित करते वक़्त वे उनकी आलोचना में जो सबसे जीवंत तत्त्व भाषा के रूप में है, उसकी मुग्ध भाव से प्रशंसा करते हैं। मलयज की दृष्टि के नयेपन पर वे आश्वस्त होते हुए अनेक रचनाकारों पर मलयज के लिखे को अब तक का श्रेष्ठ लिखा हुआ मानते हैं। मलयज की एक विशिष्टता, जो कि सच्ची आलोचना की भी विशिष्टता है, उस पर कुँवर नारायण ने लिखा है - ''उनको पढ़ते समय यह विचित्र अहसास बराबर बना रहता है कि वे किसी कृति या कृतिकार को सोचते वक़्त उसे ही नहीं अपने सोचने को भी उतनी ही तत्परता से जाँचते चल रहे हैं। मैं समझता हूँ कि एक कृति के साथ मलयज के इन्वाल्वमेंट का यही वह मुश्किल धरातल है जहाँ एक कृति के साथ तादात्म्य से ज़्यादा बड़ा काम होता है साहित्य के सर्वोच्च मूल्यों की रक्षा।[13] यह एक आग्रह रहित और श्रेष्ठ आलोचना कर्म है, जैसा कि अशोक वाजपेयी ने भी लिखा है ''रचना के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वह खुद अपनी हालात की, अपने होने के औचित्य की पड़ताल करे जबकि आलोचना के लिए यह लगभग अनिवार्य है कि वह न केवल रचना के बारे में सवाल उठाये बल्कि स्वयं अपने बारे में भी निर्ममता से सवाल उठाये और उनके हल खोजे।''[14]

रघुवीर सहाय जैसे यथार्थवादी आग्रह के कवि के चर्चित हिस्से 'सामाजिक-राजनीतिक हिस्सेदारी की उपस्थिति' के बजाए कुँवर नारायण उनका मूल्यांकन भाषिक दृष्टि से करते हैं। इस लगभग सरलीकृत मान लिए कविता तत्त्व पर उन्होंने लिखा है - ''रघुवीर की भाषा सीधी चाल नहीं चलती-गुम्फित, पेचीदा, घुमाव-फिरावदार.... लगभग एक भूलभुलैया सी रचती हुई, जबकि वह यथार्थ जिसकी रघुवीर बातें करते हैं इतना अ-सरल नहीं होता जितनी उनकी भाषा। शब्दों के साथ-साथ वाक्य कौशल से भी कविता निकाल लेने की विचित्र क्षमता उनमें थी।''[15]

निर्मल वर्मा के गद्य को पढ़ने की एक बिलकुल भिन्न तकनीक की माँग कुँवर नारायण करते हैं। उनका मानना है कि उतनी निस्संगता और इतमीनान से उसे नहीं पढ़ा गया, जितना ज़रूरी है तो उसके निहितार्थ टूटकर बिखर जाएँगे, उसे समझने के लिए अवकाश चाहिए ''उस गद्य को, लगता है, तेजी से पढ़ना या पढ़ जाना, उस ख़ास लय के साथ हिंसा होगी जो निर्मल के गद्य की रचावट का सबसे आत्मीय और काव्यमय प्रसंग है, जिसे मानो वे खुद एक नाजुक (फ्रैजाइल) चीज़ की तरह उतने एहतियात से लेकर चलते हैं कि कहीं वह किसी सख्त चीज़ से टकराकर या खुरदुरी चीज़ से रगड़ खाकर टूट-बिखर न जाए।''[16] इस तरह से हम न केवल गद्य को बल्कि कविता को भी पढ़ने के उस ख़ास तरीक़े को ढूँढ सकते हैं जिसकी माँग वे खुद प्रकट करते हैं, जिस तरीके के बिना हम अर्थ की उस दुनिया को अनुभव ही नहीं कर सकते जो 'पाठ' में अन्तर्निहित होती है।

ये कुछ उदाहरण हैं जिनसे कुँवर नारायण के आलोचना कर्म का पता चलता है, जिसकी बुनियाद प्रत्येक कृति और कृतिकार के लिए भिन्न है लेकिन जिसकी निर्मित समाज, राजनीति, आर्थिकी, इतिहास, नैतिकता, अंतर्विषयक सम्बन्ध, भाषा, कला, संस्कृति, विचार, परम्परा आदि के गहरे अध्यवसाय से होती है। इसीलिये उसमें अधिक उदारता, खुलापन और रचनात्मक संघर्ष प्रतिकृत हो सका है।

महाकाली मंदिर के पास, इंदिरा कॉलोनी
5 सिविल लाइंस, सागर (म.प्र.) 470001

सन्दर्भ -

1. *मुक्तिबोध : मुक्तिबोध रचनावली-5 (सं.- नेमिचंद्र जैन), पृ. 83*
2. *कुँवरनारायण : आज और आज से पहले, पृ. 22*
3. *वही, पृ. 79*
4. *निर्मल वर्मा : तेवर-6 (सं.- गोविन्द द्विवेदी), पृ. 100*
5. *कुँवरनारायण : शब्द और देशकाल, पृ. 73*
6. *वही, आज और आज से पहले, पृ. 67*
7. *वही, शब्द और देशकाल, पृ. 29*
8. *वही, पृ. 80*
9. *वही, पृ. 49*
10. *वही, पृ. 103)*
11. *वही, आज और आज से पहले, पृ. 163*
12. *वही, पृ. 177*
13. *वही पृ. 204*
14. *अशोक वाजपेयी : कुछ पूर्वग्रह, पृ. 53*
15. *कुँवरनारायण : आज और आज से पहले, पृ. 212-213*
16. *वही, पृ. 267*

1857 की स्वातंत्र्य-क्रांति के महानायक तात्या टोपे

बी.के. श्रीवास्तव

न कोई राज, न कोई बहुत बड़ा ओहदा, न बहुत अधिक शिक्षित और न कोई अति प्रशिक्षित सेना नायक, वह तो एक आम इंसान था। अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति, सतत परिश्रम, आत्म विश्वास, लोगों के प्रति सत्यनिष्ठा एवं उच्च चरित्र ने उसे आम इंसान से एक खास इंसान बना दिया। 1857 की क्रांति के आरंभ से अन्त तक ही नहीं अन्त के पश्चात भी लगभग 9-10 माह तक वह एक से बढ़कर एक योग्य ब्रिटिश सेनापतियों की आँख में धूल झोंकता रहा। उनके उसे पकड़ने के लिये विछाये गये चक्रव्यूह को भेदता रहा। न स्वयं ने आराम किया और न ही अंग्रेजों को आराम करने दिया। वह एक जन नेता था। आम जनता ने उसका अत्यधिक साथ दिया।

तात्या टोपे एक छलावा था। कभी वह कानपुर के नाना साहब का साथ देता था तो कभी रानी लक्ष्मीबाई का। कभी वह राव साहब का साथ देता था तो कभी बानपुर राजा मर्दन सिंह का। कभी वह जिगनी की नन्ही रानी की मदद करता था, तो कभी जैतपुर की रजोरानी की। कभी बाँदा के नवाब अलीबहादुर द्वितीय का तो कभी शहजादे फिरोजशाह का। कभी नरवर के मानसिंह का साथ देता था तो कभी निमाड़ के भील नेताओं का। उसकी गति अत्यधिक तेज थी। वह रोजाना 50 मील आगे चलता था, उसका पीछा करने वाली ब्रिटिश सेना मात्र 40 मील तक ही उसका पीछा कर पाती थी। माल्सन ने इसी लिये कहा था 'तात्याटोपे की द्रुत गति देख कर मैं यह दावे से कह सकता हूँ कि विश्व के किसी भी देश की सेनायें उसका मुकाबला नहीं कर सकती।'[1]

18 जनवरी 1859 के टाइम्स समाचार पत्र में लिखा था 'तात्या टोपे सर्वव्यापी मालूम होता है। लगभग आधा दर्जन फौजी दस्ते उसके पीछे पड़े हुये थे, किन्तु उनके बीच से ही खिसक जाने की वह व्यवस्था कर लेता था।'[2] एक ओर ब्रिटिश सरकार ने कसम खाई थी कि वे तात्या टोपे को पकड़ कर ही दम लेंगे, दूसरी ओर तात्या टोपे ने उन्हें चुनोती दे रहा था कि तात्या को पकड़ना मुश्किल ही नहीं मुमकिन है। ब्रिटिश सरकार ने तात्या को पकड़ने के लिये एक से बढ़कर एक सेनापति नियुक्त किये। प्रत्येक सेनापति फील्ड का चार्ज लेते ही गर्व के साथ यह कहता था कि वह तात्या टोपे को पकड़ कर ही रहेगा।[3] कुछ ही दिन में उसका यह गर्व तात्या टोपे द्वारा तोड़ दिया जाता था। शिकार के पीछे लगे शिकारियों के बीच तात्या पूर्णतः सुरक्षित निकल भागता था। माल्सन का कहना था कि उसका बचकर निकल जाना किसी चमत्कार से कम नहीं था। टाइम्स ने अपने 20 जनवरी के संस्करण में लिखा था 'अंग्रेजों को यह सूचना मिलती थी कि वह आज फलाँ स्थान पर है, जब वह वहाँ पहुँचते थे तो पता चलता था कि वह और अधिक दूरवर्ती स्थान पर पहुँच गया। वे उसकी तुलना झील

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 118-130*

में तैर रही उस बतख से करते थे जो अचानक गोता लगाती है और उस समय एवं उस स्थान पर अपना सिर बाहर निकालती है जहॉ कि उसकी संभावना ही नहीं होती।[4] इसीलिये सिल्वेस्टर ने तात्या टोपे की तुलना राबिन हुड से की है।[5]

तात्या टोपे यह भलीभांति जानते थे कि वे एक छोटी सी सेना को साथ लेकर विशाल अंग्रेज सेना को आमने-सामने के युद्ध में परास्त नहीं कर सकते। इसीलिए उन्होंने छापामार युद्ध पद्धति (गुरिल्ला युद्ध) का सहारा लिया। वह ब्रिटिश सेना पर अचानक आक्रमण करके फरार हो जाते थे। इसी पद्धति द्वारा वह विश्वविख्यात अंग्रेज सेनानायकों को खिजाते रहे। यह बात तो अंग्रेजों ने भी स्वीकार की कि युद्ध कला के इतिहास में मुश्किल से ही कोई तात्या टोपे की समानता का व्यक्ति होगा। ब्रिटिश इतिहासकार पर्सी क्रास स्टेडिंग ने अपनी पुस्तक 'गुरिल्ला लीडर्स आफ द वर्ल्ड' में इसीलिये उल्लेख किया है कि, 'तात्याटोपे विश्व के सर्वश्रेष्ठ गुरिल्ला सेना नायकों में से एक थे। हिन्दुस्तानियों के विद्रोह के दौरान जो भी नेता सामने आये वह उनमें हर तरह से श्रेष्ठ था। --यदि उनके समान एक-दो हिन्दुस्तानी सेनानायक और होते तो इसमे कोई शक नहीं कि हिंदुस्तान अंग्रेजों के हाथ से उसी दौरान निकल गया होता।[6] जार्ज फारेस्ट ने तात्या को 'सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीय नेता' कहा। कर्नल मालसन ने भी कहा 'भारत में संकट के उस क्षण में जितने भी सैनिक नेता उत्पन्न हुए, तात्या टोपे उनमें सर्वेश्रेष्ठ थे। चलिये अब हम जानें कि आखिर यह तात्या टोपे कौन थे, जिनकी उनके प्रबल विरोधी भी तारीफ किये बिना नहीं थकते।

आरंभिक जीवन :

तात्या टोपे का वास्तविक नाम रामचंद्र पांडुरंग येवालकर था। उनके पूर्वज एवं परिवार मूलतः नासिक के निकट पटौदा जिले के एक छोटे से गॉव येवाले में रहता था। इसीलिए उनके नाम के आगे येवालकर लगा। फॉसी के पूर्व अप्रैल 1859 में दिये गये अपने बयान में इन्होंने अपनी उम्र 45 वर्ष बताई थी, इस हिसाब से उनका जन्म 1813/1814 में हुआ होगा। उनके पिता का नाम पांडुरंग भट्ट एवं माता का नाम रुक्माबाई था। मराठी में पुरोहिती करने वाले पंडित को 'भट्ट कहा जाता है। पांडुरंग भट्ट वैदिक साहित्य एवं धर्मशास्त्र के विख्यात कर्मकाण्डी पंडित थे। तात्या शब्द संस्कृत के तात् शब्द का अपभ्रंश लगता है। संस्कृत में तात शब्द अपने से आयु में बड़े एवं कभी-कभी छोटों के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है। रामचंद्र का छोटा भाई गंगाधर अपने बड़े भाई रामचंद्र को तात्या कहकर बुलाता था। इसीलिये उनका नाम तात्या पड़ गया। तात्या के बारे में अधिक जानकारी का स्त्रोत उनके सौतेले भाई रामकृष्ण के उस बयान से एकत्रित किये गये हैं जो उन्होंने 1862 में बड़ोदा के सहायक रेजीडेन्ट के समक्ष दिया था।[7] उनके बयान के अनुसार तात्या अपने पिता की 12 संतानों में से दूसरे क्रम के थे। उनका एक सगा एवं छः सौतेले भाई थे। इस प्रकार उनके कुल सात भाई एवं चार बहने थीं।

तात्या के पिता पांडुरंग भट्ट एक देशस्थ ब्राह्मण थे। वह एक अच्छी नौकरी की तलाश में परिवार सहित पूना चले गये। प्रसिद्ध दरवारी त्र्यम्बक जी देंगाले ने पेशवा वाजीराव द्वितीय को उनकी विद्वता के बारे में बताते हुये पांडुरंग को अपनी सेवा में रखने का पेशवा से अनुरोध किया! पेशवा ने उनकी विद्वता का आदर करते हुये पांडुरंग को महल के पुजारी के रूप में नियुक्ति प्रदान कर दी।

तृतीय आँग्ल मराठा युद्ध में पराजय के उपरांत जब पेशवा बाजीराव द्वितीय कानपुर के पास बिठूर आये तब उनके साथ पांडुरंग भी सपरिवार विठूर आ गये। यहाँ पर पांडुरंग को पेशवा के धर्म विभाग का अध्यक्ष बनाया गया। उनकी देख रेख में ही यज्ञ शाला का निर्माण किया गया। इसके साथ ही धीरे धीरे पांडुरंग गृह विभाग के पर्यवेक्षक की स्थिति तक पहुँच गये। विठूर में ही तात्या को पेशवा के गोद लिये पुत्र नाना साहब के

साथ-साथ रानी लक्ष्मीबाई, बाला साहब व राव साहब का सानिध्य मिला। उनके साथ ही तात्या का लालन-पालन हुआ। इन्ही के साथ तात्या ने घुड़सवारी एवं शस्त्र संचालन की शिक्षा प्राप्त की। इसी दौरान तात्या एवं नाना साहब के मध्य घनिष्ट मित्रता की नींव पड़ी।

तात्या का नाम तात्या टोपे कैसे पड़ा ? हुआ यह कि एक बार एक कर्मचारी के विश्वासघात संबंधी योजना का पता तात्या ने लगाया। बाजीराव द्वितीय तात्या की इस योग्यता, तत्परता एवं चातुर्य से अत्यंत प्रभावित हुये। उन्होंने एक विशेष दरवार में तात्या को 9 हीरों से जड़ी एक टोपी इनाम में दी। दरबार में उपस्थित लोगों ने इसकी तात्या टोपी के नाम से जय जय कार की। इसी से बाद में उनका नाम तात्या टोपे पड़ गया।

1851 में पेशवा वाजीराव द्वितीय की मृत्यु के उपरांत नाना साहब विठूर के राजा बने। तात्या उनके प्रधान लिपिक बने। वे मुसाहिब के रूप में प्रसिद्ध हो गये। पेशवा की मृत्यु के उपरांत नाना साहब को ब्रिटिश सरकार द्वारा पेंशन नहीं दी गई। नाना साहब को अपने पिता की मुद्रा का उपयोग करने पर रोक लगा दी गई। इस प्रकार नाना साहब की स्थित एक साधारण नागरिक जैसी कर दी गई।

10 मई को मेरठ में 1857 की क्रांति आरंभ हो गई। 31 मई को शाहजहाँपुर, मुरादाबाद, बरेली एवं लखनउ में क्रांति आरंभ हो गई। कानपुर में भी क्रांति की आशंका को देखते हुए कानपुर के कलेक्टर हिलडर्सन ने नाना साहब से सहायता की याचना की। नाना साहब के अंग्रेजों से मित्रवत संबंध थे। हिलडर्सन के आग्रह पर 22 मई को नाना साहब एवं तात्या टोपे अपने 300 सशस्त्र सेनिकों एवं 2 तोपों के साथ कानपुर पहुँच गये। अंग्रेजों ने तात्या टोपे को अपने शस्त्रगार एवं कोषालय की रक्षा का प्रभारी बनाया।

23 मई को अंग्रेजों ने सुरक्षा की दृष्टि से एक कच्चे दुर्ग में शरण ली। चारों ओर मिट्टी की एक कच्ची दीवार बनवाई। अजीमुल्ला खाँ ने इसे 'निराशा का दुर्ग' कहा था। 4 जून को दूसरी घुड़सवार सेना ने क्रांति आरंभ कर दी। पहली पैदल सेना एवं 56वीं कंपनी ने भी उनका साथ दिया। सभी अंग्रेज निराशा के दुर्ग में छुपे हुये थे। क्रांतिकारियों ने नाना साहब से क्रांति का नेतृत्व संभालने का अनुरोध किया जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। शहर में डुग्गी पिटवाई गई - 'खलक खुदा का, मुलक बादशाह का अमल नाना साहब का' इस तरह कानपुर में नाना साहब का शासन स्थापित हो गया। नाना साहब ने न्याय विभाग स्थापित किया। हुलासराय को मजिस्ट्रेट, अजीमुला खॉ एवं ज्वाला प्रसाद को न्यायाधीश एवं बाबा भट्ट को न्याय विभाग का प्रधान बनाया। सूबेदार टिक्का सिंह को दूसरी रिसाला का जर्नल बनाया गया। जमादार दुर्गजन सिंह एवं गंगादीन को क्रमशः 53वीं वं 56वीं पैदल सेना का कर्नल बनाया गया। सेना को संगठित करने की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी तात्या टोपे को सौंपी गई। अंग्रेजों का कोषालय एवं शस्त्रागार उनके कब्जे में था ही अतः धन एवं अस्त्र शस्त्रों की कमी का कोई प्रश्न ही नहीं था।

नाना साहब एवं तात्या टोपे ने अंग्रेजों की आंख में धूल झोंकने बावत, उन्हें यह बताया कि मजबूरी वश नाना साहब को क्रांति का नेतृत्व संभालना पड़ा। कहा गया कि क्रांतिकारी उनके पास पहुँचे और कहा ''महाराज साम्राज्य आपका इन्तजार कर रहा है अगर आप हमारे साथ मिल जाते हैं तो ठीक, अन्यथा यदि आप हमारे दुश्मन का साथ निभायेंगे तो आपको मौत नसीब होगी।'' तात्या ने भी यही बयान दिया कि सिपाहियों ने मृत्यु का भय दिखा कर नाना साहब को अपना साथ देने एवं नेतृत्व करने के लिये मजबूर किया था।[8]

6 जून से 25 जून तक अंग्रेजों की तात्या के नेतृत्व में घेराबंदी की गई। दोनों ओर से भारी गोलाबारी की गई। 25 जून को व्हीलर ने आत्म समर्पण कर दिया और नाना साहब से, उन्हें सुरक्षित इलाहाबाद भेजने की अपील की। बदले में खजाना एवं तोपें नाना साहब को सौंप दीं। नाना साहब ने तात्या टोपे एवं अजीमुल्ला की

देख-रेख में इन्हें सती चौरा घाट से 40 नावों द्वारा इलाहाबाद भेजने की जिम्मेदारी सौंपी। परिस्थितियाँ ऐसी बनी कि 27 जून को सतीचौरा हत्याकांड घटित हो गया। इसमे कई अंग्रेज मारे गये। मात्र 200 बाकी बचे, जिनमे अधिकांशतः औरते एवं बच्चे थे। इन्हें बीबीघर में रखा गया। 17 जुलाई को बीबीघर कत्लेआम में यह भी मारे गये। इनके शव एक कुए में डाल दिये गये। वर्तमान में यहॉ तात्या टोपे की मूर्ति लगी हुई है।

1 जुलाई को विठूर में नाना साहब का राज्याभिषेक हुआ। विजय उत्सव मनाया गया। नाना साहब को पता चला कि ब्रिगेडियर नील एवं जनरल हैवलाक एक बड़ी सेना लेकर कानपुर आ रहे हैं। नाना साहब ने अपने सेनाध्यक्ष तात्या टोपे को उनसे युद्ध हेतु भेजा। तात्या टोपे ने अत्यंत बहादुरी के साथ युद्ध किया। तात्या टोपे की व्यूहरचना, सैन्य संगठन क्षमता एवं सैन्य सज्जा देख कर हैवलाक भी हतप्रभ रह गया। इसके बावजूद भी इस भयंकर युद्ध में अन्ततः अंग्रेजों को ही विजय प्राप्त हुई। कानपुर पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

विठूर पर आसन्न खतरे को देखते हुए नाना साहब, उनके भाईयों एवं तात्या टोपे आदि सभी ने अपने परिवारों सहित रात के अंधेरे में 18 जुलाई 1858 को विठूर छोड़ दिया। गंगा नदी को पार कर उन्होंने फतेहगढ़ चौरासी में चौधरी भोपालसिंह के यहाँ शरण ली। इनका सन्देह सही निकला और दूरदर्शितापूर्ण निर्णय उस समय सही साबित हुआ, जब 18 जुलाई को ही मेजर स्टीबेंशन ने विठूर प्रस्थान किया। बिठूर में पेशवा के महल पर कब्जा कर लिया।

कानपुर एवं बिठूर की पराजय के पश्चात तात्या टोपे को एक नये सामरिक महत्व के मुख्यालय की तलाश थी। इस हेतु तात्या टोपे ने कालपी को चुना। कालपी कानपुर से लगभग 80 कि.मी. की दूरी पर यमुना नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है। यहाँ का दुर्ग अत्यंत मजबूत एवं सामरिक महत्व का था। तीन ओर से किले की सुदृढ़ दीवारों से घिरा और चौथी ओर गहरी यमुना नदी होने के कारण तात्या टोपे ने कालपी को सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना। तात्या टोपे ने कालपी को अपनी शक्ति एवं संगठन का केन्द्र बनाया। कालपी के किले में अंग्रेजों की सेना रहती थी। यह सेना भी तात्या टोपे के साथ हो गई। कानपुर की हार के उपरांत जो सैनिक इधर-उधर हो गये थे उन्हें भी तात्या ने कालपी बुलवा लिया। तात्या टोपे ने क्रांति के समर्थक सभी राजाओं एवं नवाबो को कालपी आने का संदेश भेजा। तात्या टोपे ने कालपी में, तम्बुओं एवं झोपड़ियों में हथियार आदि सैन्य सामग्री बनाने वाली छोटी-छोटी फैक्ट्रीया स्थापित की। जब नाना साहब को इसकी जानकारी मिली तो वह भी पेशवा का मुख्यालय कालपी में स्थानांतरित करने के लिये सहमत हो गये। अपने प्रतिनिधी के रुप में नाना साहब ने राव साहब को कालपी भेज दिया।

तात्या टोपे अब ग्वालियर के सिंधिया से सैन्य सहायता लेने गया। सिंधिया अंग्रेजों का मित्र था फिर भी मराठा होने के कारण तात्या को विश्वास था कि वहां से उसे मदद मिलेगी। विष्णु भट्ट गोडशे उस समय ग्वालियर में ही था उसने अपनी पुस्तक माझा प्रवास में लिखा है, 'मैंने बाजार में तात्या टोपे को देखा। मुरार की छावनी में उसने चार पल्टनों को अपने पक्ष में मिला लिया था। फिर उसने सिंधिया सरकार से कहा कि मैं इतने दिन तुम्हारे यहाँ रहा, परंतु तुम्हारे शहर या देश को जरा भी नुकसान नहीं पहुँचाया, इसलिये तुम्हारे लिये यह उचित होगा कि मुझे गाड़ियां, घोड़े, ऊँट इत्यादि सब तैयार करके दो। तात्या टोपे का अभिप्राय समझ कर जीयाजी राव सिंधिया एवं दिनकर राव मुरार छावनी में उनसे मिलने गए। वहां भेंट होने पर सिंधिया महाराज ने कहा कि जो कुछ तुम चाहते हो, वह मैं दूँगा, परंतु मेरे देश 'राज्य' को जरा भी नुकसान न पहुँचाते हुये तुम यहां से चले जाओ। यह निश्चिय हो जाने के बाद उन्होंने तात्या टोपे का पान-सुपारी, इत्र-गुलाब आदि से सत्कार किया। दूसरे दिन सिंधिया ने गाड़ियाँ, घोड़े, हाथी, ऊँट, बैल, खच्चर इत्यादि देकर तात्या टोपे को विदा किया और इस प्रकार ग्वालियर का विघ्न टला। इसके साथ ही विष्णु भट्ट गोडशे यह भी बताते हैं कि तात्या टोपे

ग्वालियर से मुरार छावनी की पल्टन एवं जहरीले तोप के गोले भी अपने साथ ले गया। रास्ते में गुरसराय के राजा केशव राव को भी परास्त कर उसका खजाना तात्या टोपे अपने साथ ले गया।[9] इस तरह तात्या काफी मात्रा में गोला-बारुद, घोड़ा-गाड़ी, धन-सम्पत्ति एवं सैनिक लेकर कालपी पहुँचे थे। तात्या के अनुरोध पर बाँदा के नवाब सहित कुछ अन्य राजा एवं नवाब भी, कालपी पहुँच चुके थे। तात्या टोपे ने कालपी के समस्त यमुना घाटों पर पहरेदार रखे। गुप्तचरों की नियुक्ति कर गुप्त सूचना तंत्र को सशक्त बनाया। तात्या टोपे की उक्त महत्वपूर्ण एवं सामरिक तैयारी का एक मात्र उद्देश्य कानपुर को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त कराना था।

अंग्रेजों के समक्ष इस समय दो लक्ष्य थे, एक लखनऊ में अंग्रेज स्त्री-पुरुषों को मुक्त कराना, दूसरा कानपुर की तात्या के संभावित आक्रमण से रक्षा करना। ब्रिटिश सरकार को लखनऊ एवं कानपुर की रक्षा करने के लिये एक योग्य सेनानायक की तलाश थी। उनका ध्यान योग्य, अनुभवी एवं श्रेष्ठ सेनानायक कॉलिन कैम्पबेल की ओर गया। उसे 50 वर्ष का सामरिक अनुभव था। उसे क्रीमिया युद्ध से वापस बुलाकर भारतीय फौज की कमान सौंप दी गई। 3 नवम्बर 1857 को वह कानपुर पहुँचा। भारत आते ही वह द्वन्द्व की स्थिति में आ गया। उसके सामने दो कार्य थे- एक लखनऊ को क्रांतिकारियों से मुक्त कराये या फिर तात्या टोपे के संभावित आक्रमण से कानपुर की रक्षा करे। मेजर विढ़म ने भी क्रीमिया युद्ध में शौर्य दिखाया था। इसीलिये कानपुर की रक्षा का भार मेंजर विढ़म को सौंप कर कैम्पवेल लखनऊ में अंग्रेज साथियों की रक्षार्थ चला गया।[10] माल्सन ने लिखा है कि कैम्पवेल का निर्णय सही था। लखनऊ में जहाॅं अंग्रेज सैनिकों, उनकी स्त्रियों की प्रतिष्ठा दॉव पर थी, उनकी सहायता अधिक आवश्यक थी।[11]

तात्या टोपे चाहता था कि लखनऊ में सफलता प्राप्त कर कैम्पवेल के कानपुर आने के पहले ही विढ़म को परास्त कर कानपुर पर अधिकार कर लिया जावे। उधर विढ़म ने सोचा कि तात्या टोपे के सहयोग के लिये अन्य राजे-रजवाड़े आयें उसके पूर्व ही उसे परास्त किया जावे। 17 नवम्बर को विढ़म ने इसी योजना के तहत कानुपर से कूच किया। 26 नवम्बर को उसने तात्या की सेना को हरा दिया। वस्तुतः यह उसकी भूल थी। उसने तात्या की छोटी सी टुकड़ी को परास्त किया था। बाकी एवं एक बड़ी सेना तो अभी मोर्च पर आयी ही नहीं थी। माल्सन ने इसीलिये लिखा है - 'विद्रोहियों का सेना नायक तात्या टोपे मूर्ख नहीं था। विढ़म द्वारा किये गये प्रहार से वह भयभीत नहीं हुआ, अपितु उसे अंग्रेज सेना नायक की कमजोरियों का पता चला गया। तात्या ने तब विढ़म की मोर्चाबन्दी प्रणाली का खुली किताब के समान अध्ययन कर लिया। एक अच्छे सेना नायक के गुणों का परिचय देते हुये उसकी कमजोरियों का लाभ उठाने का संकल्प लिया।'[12] इसका लाभ उठा कर दूसरे ही दिन तात्या टोपे ने पूरी ताकत से अपनी समस्त सेना के साथ मेजर विढ़म को चारों खाने चित कर दिया। विढ़म ने अपनी कुछ सेना सहित भाग कर अपनी जान बचाई। हारे हुये फिरंगी बलबलाते ऊॅंटो, हाथियों एवं घोड़ों के बीच से भागकर खाइयों में छिप गये और जान बचाकर भागे।[13] मालसन ने तात्या की इस सफलता की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि, 'वह नैसर्गिक महान प्रतिभा वाला व्यक्ति था।[14]

तात्या टोपे ने गंगा नदी का पुल पार कर कानपुर में प्रवेश किया। उसने गंगा के घाटों पर सैनिक चौकियाँ स्थापित की। तात्या टोपे ने कानपुर पर अधिकार तो कर लिया। मगर एक भारी भूल कर दी। उसे इस पुल को तोपों से उड़ा देना चाहिये था क्योंकि कैम्पवेल, कानपुर इसी पुल द्वारा आ सकता था। हुआ भी वही कानपुर पर तात्या के अधिकार की सूचना पाते ही कैम्पवेल लखनऊ से कानपुर रवाना हुआ। कैम्पवेल को बस यह चिन्ता थी कि कहीं पुल को तात्या ने तोपों से उड़ा न दिया हो। पुल को सुरक्षित देख कर उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। कैम्पवेल की सेना एवं तात्या की सेना के मध्य समस्त कानपुर में घमासान युद्ध हुआ। कैम्पवेल तात्या टोपे के रण कौशल को देख कर चकित रह गया। कैम्पवेल की सेना एनफील्ड नामक नई बन्दूकों से लैस

थी, तात्या की सेना पुरानी बन्दूकों का उपयोग करते हुये युद्धरत थी। अतः जीत कैम्पवेल को मिली। तात्या टोपे को भागना पड़ा। 6 दिसम्बर 1857 को कानपुर पर पूर्णतः अंग्रेजों का अधिकार हो गया। कानपुर के निवासियों पर भारी पाशविक जुल्म ढाये गये।

अब तात्या टोपे ने अपना ध्यान बुन्देलखण्ड में केन्द्रित किया। झाँसी के निकट एक छोटी सी रियासत चरखारी थी। यहॉ का राजा रतनसिंह अत्यंत चालाक, झूठा एवं अंग्रेजों का मित्र था। 1842 के बुन्देला विद्रोह का नायक जैतपुर का राजा पारीछत रतनसिंह का काका था। रतनसिंह ने राजा पारीछत को पकड़कर अंग्रेजों के हवाले करने का प्रयास किया था, मगर सफलता नहीं मिली। पारीछत की रानी ने अपने दीवान देशपत बुंदेला के साथ जैतपुर पर 1857 में कब्जा कर लिया था। रतनसिंह ने जैतपुर को इनसे मुक्त कराया। तात्या टोपे ने जब कालपी को मुख्यालय बनाया था तब रतनसिंह ने उसका साथ देने का आश्वासन दिया था। यह आश्वासन झूठा साबित हुआ। वह अभी भी अंग्रेजों का सहयोग कर रहा था। उसने महोबा के कलेक्टर कार्नो को अपने महल में छुपा रखा था। तात्या टोपे इससे अत्यंत नाराज हुआ। उसने चरखारी पर आक्रमण कर दिया। इस समय ह्यूरोज सागर, गढ़ाकोटा एवं बानपुर पर अधिकार करने के उपरांत झाँसी को रानी लक्ष्मीबाई से मुक्त कराने झॉसी जा रहा था। गवर्नर जनरल ने ह्यूरोज को पत्र भेज कर आग्रह किया कि वह चरखारी के राजा रतनसिंह की तात्या टोपे के आक्रमण से रक्षा करे।[15]

तात्या टोपे भी यही चाहता था कि ह्यूरोज का ध्यान झॉसी से हटाकर चरखारी पर केन्द्रित किया जावे ताकि रानी लक्ष्मीबाई को झाँसी में तैयारी का मौका मिल जाये। दूसरी ओर ब्रिटिश सेना दो मोर्चो में बट जाये एक चरखारी में दूसरी झाँसी में, इससे तात्या टोपे एवं रानी लक्ष्मीबाई दोनों अंग्रेजों की आधी-आधी सेना को परास्त कर सकें।

गवर्नर जनरल के पत्र ने ह्यूरोज को असंमजस में डाल दिया। जब यह पत्र मिले उस समय झाँसी मात्र 14 मील बची थी एवं चरखारी वहाँ से 80 मील दूर थी। ह्यूरोज ने विचार किया कि जब तक मैं चरखारी बचाने जाऊँगा तब तक तात्या चरखारी राजा रतनसिंह को हरा चुका होगा। मेरा वहाँ जाना व्यर्थ होगा। अतः उसने गवर्नर जनरल का आदेश न मान कर झाँसी पर ही आक्रमण करना उचित समझा।[16] इस प्रकार ह्यूरोज, तात्या टोपे से अधिक समझदार एवं दूरदर्शी साबित हुआ। ह्यूरोज का सोचना था कि झाँसी पर आक्रमण की खबर सुनकर तात्या झाँसी की रानी की सहायता हेतु अवश्य आयेगा और इस तरह अंग्रेजों के मित्र चरखारी राजा रतनसिंह पर तात्या टोपे का दबाव अपने आप कम हो जावेगा।

तात्या टोपे ने चरखारी पर आक्रमण कर रतनसिंह को परास्त कर उसे संधि करने मजबूर किया। 9 मार्च 1858 को रतनसिंह ने तात्या को पत्र लिखा कि वह आकर दण्ड की राशि ले जायें तथा बाद में किसी तरह की तकरार न करें। जवाब में राव साहब ने रतनसिंह को नाना साहब की ओर से लिखा।

'श्री गंगा तुलसी इस्ट की मान लिख दई श्री महराजा धिराज श्री महाराज श्री राजा रतनसिंह बहादुर जूदेव को एते श्रीमंत राजे नाना साहब पेशवा साहब बहादुर जू की तरफ से राजमान राजे तांतिया साहब रामचंद पांडुरंगजी वा श्री सूबेदार बहादुर छतासिंह जू वा श्री सूबेदार बहादुर रध्यासिंह जू वा श्री सूबेदार बहादुर समशेर खाँ श्री सूबेदार बहादुर गुरराज जू वा सब सूबेदारान वा सिपाहियान ने आपर हमारे अपने मामले के ठहरे रुपैया श्री नगदी तीन लाख अंकन 3,00,000 रु. सो हम दाम दाम के भर पाये। अब हम फौज समेत कूच करे जात है और हमारी तरफ से कौनहूबात की तकरार न हुई अब जे पलटन आगे ते तकरार न करहें छोड़छाड़ कौन हूँ बात की न करहैगे ताके दरम्यान श्री जू।

चैत्रबदी .....स. 1914'

इस प्रकार राव साहब ने इस पत्र द्वारा रतनसिंह को कहा कि हमारी ओर से तात्या टोपे के साथ यह सूबेदार आ रहे है। इन्हें तीन लाख रुपया दे देना। हम आप से भविष्य में कोई तकरार कहीं करेंगे। इस प्रकार तात्या टोपे ने मार्च 1858 में रतनसिंह से 3 लाख रुपये एवं 24 बन्दूकें प्राप्त की। चरखारी पर विजयस्वरुप तात्या टोपे की जीत को 21 तोपों की सलामी दी गई।

23 मार्च 1858 को ह्यूरोज एवं रानी लक्ष्मीबाई के मध्य युद्ध आरंभ हो गया। रावसाहब ने तात्या टोपे को चरखारी से कालपी बुलाकर रानी लक्ष्मीबाई की सहायता के लिये सेना सहित झांसी रवाना किया। तात्या टोपे 28 तोपों तथा 22 हजार सैनिकों के साथ रानी की सहायता के लिये बढ़ा। उसके साथ शाहगढ़ राजा बखतवली, बानपुर राजा मर्दनसिंह भी अपनी सेना सहित थे। 31 मार्च को तात्या की सेना ने राजपुर घाट से बेतवा नदी पार की। आग जलाकर रानी को अपने आने की सूचना दी। ह्यूरोज की व्यूह रचना के तहत दायीं ओर से हैदराबाद की घुड़सवार सेना ने क्लार्क के नेतृत्व में, मध्य में बम्बई की पैदल सेना ने, वायीं ओर से कैप्टन लाइट फुट के नेतृत्व में तात्या की सेना पर तीन ओर से बेतवा पार करते ही आक्रमण कर दिया। इस अचानक एवं अप्रत्याशित आक्रमण से तात्या की सेना में भगदड़ मच गई। तात्या ने जंगल में आग लगा दी एवं धुयें की आढ़ में वह भाण्डेर की ओर भाग गया। बखतवली एवं मर्दनसिंह मऊ की ओर भाग गये। तात्या टोपे के भाग जाने पर उसकी 18 तोपे एवं गोलाबारुद अंग्रेजों के हाथ आ गई। ह्यूरोज के यहाँ एक ओर चालाकी की। तात्या से युद्ध के साथ साथ झॉसी पर भी गोलाबारी जारी रखी ताकि रानी को यह पता न चले कि एक बड़ी अंग्रेज सेना तात्या से लड़ने गई है। यह चाल सफल रही रानी इन्हीं से उलझी रही। इस प्रकार तात्या टोपे रानी की मदद तो नहीं कर पाये, उलटे उन्होंने अप्रत्यक्ष रुप से अंग्रेजों की मदद की। रानी से लड़ते हुये अंग्रेजों के पास गोला बारुद की कमी हो गई थी। तात्या के भागने पर उसकी तोपें एवं गोला बारुद अंग्रेजों को मिल गये। यह झाँसी का किला फलेह करने में अंग्रेजों के कॉफी काम आये।[18] यहाँ तात्याटोपे एवं रानी लक्ष्मीबाई दोनों ने ही दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। तात्या को चाहिये था कि वह अपनी पूरी शक्ति से युद्ध करे। उधर जब रानी को पता चल गया था कि तात्या की सेना मदद करने आ गई है तो उसे शीघ्र ही किले से निकल कर सेना सहित ह्यूरोज पर आक्रमण करना था। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सेना को दोनों ओर से घेरकर परास्त किया जा सकता था।

3 अप्रैल 1858 को झांसी पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेज सेना की आँख में धूल झोकते हुये रात के अंधेरे में झांसी से भाग निकली। वह भी कालपी पहुँच गई। लखनऊ, कानपुर एवं झांसी पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया था। पेशवा का मुख्यालय कालपी अभी भी अविजित था। राव साहब, तात्या टोपे, बॉदा नवाब अलीबहादुर द्वितीय कालपी में ही थे। झाँसी की रानी भी यहीं आ गई। कालपी में सभी राजनीतिक एवं प्रशासनिक अधिकार नाना साहब के भतीजे राव साहब के हाथ में केन्द्रित थे। राव साहब का वास्तविक नाम पांडुरंग सदाशिव था। उधर झाँसी की व्यवस्था करने के उपरांत ह्यूरोज कालपी की ओर बढ़ा। उसे डर था कि कही तात्या कानपुर पर पुनः आक्रमण न कर दे। तात्या टोपे ने ह्यूरोज की सेना को कालपी आने से रोकने के लिये वहॉ से 42 मील दूर कोंच में मोर्चाबन्दी की थी। 7 मई 1858 को ह्यूरोज ने कोंच पर आक्रमण किया। यहां घमासान युद्ध हुआ। सिलवेस्टर ने क्रांतिकारियों की प्रशंसा करते हुये लिखा है- ‘उन्होंने हमारे घोड़ो और सैनिकों, जब तक उनमें से एक भी आदमी जिन्दा रहा, मारा काटा और चीर कर रख दिया।[19] इतनी बहादुरी से युद्ध करने के बावजूद भी भारतीय परास्त हो गये और वापस कालपी पहुँच गये। कोंच में क्रांतिकारियों की पराजय का एक कारण यह भी था कि राव साहब ने तात्या टोपे एवं रानी लक्ष्मीबाई के अनुभव

सिद्ध सुझावों को न मानकर अपनी-अपनी चलाई।[20] कोंच की पराजय के पश्चात तात्या टोपे जालौन से 4 मील दूर अपने माता पिता से मिलने चुरखी चले गये। वहीं से वह ग्वालियर भी गये। ग्वालियर का नायक कोतवाल विठूर का था। तात्या टोपे का दामाद भी वहीं रहता था। इनसे तात्या टोपे को पता चला कि सिंधिया की सेना में विद्रोह पनप रहा है। तात्या ने इन्हें आवश्यकता पड़ने पर क्रांतिकारियों का पक्ष लेने हेतु तैयार किया।

कालपी का युद्ध :

कोंच की पराजय के पश्चात सभी क्रांतिकारी नेता कालपी में एकत्रित हो गये। राव साहब, बाँदा नवाब अलीबहादुर द्वितीय, रानी लक्ष्मीबाई आदि सभी यहाँ थे। रानी लक्ष्मीबाई ने यहाँ से मर्दनसिंह एवं बखतबली को कालपी बुलाने पत्र भेजा, मगर मेजर ओर ने इन दोनों राजाओं को कालपी नहीं आने दिया। तात्या टोपे ग्वालियर सैन्य सहायता लाने गया था। उधर ह्यूरोज की सहायता के लिये कानपुर से मैक्सवैल के नेतृत्व में एक सेना आ गई। इस प्रकार एक ओर से ह्यूरोज एवं दूसरी ओर से मेक्स वैल ने कालपी के किले पर गोलाबारी आरंभ कर दी। एक बार पुनः घमासान युद्ध आरंभ हो गया। क्रांतिकारियों ने इस युद्ध में अत्यंत बहादुरी का परिचय दिया। भीषण गर्मी में क्रांतिकारियों ने अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये। अंग्रेजों की स्थिति अत्यंत नाजुक हो गई, इसी समय ब्रिगेडियर स्टुअर्ट एक सेना लेकर आ गया। उसके आजाने से पासा पलट गया। क्रांतिकारियों की पराजय होने लगी। इस परिस्थिति में रानी लक्ष्मीबाई, राव साहब एवं अलीबहादुर ने कालपी से भागना ही उचित समझा और वे भाग निकले।[21] भारी गर्मी के कारण ब्रिटिश सेना उनका अधिक दूर तक पीछा नहीं कर सकी। 24 मई 1858 को कालपी के किले पर यूनियन जैक फहराया गया। इसी दिन इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया का 39वाँ जन्मदिन था, जो पूरी धूमधाम से मनाया गया।[22]

अब समस्त क्रांतिकारियों ने अत्यधिक विचार विमर्श उपरांत ग्वालियर जाने का निश्चय किया। वे ग्वालियर रवाना हुये। गोपालपुर में तात्या टोपे भी उनसे आ मिला। इन सभी क्रांतिकारियों के पास 4000 घुड़सवार सेना, 7000 पैदल एवं 12 तोपें थीं। इन्होंने 30 मई को ग्वालियर से 6 मील दूर बड़ा गाँव में पड़ाव डाला। राव साहब ने अपने आगमन एवं सहयोग की सूचना ग्वालियर भिजवायी। ग्वालियर का राजा जयाजीराव सिंधिया इन हारे हुए घोड़ों पर बाजी नहीं लगाना चाहता था। उसने इनके स्वागत के स्थान पर इनसे लड़ने के लिये अपनी सेना भेज दी। तात्या टोपे पहले ही इस फौज को अपने साथ कर चुका था। अतः इस सेना ने क्रांतिकारियों की सेना से युद्ध करने के स्थान पर उन्हें गले लगा लिया। सारा माजरा एवं वक्त की नजाकत को देखते हुये जयाजीराव अपने मंत्री दिनकर राव के साथ आगरा भाग गया। बैजाबाई के नेतृत्व में रानियों ने नरवर के किले में शरण ली।

1 जून 1858 को क्रांतिकारियों ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। नाना साहब को पेशवा घोषित किया गया। राव साहब ने तड़क भड़क वाली पोशाक धारण की उन्हें पेशवा का प्रतिनिधी नियुक्त किया। राव साहब ने भव्य दरबार का आयोजन कर आनन्दोत्सव मनाया। रानी लक्ष्मीबाई इसके पक्ष में नहीं थी। उसका कहना था कि दरबार एवं शानशौकत में समय बर्बाद करना मूर्खता है। अंग्रेज चुप नहीं बैठेंगे वे ग्वालियर पर भी धावा बोलेंगे। अतः हमें अंग्रेजो के आगमन के पहले अपनी सेना एवं सामरिक स्थिति को मजबूत करना चाहिये। रानी की बात पर राव साहब ने ध्यान नहीं दिया।

ह्यूरोज को रावर्टसन ने समाचार दिया कि ग्वालियर पर क्रांतिकारियों का कब्जा हो गया है। ह्यूरोज जानता था कि ग्वालियर की सेना के साथ मिलते ही क्रांतिकारियों की सैन्य स्थिति अत्यंत मजबूत हो गई होगी। ग्वालियर का किला सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है अतः उस पर अधिकार करना अत्यंत ही आवश्यक

है। ह्यूरोज ने रावर्टसन एवं स्टुअर्ट को सेना सहित तुरन्त ग्वालियर रवाना किया। 3 जून 1858 को वे मुरार आ गये। मेजर ओर, ब्रिगेडियर स्मिथ, कर्नल रिडेल सहित स्वयं ह्यूरोज भी ग्वालियर पहुँच गया। 16 जून तक नेपियर भी ग्वालियर पहुँच गया।

एक ओर राव साहब आनन्द रस में डूबे थे तो दूसरी ओर ह्यूरोज अपने एक से बढ़ कर एक सेना नायकों को ग्वालियर को चारों ओर से घेरने को बुला रहा था। मुरार छावनी पर ब्रिटिश कब्जा के समाचार पाते ही राव साहब एवं तात्या टोपे के होश उड़ गये। रानी लक्ष्मीबाई का अनुमान बिल्कुल ठीक निकला। मगर अब देर हो चुकी थी। रावसहाब पश्चाताप करने लगे। रानी से ऑख मिलाने की हिम्मत नहीं कर पा रहे थे। इन परिस्थितियों में तात्या टोपे ने रानी लक्ष्मीबाई से नेतृत्व संभालने हेतु कहा। कोटा की सराय में रानी लक्ष्मीबाई ने स्मिथ के नेतृत्व वाली फौज से घमासान युद्ध किया। रानी युद्ध में अत्यंत बहादुरी से लड़ी मगर उसी दौरान उसके बगल में एक गोली लगी एवं तलवार के वार से उसका आधा सिर कट गया। उसकी एक आँख बाहर आ गई। 17 जून 1850 को रानी का देहान्त हो गया। रानी का स्वामिभक्त सहायक रामचंद राव रानी को सीताराम बाबा की कुटियों में ले गया। वहीं उसका दाहसंस्कार कर दिया।

रानी की हार एवं मृत्यु ने ब्रिटिश सेना में एक नवीन उत्साह का संचार किया तो दूसरी ओर क्रांतिकारियों में घोर निराशा छा गई। 20 जून 1858 को अंग्रेजों ने ग्वालियर पर पुनः अधिकार कर लिया। एक दो दिन संघर्ष के उपरांत तात्या टोपे, बाँदा नवाब एवं राव साहब ग्वालियर से भाग निकले।

रानी लक्ष्मीबाई की मृत्यु के पश्चात दो प्रमुख घटनाक्रम घटित हुए।

1. ह्यूरोज ने सोचा कि उसका भारत आने का उद्‌देश्य पूर्ण हो गया है। वह थक भी चुका था, अतः उसने स्वास्थ्यगत कारणों से अपना कार्य-भार राबर्ट नेपियर को सौंप दिया।
2. 1857 की क्रांति के प्रायः प्रमुख नेताओं का किसी न किसी रूप में पतन हो गया। अब मात्र तात्या टोपे ही अंग्रेजो के लिये चुनौती बना हुआ था।

तात्या टोपे का संघर्ष :

तात्या टोपे को अब यह बात समझ में आ गई थी कि अब अंग्रेजो से आमने-सामने के युद्ध का कोई लाभ नहीं है। इसके लिये उसके पास कोई विशाल सेना भी नहीं थी। अतः उसने गुरिल्ला युद्ध प्रणाली (छापामार युद्ध प्रणाली) अपनाई। इस तरह तात्या टोपे की अब नीति थी - 'हमला करो और भाग लो।' 22 जून 1858 को इन क्रांतिकारियों को जौरा अलीपुर के युद्ध में अंग्रेजों ने परास्त कर भागने पर मजबूर कर दिया था। इस पराजय के उपरांत तात्या टोपे, राव साहब एवं अलीबहादुर चंबल नदी पार कर जयपुर के लिये रवाना हो गये। वहाँ से टोंक पहुँचे। टोंक के नवाब से मदद माँगी। नवाब ने जब मना किया तो 9 जुलाई 1858 को तात्या ने टोंक पर आक्रमण कर दिया। तात्या को यहां से चार तोप प्राप्त हुईं। होम्स तात्या टोपे का पीछा कर रहा था। तात्या टोपे बांस बाड़ा पहुँचे। यहाँ राबर्टस से मुठभेड़ हुई। तात्या इसके पश्चात झालावाड़ की राजधानी झालार पत्तन पहुँचे। यहाँ से तात्याटोपे ने कॉफी धन एवं बन्दूकें प्राप्त कीं। इसके पश्चात तात्या टोपे इन्दौर की ओर बढ़े। यहाँ उसके पीछे कर्नल लाकहार्ट रवाना हुआ। तात्या भाग कर व्याबरा जा पहुँचे। पीछे लाकहार्ट भी आ गया। इस मुठभेड़ में तात्या की 27 बन्दूकें लाकहार्ट ने छीन लीं। तात्या ने भाग कर ईशागढ़ पर हमला किया और छीनी गई बन्दूकों की क्षतिपूर्ति यहाँ से कर ली। यहाँ से तात्या चन्देरी पहुँचे। 10 अक्टूबर 1858 को उनका सामना माइकेल से हुआ। तात्या टोपे भाग कर ललितपुर पहुँचे। यहाँ राव साहब भी मिल गये। उन्हें पता चल गया कि अंग्रेजों ने उन्हें पकड़ने के लिये नाकेबन्दी कर जाल बिछाया हुआ है। माइकल एवं बीचर को चकमा देते हुये तात्या टोपे नर्मदा पार कर होशंगाबाद से आगे पहुँच गये।

इस समय बड़ौदा में असंतोष व्याप्त था। वहाँ तात्या के कुछ मित्र भी थे। वह मराठों का गढ़ था। तात्या टोपे बड़ोदा की ओर रवाना हुआ। रास्ते में अंग्रेजो की कुछ रसद भरी गाड़ियों को भी तात्या ने लूट लिया। अंग्रेज हर हालत में तात्या को नागपुर, पूना एवं बड़ौदा जाने से रोकने के लिये दृढ़ संकल्पित थे। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि तात्या टोपे किसी भी मराठा शक्ति से मिल कर और शक्तिशाली हों। गुजरात की ओर बढ़ने का रास्ता राबर्टस ने रोक लिया। पार्के पूर्व की ओर से उसके पीछे लगा हुआ था। ब्रिगेडियर हिल ने पश्चिम में खान देश के पास उसका रास्ता रोक लिया। 1 दिसम्बर 1858 को छोटा उदयपुर के पास पार्के ने तात्या को बड़ोदा बढ़ने से रोक दिया।

अब तात्या टोपे ने राव साहब के साथ राजस्थान के बांसवाड़ा के जंगलों में डेरा जमाया। इंग्लैण्ड की महारानी की घोषणा का लाभ उठा कर बाँदा नवाब अली बहादुर द्वितीय ने आत्म-समर्पण कर दिया। यहाँ प्रतापगढ़ को तात्या ने अपना प्रमुख मुख्यालय बनाया मंदसौर का शहजादा फिरोजशाह हज यात्रा से लौट कर तात्या टोपे के पास आ गया। नरवर के राजपूत सामंत मानसिंह भी तात्या टोपे के सहयोग हेतु आ गये। पड़ोन में मानसिंह तो इन्दरगढ़ में फिरोजशाह तात्या के साथ आ गये।

अंग्रेज सेनानायक हाथ धोकर तात्या के पीछे पड़ गये थे। अब तात्या ने निश्चय किया कि वह राव साहब एवं फिरोजशाह से अलग हो जायें एवं अलग-अलग रहकर अंग्रेजों के साथ संघर्ष करें। कालपी के पश्चात पहली बार तात्या टोपे राव साहब से अलग हो रहे थे। इसका उन्हें काफी दुःख था। तात्या टोपे दो रसोईयों , एक भृत्य, तीन घोड़ों और टट्टू के साथ पड़ोन के जंगल में जा पहुँचा जहाँ मानसिंह का गुप्त आवास था।

मध्यभारत के कमांडिग आफीसर जनरल नेपियर ने तात्या टोपे को पकड़ने की जिम्मेदारी मेजर मीड़ को सौंपी। अभी तक कई ब्रिटिश सेना पतियों ने डींग मारी थी कि वह तात्या को पकड़ कर रहेंगे मगर सभी के प्रयास नाकाम रहे। तात्या टोपे ने प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों को भी चुनौती दी। लड़ाकू, अनुभवी, एवं प्रशिक्षित, ब्रिटिश जनरलों की सेनाओं के चक्रव्यूह को कई बार भेदा। प्रतिकूल मौसम की कभी परवाह नहीं की, जो मिला वह खा लिया एवं जहाँ भी जैसा भी स्थान मिला वहाँ सो गये। इस प्रकार की भागदौड़ करके तात्या टोपे अब थक चुका था। तात्या टोपे के इस अनवरत संघर्ष की प्रशंसा अंग्रेजों ने भी की है। लंदन टाइम्स के युद्ध संवाददाता विलियम रसैल ने 'माय डायरी इन इंडिया' में लिखा है।

'हमारा योग्य मित्र तात्या टोपे इतना परेशान करने वाला तथा चालाक है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जावे उतनी कम है। गत जून मास से उसने मध्य भारत को आंदोलित कर रखा है। उसने छावनियों पर आक्रमण किये, खजाने लूटे और शस्त्रगारों को खाली कर दिया। उसने कई बार सेनाओं को एकत्रित किया और खोया। उसकी गति दुधारा बिजली की भाँति थी। हप्तों तक वह 40 से 50 मील प्रतिदिन चला। उसने दोनों ओर से नर्मदा नदी पार की। वह हमारी सेनाओं को छकाता रहता था। रास्ते में चाहे पहाड़ हो, खड्डे हो, घाटियाँ हों, दल-दल हों इनकी परवाह उसने कभी नहीं की। टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर वह आसानी से बढ़ता जाता था। कभी वह बम्बई से डाक लाने वाली बैलगाड़ी को ले भागता था तो कभी किसी गाँव को लूट लेता था। चाहे आगे-पीछे सेना हो, चाहे सेना द्वारा उसे घेर लिया गया हो, पर वह हर बार साफ बच निकला, कभी भी वह पकड़ा नहीं जा सका।[23] तात्या का पीछा करते-करते उसे पकड़ने का प्रयास करते-करते, बार-बार की असफलता से अंग्रेज अत्यधिक खीजने लगे थे। उन्हें समझ में आ गया कि इस तरह पीछा करके तात्या टोपे को पकड़ना असंभव ही नहीं नामुमकिन है।

तात्या टोपे का पकड़ा जाना :-

अंग्रेजो ने अब षडयंत्र पूर्वक तात्या टोपे को पकड़ने की योजना बनाई। तात्या टोपे को पकड़ने के षडयंत्र रचने का उत्तरदायित्व मेजर आर.जे. मीड ने सँभाला। मेजर मीड एक योग्य कूटनीतिज्ञ, चतुर वार्ताकार, नियोजनकर्ता एवं लक्ष्य के प्रति समर्पित व्यक्ति था। मीड जानता था कि तात्या टोपे के साथ मानसिंह भी पड़ोन के जंगलों में रहता है। पिण्डारियों के नेता नारायणसिंह का शिवपुरी के पास अच्छा खासा प्रभाव था। मानसिंह की नारायण सिंह से मित्रता थी। मीड ने नारायणसिंह के माध्यम से मानसिंह को अपनी ओर मिलाने की योजना बनाई। नारायणसिंह के माध्यम से मीड ने मानसिंह को कहलवाया कि वह यदि आत्मसमर्पण कर दे तो उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जावेगा। जब मानसिंह नहीं माना तो मीड ने मानसिंह के परिवार की महिलाओं को बंधक बना लिया। तब 2 अप्रैल 1859 को मानसिंह ने आत्मसमर्पण कर दिया। मीड ने मानसिंह को परखने के लिये पहले उसके मित्र अजीतसिंह को पकड़वाने का दायित्व मानसिंह को सौपा। मानसिंह ने अजीतसिंह को पकड़वा दिया। मालसन ने इस घटना को मानसिंह के पतन की शुरूआत मानते हुये लिखा है 'अजीत सिंह मानसिंह का मित्र सहचर एवं चाचा था। उसका मानसिंह द्वारा पकड़वाया जाना मानसिंह के नैतिक पतन का प्रथम कदम था।[24] अब मेजर मीड को विश्वास हो गया कि मानसिंह तात्या टोपे को भी पकड़वा सकता है। इस तरह अब मीड ने मानसिंह के समक्ष तात्या टोपे को पकड़वाने का प्रस्ताव रखा। मानसिंह ने कहा कि इस बड़े काम के बदले में उसे नरवर के पौहरी शाहबाद की जागीर दी जावे। मीड ने आगरा में पदस्थ पालिटिकल एजेन्ट सर राबर्ट हैमिल्टन से बात थी। उन्होंने इस शर्त पर विचार का आश्वासन दिया। तब कहीं जाकर 6 अप्रैल 1859 को मानसिंह तात्या टोपे को पकड़वाने के लिये सहमत हो गया।

मानसिंह अपने साथ सादा वरदी में सिपाहियों को लेकर तात्या टोपे के पास गया। जिस गुफा में वे दोनों अकसर विचार-विमर्श करते थे उसी गुफा में दोनों देर रात तक विचार-विमर्श करते रहे इसके पश्चात तात्या टोपे सो गये। जब वह गहरी नींद में सो गया तब मानसिंह के इशारे पर सिपाहियों ने उसे सोते में गिरतार कर लिया। तात्याटोपे ने मानसिंह को धिक्कारा। तात्या के सेवक एक साथ इतने लोगों को देख कर डर कर भाग गये। तात्या के पास इस समय एक घोड़ा, एक तलवार, तीन सोने के कड़े एवं सोने की 118 मुहरे प्राप्त हुई। इस प्रकार 7 अप्रैल की प्रातः तात्या गिरफ्तार कर लिया गया। उसे मेजर मीड की छावनी में लाया गया। मीड अत्यंत प्रशन्न हुआ। तात्या टोपे को कड़े पहरे के बीच शिवपुरी भेज दिया गया। एक सैनिक न्यायालय गठित किया गया एवं उसमे 15 अप्रैल 1859 को तात्या टोपे का मुकदमा आरंभ हुआ। उस पर निम्न आरोप लगाये गये।

1. जून 1857 से दिसम्बर 1858 तक अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध का नेतृत्व किया। इस बीच अंग्रेज महिलाओं पुरुषों व बच्चों को मौत के घाट उतारा।
2. 1 अप्रैल 1858 को झाँसी के पास ह्यूरोज से युद्ध।
3. 1 जून 1858 को ग्वालियर पर अधिकार ।
4. 14 जून से 21 जून 1858 तक ग्वालियर के निकट ह्यूरोज से युद्ध।

इन आरोपों के पक्ष में गवाह प्रस्तुत किये गये। इन गवाहों ने तात्या टोपे को पहचाना। तात्या टोपे ने अपनी सफाई में तीन बातें कहें।

1. कालपी की विजय तक उसने जो कुछ किया वह अपने मालिक नाना साहब के कहने पर किया।
2. उसके पश्चात जो कुछ किया वह राव साहब के कहने पर किया।
3. अंग्रेज स्त्री पुरुष एवं बच्चों की हत्या में उसका कोई हाथ नहीं था।

तात्या टोपे का बयान हिन्दी में मुंशी गंगादीन लिख रहा था, जिसका अंग्रेज अनुवाद लेफ्टिनेन्ट गिबन करता जा रहा था। बयान पर तात्या टोपे ने मराठी में हस्ताक्षर किये। तात्या टोपे को मृत्युदण्ड दिया गया।

18 अप्रैल 1859 को शाम 7 बजे तात्या टोपे को फांसी स्थल पर लाया गया। बेड़िया कटते ही उसने स्वयं फाँसी का फन्दा अपने गले में डाल लिया। तख्ता खींचकर उसे फांसी दे दी गई। उनके कुछ बाल काट लिये जो लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में उसकी पोशाक तथा अन्य सामाग्री के साथ रखे गये। स्वतंत्रता पश्चात यह सभी सामाग्री भारत लाकर कलकत्ता के राट्रीय संग्रहालय में रखी गई है।

इस तरह 1857 की क्रांति के एक महान क्रांतिकारी से भारत स्थित ब्रिटिश सरकार को मुक्ति मिल गई। काफी समय के उपरांत वे चैन की सांस ले सके।

बुन्देलखण्ड की रानियों को तात्या टोपे की मदद

तात्या टोपे ने 1857 की क्रांति के प्रायः अधिकांश क्रांतिकारियों की हर संभव मदद की। बुन्देलखण्ड की 1857 की क्रांति में भूमिका निभाने वाली विभिन्न रानियों को भी तात्या टोपे ने हरसंभव मदद की। रानी लक्ष्मीबाई के साथ तो तात्या टोपे ने अंग्रेजों से जमकर संघर्ष किया ही था। रानी लक्ष्मीबाई के अलावा अन्य रानियाँ निम्न थीः-

जालोन की ताईबाई :- ताईबाई जालौन के मराठा शासक गोविन्दराव की वंशज थी। उसके पिता का नाम गोपालराव था। डलहौजी ने हड़पनीति के तहत जालौन को हड़प लिया था। 1857 की क्रांति के दौरान ताइबाई को समुचित मौका मिला। उसने जालौन की प्रशासक बन कर कालपी, उरई, कोटरा आदि क्षेत्र में क्रांति का शंखनाद किया। तात्या टोपे ने ताईबाई की सहायता की। उसके पाँच वर्षीय पुत्र को जालौन का राजा घोषित कर दिया। ताईबाई को जालौन का रीजेन्ट बना दिया।

जैतपुर की रजोरानी :- राजोरानी 1842 के बुन्देला विद्रोह के सूत्रधार जैतपुर राजा पारीछत की रानी थी। अंग्रेजो ने जैतपुर पारीछत से छीन लिया था। कानपुर जेल में पारीछत का देहान्त हो गया था। राजोरानी ने 1857 की क्रांति में भाग लिया और जैतपुर पर अधिकार कर लिया। उसके दीवान देशपत बुन्देला ने उसका साथ दिया। रानी ने जैतपुर सहित आस पास के क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। चरखारी का राजा रतनसिंह अंग्रेजों का मित्र था। वह राजा पारीछत का भतीजा था। रतनसिंह ने विश्वासघात करते हुये जैतपुर को रजोरानी से मुक्त कराने के प्रयास किये। ऐसे समय में तात्या टोपे के रानी की मदद की। तात्या टोपे ने चरखारी पर आक्रमण कर रतनसिंह को परास्त किया।

जिगनी की नन्ही रानी :- जिगनी की नन्ही रानी ने भी अंग्रेजों के साथ जमकर संघर्ष किया। तात्या टोपे ने उनकी भी मदद की उसकी जानकारी हमे इस लोकगीत से मिलती है, जो इस प्रकार है -

नन्हीं रानी ऊधम करती, जिगनी में दम भरती
संग ज्वान सात सौ लै के फौज फिरंगिन लरती
लूट खजानों छुड़ा हतयारन मंदिर डेरा करती
पूजा करती राम सुमरती, तात्या से मिल चलती
आग आगरे देती, वे तो गढ़ ग्वालियर धरती
ऊधोदास एई रीति सौ प्रीति देस कौ करती।[25]

इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. कर्नल जी बी माल्सन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन म्यूटिनी, खण्ड 3, पृ. 350
2. इंदुमती शेवड़े, तात्या टोपे, अनुवाद सुन्दरलाल श्रीवास्तव, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, 1999, पृ. 67 से उद्घृत
3. जे.एच. सिल्वेस्टर, रीकलेक्शन्स ऑफ द कैम्पेन इन मालवा एण्ड सेन्ट्रल इंडिया, पृ. 196-97
4. तात्या टोपे, पूर्वोक्त, पृ. 68 से उद्घृत
5. सिलवेस्टर, पूर्वोक्त, पृ. 198-99
6. तात्या टोपे, पूर्वोक्त, पृ. 80 से उद्घृत
7. भारत में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, बाम्बे सरकार, खण्ड-1, पृ. 235 की सहायक सामग्री से।
8. परशुराम शुक्ल विरही, तात्या टोपे बुन्देलखण्ड में, स्वराज संस्थान, भोपाल, 2006, पृ. 21
9. अमृतलाल नागर, आँखो देखा गदर, राजपाल, नई दिल्ली, 2011, पृ.32 (विष्णु भट्ट गोडशे की कृति 'माझा प्रवास' का हिन्दी अनुवाद)
10. सुरेन्द नाथ सेन, एट्टीन फिटी सेवन, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 1957 पृ. 226
11. माल्सन, हिस्ट्री आफ इंडियन म्यूटिनी, खण्ड 4, पृ. 105
12. वही, पृ. 167
13. चार्ल्स वाल, इण्डियन म्युटिनी, खण्ड-2, पृ. 190
14. माल्सन, पूर्वोक्त, पृ. 186
15. सीक्रेट डिस्पैच टू सैकेट्री, 25 मई 1858, नं. 19, माल्सन, भाग-5, पृ. 102
16. भगवानदास गुप्त, झांसी राज्य का इतिहास और संस्कृति, राजकीय संग्रहायल, झांसी, 2008, पृ. 196
17. परशुराम शुक्ल विरही, पूर्वोक्त, पृ. 31
18. झांसी राज्य का इतिहास एवं संस्कृति, पूर्वोक्त, पृ. 203-04
19. सिलवेस्टर, पूर्वोक्त, पृ. 732
20. परशुराम शुक्ल विरही, पूर्वोक्त, पृ. 42
21. मालसन खण्ड-5, पृ. 128
22. झांसी राज्य का इतिहास एवं संस्कृति, पूर्वोक्त, पृ. 213
23. परशुराम शुक्ल विरही, पूर्वोक्त, पृ. 78
24. के एण्ड मालसन, द हिस्ट्री ऑफ इंडियन म्युटिनी, भाग-5, पृ. 262
25. डॉ. सुधा गुप्ता, आकाशवाणी दिल्ली से प्रसारित रूपक, 1857 के प्रथम संग्राम से संबंधित बुन्देली लोकगीतों में रानी लक्ष्मीबाई और उनके समकालीन सैनिक, 9 जून 2007

पुरातात्त्विक एवं सांस्कृतिक स्थल नान्दूर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

नागेश दुबे

नान्दूर प्राक्मौर्ययुगीन सभ्यता और संस्कृति से जुड़ा हुआ मध्यप्रदेश का एक ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक स्थल है। वर्तमान में नंदोर (नान्दूर) एक गाँव के रूप में पूर्वी मालवा का अंग है। प्राचीन काल में यह नगर एक सामरिक और सांस्कृतिक महत्त्व का नगर था। यह प्राचीन महत्त्व का गांव भोपाल के दक्षिण पूर्व में 37 किलोमीटर की दूरी पर बेतवा (वेत्रवती) के पूर्वी तट पर बसा हुआ है। यहाँ से बेतवा नदी दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित होती हुई अन्ततः पूर्व दिशा की ओर मुड़कर यमुना नदी से मिल जाती है। भोपाल-होशंगाबाद-इटारसी रेलवे मार्ग और राजमार्ग पर भोपाल से 22 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है मण्डीद्वीप कस्बा तथा रेलवे स्टेशन। मण्डीद्वीप के दक्षिण-पश्चिम में 15 किलोमीटर के सड़कमार्ग को तय करने के पश्चात् रायसेन जिलान्तर्गत नंदोर गांव पड़ता है। प्राचीनकाल में इस नगर का सड़क मार्ग से जुड़ाव उत्तर में साँची, विदिशा, गुना, तुमैन, पवाँया, ग्वालियर, मथुरा से था तथा पूर्व में इसका जुड़ाव एरण, त्रिपुरी, कोशाम्बी और पाटलिपुत्र से था। पश्चिम से यह नगर उज्जैन से जुड़ा हुआ था और दक्षिण में माहिष्मती एवं भृगुकच्छ से। इस तरह इस प्राचीन नगर का संबंध उस काल के सभी ऐतिहासिक, सामरिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक नगरों से था।

नामकरण, पहिचान तथा महत्त्व :

नान्दूर का प्राचीन नाम नंदिपुर व नंदिनगर था।[1] इस प्राचीन ऐतिहासिक नगर को शैशुनाग वंश के ख्यातिलब्ध शासक नंदिवर्धन ने बसाया था।[2] इसके पूर्व इस वंश का महान् शासक शैशुनाग (412-394 ई.पू.) ने अवन्ति महाजनपद को जीतकर मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था।[3]

उस समय पूर्वी मालवा का क्षेत्र, जिसमें नांदूर क्षेत्र भी सम्मिलित था, अवन्ति महाजनपद का ही हिस्सा था। 'महावंश टीका' के अनुसार उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र कालाशोक (काकवर्ण) (394-366 ई.पू.) ने मगध साम्राज्य पर शासन किया।[4] 'महाबोधि-वंश' के अनुसार कोलाशोक के दस पुत्र हुए जिन्होंने सम्मिलित रूप से बाईस वर्षों (366-344 ई.पू.) तक मगध साम्राज्य पर शासन किया।[5] इन पुत्रों में सर्वाधिक बलशाली शासक नंदिवर्धन ही था। पुराणों के अनुसार यह इस वंश का अन्तिम शासक था।[6] 344 ई. पूर्व में मगध साम्राज्य पर महापदम् नंद का आधिपत्य हो गया। यह नंद वंश का संस्थापक था।7 इससे यह सिद्ध हो जाता है कि नान्दूर को नंदिपुर व नंदिनगर नाम बौद्धकाल में मिला था। बौद्धकाल के पूर्व यह स्थान अवन्ति-दशार्ण का हिस्सा रहा होगा। इन जनपदों या राज्यों से संबंधित इतिहास तथा पुरातत्व सामग्री आज प्रचुर मात्र में उपलब्ध हैं। इस प्राप्त सामग्री में नंदिपुर व नंदिनगर का सन्दर्भ या उल्लेख साँची के शिलालेखों को छोड़कर कहीं नहीं मिलता। साँची स्तूप के 53 शिलालेखों में 53 बार नंदिनगर के भिक्षु व भिक्षुणियों द्वारा दान दने का उल्लेख मिलता है।[8] बाद के कालों में इसका नाम नान्दनेर पड़ा। वर्तमान समय में इसे नन्दौर,

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 131-140*

नान्दूर, नान्दौर आदि अनेक नामों से जाना जाता है। आज यह एक गांव के रूप में विद्यमान है। यहां के उत्खनन से स्पष्ट है कि प्राचीन समय में यह नगर डेढ़ किलोमीटर के परकोटे से घिरा हुआ था। यहां से एक प्रासादीय भवन और उसके चारों ओर पानी की खाई के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि यह नगर प्राचीन काल में अपनी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामरिक गौरव और ख्याति के लिए प्रसिद्ध था।[9]

नांदूर-उत्खनन का ऐतिहासिक विवरण :

मध्यप्रदेश के पुरातात्विक सम्पदा में समृद्ध प्राचीन ऐतिहासिक नगरों में नान्दूर का स्थान महत्वपूर्ण है। बेतवा नदी के पूर्वी तट पर बसे इस प्राचीन नगर की सभ्यता और संस्कृति को खोजने तथा उजागर करने का श्रेय डॉ. शंकर तिवारी को है। पारियात्र (पं. विन्ध्य तथा अरावली) पर्वत श्रृंखला के शैलचित्रों का सर्वेक्षण करते हुए उन्हें सन् 1980 ई. में उस क्षेत्र की प्राचीनता का सर्वप्रथम बोध हुआ।[10] उन्हें इस स्थल से कई 'नंदि' लेखयुक्त प्राचीन ताँबे के सिक्के मिले थे[11] जिसके आधार पर उन्होंने मध्यप्रदेश शासन के पुरातत्व विभाग तथा सागर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र. के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग का ध्यान इस प्राचीन नगर की ओर आकृष्ट कराया। परिणामस्वरूप अप्रैल, 1981 ई. में सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के अधिकारियों ने संयुक्त रूप में उत्खनन कार्य प्रारंभ किया।[12] सर्वप्रथम दो खदाने (सं.1 व 2) खोदी गईं, जिसमें प्राचीन प्राचीर (परकोटा भीत) तथा आराधना गृह के कुछ अवशेष मिले, जो प्राक्मौर्ययुगीन सभ्यता और संस्कृति के परिचायक है।[13] इन्हीं खदानों से गुप्तकालीन, धातु और मिट्टी की पकी सीलें भी मिली।[14] किन्तु किंचित कारणों से यह उत्खनन कार्य जारी न रह सका। कुछ माह बाद ही म.प्र. पुरातत्व विभाग के अधिकारी श्री खरे, डॉ. शंकर तिवारी, टैगोर प्रो. स्व. कृष्णदत्त वाजपेयी (पूर्व अध्यक्ष, प्रा. भा.इति., संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.) तथा डॉ. वी.श्री. वाकणकर (पूर्व अध्यक्ष - प्रोफेसर, प्रा.भा.इति., संस्कृति एवं पुरातत्व, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन म.प्र.) आदि की संयुक्त समिति द्वारा इस स्थल के निरीक्षण के पश्चात् उत्खनन को और आगे बढ़ाने का निर्णय लिया गया। तत्पश्चात् उत्खनन का दूसरा दौर मार्च, 1982 ई. में डॉ. श्यामकुमार पाण्डेय तथा उनकी टीम ने प्रारंभ किया। इस उत्खनन में दो नई खदाने (सं. 3,4) खोदी गई, जिसमें एक बड़े भवन के अवशेषों से पांच लोहे की बड़ी ईंटे, लोहे के तीर, भाले व अन्य सामग्री के अवशेष प्राप्त हुए।[15] उत्खनन का तीसरा दौर इसी टीम द्वारा, फरवरी, 1983 में प्रारंभ किया गया, जिसमें एक और नई खदान (सं.5) खोदी गई और पुरानी खदान सं. 2 का विस्तार किया गया है।[16]

इस प्रकार नान्दूर-उत्खनन सन् 1981 ई. से 1983 ई. तक क्रियान्वित रहा। यहाँ के उत्खनन में मिट्टी का बना परकोटा; मोटे पत्थर व पक्की बड़ी आकार की ईंटों की दीवारें; पत्थर-मिट्टी, बजरी और पक्की ईंटों का फर्श; काले-लाल-चितकबरे रंग के मृद्भाण्ड, हस्तनिर्मित और साँचे से निर्मित मृण्मूर्ति; कीमती पत्थर व काँच की मणि, काँच की चूड़ियाँ; पत्थर तथा बट्टे आदि पुर वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जिससे इस नगर की सभ्यता-संस्कृति प्राक्मौर्ययुगीन सिद्ध होती है।[17] यहाँ से एक गुप्तकालीन धड़युक्त पत्थर की मूर्ति, एक गोल पत्थर पर नक्शा व शंख लिपि और पिचाशी लिपि में अंकित शिलालेख तथा कुछ धातु मुद्राएँ भी मिली हैं, जिन पर 'सिमिलिपुतलस, देवदास, अमलयश रज्ञो' खुदा हुआ है।[18] यहाँ से कुछ मिट्टी की सीलें भी मिली हैं, जिन पर 'धन्सस्य महादण्डनायक पर्णक, मातृविष्णु व श्री विक्रमादित्य' खुदा हुआ है।[19] यहाँ से प्राचीन तांबे के ढले-सिक्के, पंचमार्क सिक्के कोशाम्बी व एरण प्रकार के ताँबे के सिक्के, चाँदी के महाक्षत्रप ईश्वर वर्मा, श्रीधर वर्मा, स्वामी विजयसेन, परीक्षित, रूद्रसेन, महाराज पिशाच के सिक्के, नागराजाओं के ताँबे के सिक्के और एक मुगलकालीन चाँदी के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं।[20] यह सिक्के नान्दूर ग्राम को प्राक्मौर्ययुगीन से लेकर मुगलयुगीन ग्राम घोषित करते हैं।

नान्दूर-उत्खनन से सर्वप्रथम ताँबे निर्मित आहत सिक्के भी मिले हैं, जिन पर इन्द्रध्वज, मेरु, स्वस्तिक, नंदीपद, वेदिका-वृक्ष, वज्र, नदी में मछली, सूर्य आदि के चिह्न अंकित हैं।[21] इन आहत सिक्कों में से कुछ का पृष्ठभाग सादा है और कुछ का पृष्ठभाग चिह्नांकित। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में व्यापारिक संघ व श्रेणी की ओर से 'नैगम' से सिक्के चलाये गये थे।[22] इस प्रकार के सिक्के यहाँ के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि शुंगकाल में नान्दूर एक महत्वपूर्ण निगम के रूप में स्थापित हो गया था।[23] ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ई.पू. चौथी शताब्दी के मध्य प्रमुख जनपदों-निगमों-नगरों ने अपने-अपने नामांकित सिक्के चलाये थे, ऐसा उल्लेख मिलता है।[24] यहाँ के उत्खनन से सातवाहनकालीन सिक्के भी मिले हैं जो अभिलिखित हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उनका नान्दूर नगर तथा उसके आसपास के क्षेत्र पर अधिकार था।[25] सातवाहन शासकों के पूर्व इस क्षेत्र पर मौर्य और शुंगों का अधिकार था। सातवाहनों के पश्चात् नान्दूर नगर और क्षेत्र पर पश्चिम भारत के शक-क्षत्रपों-महाक्षत्रपों का आधिपत्य रहा। तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अर्थात् 275 ई. तक नागराजाओं ने इस क्षेत्र पर शासन किया। इन नागराजाओं ने भी यहाँ पर अपने-अपने सिक्के चलाये थे। नान्दूर-उत्खनन से प्राप्त नागराजाओं के ताँबे के सिक्कों से यह बात प्रमाणित हो जाती हैं।[26] नागराजाओं के बाद इस क्षेत्र पर गुप्त-सम्राटों का आधिपत्य हो गया, जो 275 ईसवीं से प्रारंभ होकर 550 ईसवी तक चला। गुप्त काल में एस नगर और क्षेत्र ने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक तथा सामरिक-व्यापारिक दृष्टि से समुचित विकास किया। यहाँ के उत्खनन से उत्तर गुप्तकाल से संबंधित किसी भी सिक्के की प्राप्ति नहीं हुई है जिससे यह अनुमानित होता है कि इस काल में यह क्षेत्र निर्जन रहा होगा। इतिहासकारों की राय में हूणों ने इस नगर और क्षेत्र को लूट-पाट कर निर्जन बना दिया था। एक उल्लेखानुसार तोरमाण (हूण शासक) के नेतृत्व में हूण सत्ता पवैया (पुवाया-पद्मावती), तुमैन (तुम्बवन), एरण (ऐरिकिण) क्षेत्र पर विजय हासिल कर पूर्वी मालवा पर अपना आधिपत्य सुदृढ़ कर लिया था।[27] लगभग 800 ईसवी के पश्चात् यह नगर फिर से आवासित हुआ। नान्दूर गाँव से प्राप्त मूर्तियों के अवशेष परमारयुगीन कला तथा उनके आधिपत्य के प्रमाण हैं।

नान्दूर का राजनीतिक इतिहास :

मध्यप्रदेश में स्थित नान्दूर क्षेत्र का भूभाग ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। अध्ययन की सुविधानुसार इस क्षेत्र के राजनीतिक इतिहास को निम्नांकित कालखण्डों में विभाजित किया जा सकता है :-

1. नान्दूर क्षेत्र का महाजनपद युगीन इतिहास :

ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी के प्रारंभ में उत्तरी भारत में सार्वभौम सत्ता का अभाव था। यहां अनेक स्वतंत्र राज्य विभक्त रूप से स्थापित थे। यह राज्य यद्यपि उत्तरवैदिकयुगीन राज्यों की अपेक्षा विस्तृत और शक्तिशाली थे तथापि इनमें से कोई भी स्वतंत्र राज्य देश को राजनैतिक एकता के एक सूत्र में संगठित करने में समर्थ नहीं था। बौद्ध ग्रन्थ 'अंगुत्तर-निकाय' में उत्तरी भारत में स्थापित 'षोडश महाजनपद' का उल्लेख मिलता है जिसमें 'अवन्ति, प्रमुख है।[28] एक अन्य बौद्ध धर्म ग्रन्थ 'दीर्घनिकाय' में केवल सात राज्यों-कलिंग, अस्सक, अवन्ति, सौवीर, अंग, विदेह, काशी का उल्लेख प्राप्त है।[29] पुराणों में भी ऐसी ही सूचियाँ उपलब्ध होती हैं, परन्तु उसमें 'वज्जि' का उल्लेख नहीं है।

इन सूचियों से सिद्ध होता है कि महाजनपद युग के पूर्वार्द्ध में अवन्ति एक प्रमुख राज्य था जिसमें पश्चिमी और मध्य मालवा के क्षेत्र सम्मिलित थे। इसके दो भाग थे- उत्तरी अवन्ति, जिसकी राजधानी अवन्तिका (वर्तमान उज्जैन) थी और दक्षिणी अवन्ति, जिसकी राजधानी महिष्मती (वर्तमान महेश्वर) थी। इन

दोनों को बेतवा (वेत्रवती) नदी बीचोबीच विभाजित करती थी। पाली धर्म ग्रन्थों से पता चलता है कि बौद्ध काल में अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी ही थी जहाँ पर राजा प्रद्योत राज्य करता था।[30] किन्तु जैनधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भागवतीसूत्र' और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ में अवन्ति के स्थान पर 'मालवा' राज्य का नामोल्लेख मिलता है। सम्भवतः यह नाम यहां मालव जाति के लोगों के अधिकाधिक निवास के कारण ही पड़ा है।

महाजनपद युग के उत्तरार्द्ध में मालवा राज्य दो भागों में विभाजित हो गया- पश्चिमी मालवा, जिसकी राजधानी उज्जयिनी ही थी, परन्तु पूर्वी मालवा की राजधानी विदिशा हो गयी। नान्दूर क्षेत्र उस समय पूर्वी मालवा राज्य का ही अंग था। नान्दूर इस काल का एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर था। प्रद्योत, जो इस क्षेत्र का शासक था, बाद में अपने बौद्ध पुरोहित महाकच्चायन के प्रभाव से बौद्ध बन गया। इसका केन्द्र बना विदिशा, जो बाद में राजधानी भी बना। नान्दूर क्षेत्र भी उस समय बौद्ध धर्म से प्रभावित था। वस्तुतः प्रद्योत बुद्ध का समकालीन था। पुराणों के अनुसार उसने इस क्षेत्र पर तेईस वर्षों तक राज्य किया। उसके बाद इस क्षेत्र पर उसके छोटे पुत्र पालक ने शासन किया, क्योंकि उसके बड़े पुत्र गोपाल ने अपने लघु भ्राता पालक के पक्ष में मालवा का राजसिंहासन त्याग दिया था।[31]

2. नान्दूर का प्राग्मौर्ययुगीन और मौर्ययुगीन इतिहास :

ई.पू. चौथी शताब्दी में अवन्ति पहिले शैशुनाग के साम्राज्य के अन्तर्गत था पर बाद में यह नंद के साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। प्राप्त अभिलेखों और साहित्यक प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि पूर्वी मालवा के क्षेत्र का महत्व मौर्ययुग में अधिक बढ़ा।[32] चन्द्रगुप्त मौर्य ने नंद वंश का नाशकर विशाल मौर्यसाम्राज्य की स्थापना की। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद बिन्दुसार इस साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। बिन्दुसार के राज्यकाल में युवराज अशोक के अवन्ति महाजनपद को जीतकर मौर्यसाम्राज्य में मिला लिया। फलतः अशोक अवन्ति क्षेत्र के ग्यारह वर्षों तक गोप्ता (राज्यपाल) बने रहे।[33] उन्होंने उज्जयिनी को ही इस क्षेत्र की राजधानी बनाया था।

इस प्रकार साँची और विदिशा क्षेत्र का अशोक ने मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। नान्दूर उस समय इसी साम्राज्य का हिस्सा था। बाद में रूग्ण बिन्दुसार की आसन्न मृत्यु का समाचार पाकर अशोक उज्जयिनी से रवाना होकर पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) पहुँचा और उसने मगध साम्राज्य की शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली।[34] उसने कश्मीर और कलिंग विजय से इस साम्राज्य को और बढ़ा दिया। अशोक के काल में नान्दूर क्षेत्र का समुचित विकास हुआ। साहित्य और कला तथा स्थापत्य के विकास के लिए यह युग सर्वाधिक उपयोगी रहा।

3. नान्दूर का शुंगयुगीन इतिहास :

'हर्षचरित', 'मालविकाग्निमित्र' और पुराणों के अनुसार मौर्य सम्राट के सेनापति पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य नरेश वृहद्रथ की हत्या कर मगध साम्राज्य का सिंहासन प्राप्त कर लिया था।[35] पुष्यमित्र ने ई.पू. 184 में एक नये राजवंश की स्थापना की जिसे 'शुंग वंश' के नाम से जाना जाता है। शुंगों के सामनान्तर ही दक्षिण में सातवाहनों तथा कलिंग में चेदि वंश का प्रभाव बढ़ रहा था। पुष्यमित्र ने अपने शासनकाल में युवराज अग्निमित्र को विदिशा क्षेत्र का शासक बनाया। उस समय नान्दूर इसी क्षेत्र का अंग था।

4. नान्दूर का सातवाहनयुगीन इतिहास :

पुराणों में सातवाहन शासकों को आन्ध्रवंशीय माना गया है। सातवाहन शासकों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रें पर ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य से 225 ईसवी तक राज्य किया। सातवाहन राज्य का वास्तविक संस्थापक सिंधुक था जिसने कण्ववंश के राजा सुशर्मा को मारकर भारत पर अपना शासन स्थापित किया था।[36]

उसके बाद कृष्ण और शातकर्णि प्रथम शासक बने। पुराणों के अनुसार वह कृष्ण का पुत्र था। शातकर्णि प्रथम की उपलब्धियों का उल्लेख रानी नागनिका ने नानाघाट अभिलेख में मिलता है।[37] साँची के स्तूप की वेदिका पर उत्कीर्ण एक लेख[38] से शातकर्णि प्रथम की पूर्वी मालवा (आकार क्षेत्र) पर अधिकार का पता चलता है। उसने 106 ईसवी से 130 ईसवी तक इस क्षेत्र पर राज्य किया। नान्दूर क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा। इसके पश्चात् सातवाहन वंश के प्रतापी शासक यज्ञश्री शातकर्णि ने 165 ईसवी से 193 ईसवी तक इस क्षेत्र पर शासन किया। मध्यप्रदेश में उसके सिक्के पूर्वी मालवा के प्रमुख केन्द्र बेसनगर (वर्तमान विदिशा) के 1913-14 में किए गए उत्खनन से तथा तेवर एवं देवास से भी प्राप्त हुए हैं। इसके बाद अमलयश इस क्षेत्र का शासक बना, जो इसी वंश का था। यहाँ के उत्खनन से प्राप्त धातु की अँगूठीनुमा मुद्रा, जिस पर 'अमलयश सातवाहन रज्ञो' खुदा है, से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।[39] इस प्रकार नान्दूर क्षेत्र इन शासकों के अधिकार में रहा। यह युग वैदिकधर्म के पुनरुस्थान का युग था। इस काल में व्यावसायिक श्रेणियाँ और व्यापारिक संगठन बने, जिससे वाणिज्य और व्यापार के क्षेत्र भी व्यापक विकास हुआ। कृषि, उद्योग, साहित्य, शिल्पकला, स्थापत्य कला, चित्रकला, मृण्मूर्तिकला की दृष्टि से भी ये काल समुन्नत का काल था।

5. नान्दूर का शक-क्षत्रपयुगीन इतिहास :

ई.पू. प्रथम शताब्दी में उत्तर-पश्चिम भारत में यूनानी राज्य का अन्त हो गया तथा उसके स्थान पर शक नामक एक विदेशी जाति ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उत्तर तथा पश्चिम भारत में शक-क्षत्रपों की कई शाखाएँ विद्यमान थीं। पश्चिमी भारत में दो शक वंशों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं- महाराष्ट्र का क्षहरात वंश और कादर्मक (चष्टन) वंश अथवा सुराष्ट्र और मालवा के शक-क्षत्रप। पहिले वंश का मध्यप्रदेश के किसी भाग से संबंध नहीं है। सुराष्ट्र और मालवा के दूसरे वंश कादर्मक (चष्टन) का अस्तित्व मिलता है। इस वंश की सत्ता स्थापित करने वाला पहिला शासक चष्टन था। बाद में यह महाक्षत्रप बना। वृद्धावस्था में उसने अपने पुत्र जयदामन् को इन राज्यों का क्षत्रप नियुक्त किया। संभवतः उसने सातवाहनों से उज्जयिनी को जीत लिया था। चष्टन के जीवनकाल में ही जयदामन् की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसने अपने पौत्र (जयदामन् के पुत्र) रूद्रदामन् प्रथम को क्षत्रप नियुक्त किया। अन्धौ (कच्छ खाड़ी) अभिलेख[41] से ज्ञात होता है कि 130 ईसवीं में चष्टन अपने पौत्र रूद्रदामन् प्रथम से साथ मिलकर शासन करता था। चष्टन की मृत्यु के पश्चात् रूद्रदामन् प्रथम पश्चिमी भारत के शकों का राजा बना। जूनागढ़ (गिरनार) शिलालेख से स्पष्ट होता है कि सभी जातियों के लोगों ने रूद्रदामन् को अपना रक्षक चुना था और उसे 'महाक्षत्रप' की उपाधि से अलंकृत किया था।[42] रूद्रदामन् ने अपने शासनकाल में आकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति (पश्चिमी मालवा) और अनूप (नर्मदा नदी के तट पर स्थित महिष्मती) आदि बारह क्षेत्रों को जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया था। रूद्रदामन् की मृत्यु के पश्चात् पश्चिमी और पूर्वी मालवा के शकों की शक्ति क्रमशः घटने लगी। मुद्रा संबंधी साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि रूद्रदामन् के पश्चात क्रम से दामयसद्, जीवदामन्, रूद्रसिंह प्रथम आदि शक-क्षत्रप शासकों ने पूर्वी मालवा पर राज्य किया, किन्तु उत्तराधिकारी संघर्षों, पारस्परिक विग्रहों तथा आभीरों, मालवों और नागों के संघर्ष के परिणामस्वरूप दिन-प्रतिदिन कमजोर पड़ते गये। कुषाणों को संघर्ष शक-क्षत्रपों से हुआ था इसीलिए कुषाणों का प्रत्यक्ष अधिकार मध्यप्रदेश के नान्दूर क्षेत्र पर था। दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विदिशा और नान्दूर क्षेत्र पर नाग शासकों का अधिकार हो गया। नाग शासकों ने कुषाणों को हराकर इस क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया था।[43]

6. नांदूर का नागवंशयुगीन इतिहास :

दूसरी शताब्दी ई. के उत्तरार्द्ध में जब मध्यभारत के दक्षिणी क्षेत्र में राजनीतिक उथल-पुथल चल रहा था उस समय नान्दूर, विदिशा और पद्मावती क्षेत्र में नागों के एक नये राजवंश का उदय हुआ। नागवंश के शासकों ने विदेशियों को भारत से बाहर खदेड़ने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। सर्वेक्षणों और उत्खननों से प्राप्त नाग शासकों के सिक्कों के आधार पर विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि इस वंश का प्रादुर्भाव विदिशा में हुआ था। बाद में इन नागशासकों ने नान्दूर, पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा क्षेत्र पर अधिकार कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। गंगाघाटी में कुषाण सत्ता के विनाश का श्रेय नागवंश को ही दिया जाता है। पुराणों के विवरण से पता चलता है कि पद्मावती (पद्मपवैया), मथुरा तथा कान्तिपुर में नागवंश के शासकों का शासन था। पुराणों के अनुसार मथुरा में सात तथा पद्मावती में नौ नागशासकों ने शासन किया। विद्वान् नागवंश का संस्थापक वृषनाग को मानते हैं, जिसने दूसरी शताब्दी में विदिशा में इस वंश की स्थापना की थी। विदिशा नागवंश का प्रमुख गढ़ था। सन् 1913-14 ई. के विदिशा उत्खनन में इस वंश से संबंधित अनेक सिक्के मिले हैं, जिनसे नागों के अधिकार की पुष्टि होती है। नागवंश के एक और शासक रविनाग का एक नये प्रकार का सिक्का भी एरण से प्राप्त हुआ है,[44] जिससे इस क्षेत्र में भी नागों की उपस्थिति का पता चलता है। नांदूर उत्खनन से प्राप्त महाक्षत्रप ईश्वरवर्मा, श्रीधर वर्मा, स्वामी विजयसेन, रूद्रसेन के चांदी के सिक्के नंदिनगर (नान्दूर) से निश्चित रूप से क्षत्रप आधिपत्य की स्थापना के प्रमाण हैं तथा नवीन क्षत्रप परीक्षित के सिक्के की प्राप्ति इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।[45] समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि बलवर्मा इस वंश का अन्तिम शासक था, जिन्होंने विदिशा-नान्दूर क्षेत्र पर शासन किया था।[46] इन नागवंशी शासकों ने कुषाणशासन और शंकों के शासन से देश को मुक्त किया, राष्ट्रीय चेतना को विकसित किया और आर्य संस्कृति का पुनरुद्धार करने का राष्ट्रव्यापी प्रयास किया। वैष्णव धर्म और अनुष्ठान को उन्होंने नये सिरे से प्रारंभ किया और साहित्य, स्थापत्य, मूर्तिकला, मृण्मूर्तिकला के विकास में अपना अमूल्य योगदान दिया। वाकाटक वंश का विदिशा और नान्दूर क्षेत्र से कोई संबंध नहीं रहा है, क्योंकि इस वंश के शासक बुन्देलखण्ड और उसके दक्षिणी-पश्चिम में राज्य कर रहे थे। नागवंश के अन्तिम शासक को हराकर गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने पूर्वी मालवा को अपने अधिकार में कर लिया।

नान्दूर उत्खनन से महाराज पिशाच, सिमिलिपुतस, महादण्ड नायक पर्णक की मुद्राऐं भी मिली हैं जो नंदिनगर (नान्दूर) और उसके आसपास के क्षेत्र पर आधिपत्य करने की सूचना देती हैं। महाराज पिशाच का नाम भीमबैठका के शैलगृहों के शैलचित्रों में कई बार आया है। इससे स्पष्ट होता है कि इस राजा का राज्य भीमबैठका के आसपास के क्षेत्र तक तो था ही। संभव है और विस्तृत भी रहा हो। वररुचि ने पैशाची भाषा की विशद् चर्चा की है। गुणाढ्य ने अपने ग्रंथ 'वृहत्कथामंजरी' में भी इस भाषा का उल्लेख किया है। आचार्यदण्डी ने इसे 'भूत भाषा' कहा है। शेखर ने इसे पारियात्र ने निवासियों की भाषा माना है। इस प्रकार इस भाषा के उस राज्य में बोले जाने के कारण राजा का नाम 'पिशाच' पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं? ये सब साक्ष्य वस्तुतः उसके इस क्षेत्र पर आधिपत्य होने को प्रमाणित करती हैं।

7. नान्दूर का गुप्तकालीन इतिहास :

प्रयाग स्तम्भलेख (प्रयागप्रशस्ति) के विवरणानुसार चन्द्रगुप्त के पुत्र समुद्रगुप्त ने पूर्वी मालवा के शासक बलवर्मा, जो नागवंश का अन्तिम शासक था, को युद्ध में पराजित कर यहाँ की सत्ता को अपने अधिकार में कर लिया है।[47] नान्दूर उत्खनन से इस युग से संबंधित एक धड़युक्त पत्थर की मूर्ति, पक्की ईंटों के अवशेष व ईंटों के फर्श मिले हैं, जो गुप्तकालीन इतिहास को पूरी तरह से प्रमाणित करते हैं।[48] चन्द्रगुप्त द्वितीय ने

लगभग 375 ईसवी से 415 ईसवी तक राज्य किया। प्राप्त अभिलेखों एवं मुद्राओं से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय, प्रथम गुप्त-सम्राट था, जिसने वैष्णवधर्म को राजधर्म घोषित किया था।[49] नान्दूर उत्खन्न से एक श्री विक्रमादित्य लेखयुक्त मुद्रा प्राप्त हुई है।[50] यदि यह मुद्रा चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य की ही मान ली जाय तो नंदिनगर पर श्री विक्रमादित्य का शासन स्थापित होना पहिली बार प्रमाणिता हो जाता है। भिलसद (बिलसद) अभिलेख[51] से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद मगध साम्राज्य का सम्राट कुमारगुप्त प्रथम बना, जिसने 415 से 455 ईसवी तक राज्य किया। उसने अपने कार्यकाल में प्रत्येक प्रान्तों के लिए पृथक-पृथक् शासकों को नियुक्त किया। उसने घटोत्कचगुप्त को उस काल में पूर्वी मालवा का शासक बनाया। एरण, तुमैन, विदिशा और नान्दूर क्षेत्र पर उसी का शासन था। वह भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के समान ही परम वैष्णव था।

कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् गुप्तशासन की बागडोर उसके सुयोग्य पुत्र स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के हाथों में आयी। जूनागढ़ और गढ़वा अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने लगभग 455 से 467 ईसवी तक राज्य किया। उनके भीतरी स्तम्भलेख से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने पुष्यमित्रों और हूणों को युद्ध में हराकर उनके भू-भाग को अपने अधिकार में कर लिया था। स्थिति के सामान्य होने पर उसने पूर्वी मालवा के शासक के रूप में मातृविष्णु को नियुक्त किया था। नान्दूर क्षेत्र पर भी उसी का शासन था। स्कन्दगुप्त संतानहीन था। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनका सौतेला भाई पुरगुप्त मगध साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना, जिसने 467 से 472 ईसवी तक शासन किया। पुरगुप्त के शासन काल में उनका बड़ा पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय काशी क्षेत्र का गोप्ता (राज्यपाल) था। उनका सारनाथ प्रतिमालेख इसका प्रमाण है। पुरगुप्त के बाद सीधे बुधगुप्त मगध-साम्राज्य का शासक बना। उसका शासनकाल 477 से 495 ईसवी तक था। नालन्दा से प्राप्त बुधगुप्त की मोहर से स्पष्ट हो गया है कि वह पुरगुप्त का ही द्वितीयपुत्र था। उसके एरण स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि उनके राज्यकाल में भी पूर्वी मालवा का सामन्त मातृविष्णु ही था।[52] इसके पूर्व के सभी गुप्त शासक वैष्णव धर्म के पोषक थे, किन्तु बुधगुप्त बौद्ध धर्म का अनुयायी और पोषक था।

बुधगुप्त की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई नरसिंहगुप्त 'बालादित्य' मगध का शासक बना। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय गुप्त साम्राज्य तीन राज्यों में बंट गया था। मगध क्षेत्र का शासक नरसिंहगुप्त, मालवा क्षेत्र का शासक भानुगुप्त और बंगाल क्षेत्र का शासक वैन्यगुप्त था। भानुगुप्त के एरण प्रस्तर स्तम्भलेख[53] से ज्ञात होता है कि वह एक श्रेष्ठ वीर था। यह लेख 510 ईसवी का है। इस लेख में उसके मित्र गोपराज का भी उल्लेख है। हूणों से युद्ध करते हुए गोपराज और भानुगुप्त की मृत्यु हो गई और पूर्वी मालवा पर हूण नेता तोरमाण का अधिकार हो गया। भानुगुप्त के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त तृतीय हूणों की अधीनता स्वीकार करते हुए 543 ईसवी तक राज्य किया। नालन्दा से प्राप्त एक मुद्रालेख में विष्णुगुप्त का उल्लेख मिलता है, जो सम्भवतः कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र था। इसने पूर्वी मालवा पर 550 ईसवी तक शासन किया। इसके बाद गुप्त साम्राज्य पूरी तरह से छिन्न-भिन्न हो गया।

इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि गुप्त सम्राटों की सांस्कृतिक नीति उदार, सहिष्णु और भारतीय थी। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद देश में राजनीतिक विघटन की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, वह गुप्त युग के अभ्युदय के पूर्व तक बनी रही। गुप्त सम्राटों ने इस राजनीतिक विघटन और विशृंखलता को समाप्त कर देश में एक सुव्यवस्थित और सुसंगठित शासन व्यवस्था और एकता को स्थापित किया, जिससे देश की शान्ति, सुख और समृद्धि में सर्वतोमुखी प्रगति हुई। राधाकुमुद मुखर्जी के शब्दों में, ''देश की भौतिक और नैतिक प्रगति का मुख्य कारण राजनैतिक दशा थी।''[54] राजनीतिक स्थिरता के कारण ही गुप्त-सम्राटों ने मध्य एशिया और दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों में मैत्रीपूर्ण संपर्क स्थापित कर देश की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ आधार प्रदान

किया। इन संबंधों से व्यापार-वाणिज्य, उद्योग-व्यवसाय के साथ-साथ पारस्परिक आचार-विचार का आदान-प्रदान भी हुआ, जिससे साहित्य और कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। संस्कृत भाषा ने इस काल की प्रगति में सहयोग दिया। यह काल राष्ट्रीय संस्कृति के विकास का उत्कर्षकाल था। धार्मिक सहिष्णुता, उदातता, समन्यत्मकता इस काल की संस्कृति की रीढ़ थी। साहित्य, कला-ललितकला, स्थापत्य-वास्तुकला, चित्रकला, मृद्भाण्डकला और मृण्मूर्तिकला आदि का इस युग में सम्यक् विकास हुआ। वैष्णव, बौद्ध और जैन धर्म दर्शन का विकास भी युग में समुचित और समान स्तर पर हुआ।

8. नान्दूर का गुप्तोत्तर एवं मध्यकालीन इतिहास :

पूर्वी मालवा क्षेत्र, जिसमें नान्दूर क्षेत्र भी सम्मिलित था, का राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्व उत्तर गुप्त शासकों तथा हूण शासकों के कार्यकाल में कम हो गया था। छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूर्वी मालवा संभवतः उत्तरगुप्त शासक महासेनगुप्त तथा पश्चिमी मालवा कलचुरि शासक शंकरगण के हाथ में चला गया था।[55] फिर उत्तरगुप्तों और कलचुरियों के बीच राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता प्रारंभ हो गई। अभौना ताम्रपत्र[56] से ज्ञात होता है कि महासेन गुप्त के समय में ही उज्जयिनी सहित पश्चिमी मालवा पर शंकरगण कलचुरि का अधिकार हो गया था। महासेन गुप्त की मृत्यु के पश्चात् शेष पूर्वी मालवा के क्षेत्र को भी कलचुरियों ने उत्तरगुप्तों से छीन लिया।

आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नान्दूर क्षेत्र ही नहीं, पूर्वी मालवा का सम्पूर्ण क्षेत्र स्थानीय शासकों के अधीन रहा। इस शताब्दी के मध्य में राष्ट्रकूटों, गुर्जर-प्रतिहारों एवं पाल शासकों की त्रिकोणात्मक संघर्ष, राजनीति और सैन्य प्रतिद्वन्द्विता प्रारंभ हो गयी जिसके परिणामस्वरूप एक दूसरे के बीच युद्ध जारी रहा। अन्ततः नवीं शताब्दी में पूर्वी मालवा पर परमार शासकों का अधिकार हो गया। विदिशा, नान्दूर, एरण, तुमैन और पद्मावती क्षेत्र इसके अंग थे। भोज इस वंश का प्रसिद्ध शासक था। परमारों की सत्ता-समाप्ति चालुक्यों और त्रिपुरी के कलचुरियों द्वारा हुई। कलचुरियों का इस क्षेत्र पर अधिकार बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक रहा। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभिक समय में परमार राजा यशोवर्मन ने पुनः पश्चिमी और पूर्वी मालवा को अपने अधिकार में कर लिया। यशोवर्मन के उपरांत परमार शासन दो भागों में विभक्त हो गया। जयवर्मन के वंशज विदिशा में और उसके छोटे भाई अजयवर्मन के वंशज धार में शासन करने लगे। अजयवर्मन के बाद सुभरवर्मन और उसके पश्चात् अर्जुनवर्मन प्रथम धार के शासक बने। अर्जुनवर्मन प्रथम ने सन् 1210 से 1215 ईसवी तक शासन किया। उसका कोई पुत्र नहीं था, इस कारण विदिशा शाखा के शासक हरिश्चन्द्र का पुत्र देवपाल उसका उत्तराधिकारी बना। इसने 1239 ईसवी तक धार पर शासन किया। इसी समय पश्चिमी और पूर्वी मालवा पुनः एकीकृत हो गये। नान्दूर क्षेत्र भी एकीकृत मालवा का हिस्सा बना।

परमारकाल में इस क्षेत्र का कला और संस्कृति की दृष्टि से समुचित विकास हुआ। वैष्णव, बौद्ध और जैन धर्म विकसित होते रहे। स्थापत्यकला, मूर्तिकला, मृण्मूर्तिकला विकास की दृष्टि से यह काल गौरवशाली रहा।

सन् 1234 ईसवीं में दास वंश का सुलतान इल्तुतमिश ने भेलसा पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने मालवा को खूब लूटा। देवपाल उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाया। इतना अवश्य हुआ कि इल्तुतमिश के लौटने के बाद परमार शासक देवपाल फिर विदिशा-नान्दूर क्षेत्र को जीतने में सफल हुआ। लेकिन रणथम्बौर के चौहान वाग्भट्ट ने अचानक आक्रमण कर देवपाल को मौत के घाट उतार दिया। देवपाल के पश्चात् जयतुंगदेव, जयवर्मन द्वितीय, जयसिंह तृतीय, अर्जुनवर्मन द्वितीय तथा भोज द्वितीय विदिशा नान्दूर क्षेत्र के शासक बने, लेकिन चौहानों के बार-बार आक्रमणों कर इस क्षेत्र को अपने अधिकार में

कर लिया। सन् 1284 ईसवी के आसपास विदिशा-नान्दूर क्षेत्र में खिलजी सुलतान जलालुद्दीन ने मालवा पर आक्रमण कर दिया। उसने विदिशा-नान्दूर क्षेत्र पर आक्रमण करने का कार्यभार उलाउद्दीन को सौंपा। उलाउद्दीन ने इस क्षेत्र पर आक्रमण करके महलदेव को मार डाला और पूरे क्षेत्र अपने अधिकार में कर दिया, इस तरह मालवा से परमार शासकों की सत्ता की इतिश्री हो गई।

जलालुद्दीन के बाद इस क्षेत्र पर मुहम्मद खिलजी, बहादुरशाह जफर, हुमायूँ, शेरशाह सूरी, अकबर, औरंगजेब का अधिकार रहा। बाद में इस क्षेत्र पर मराठों का आधिपत्य हो गया। सन् 1818 ईसवी में इस क्षेत्र पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।[57] वर्तमान समय में नान्दूर एक छोटे से गांव के रूप में आवासित है।

इस प्रकार पुरातात्त्विक नगर नान्दूर का राजनीतिक इतिहास उद्घाटित हुआ है। इससे स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि नान्दूर पूर्व मौर्य काल से लेकर पूर्वमध्यकाल तक एक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक महत्व के नगर के रूप में विद्यमान रहा।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. नई दुनियाँ : रविवारीय विशेषांक, 15 मई, 1983 ई. पृ. 5
2. वही : पृ. 5
3. सुखसम्पति राय भण्डारी : हिस्ट्री ऑफ मालवा : भाग-1, पृ. 45
4. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव एवं एम. श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 146
5. वही : पृ.146
6. वही : पृ.147
7. एफ. ई. पार्जिटर : द पुराण टेक्स्ट ऑफ द डायनेस्टीज ऑफ कलिएज, 1962 ई., नई दिल्ली, पृ. 20-21
8. नई दुनियाँ : रविवारीय विशेषांक, 15 मई, 1983 ई. पृ. 5
9. वही : पृ. 5
10. वही : पृ. 5
11. वही : पृ. 5
12. वही : पृ. 5
13. वही : पृ. 5
14. वही : पृ. 5
15. वही : पृ. 5
16. वही : पृ. 5
17. वही : पृ. 6
18. वही : पृ. 6
19. वही : पृ. 5
20. वही : पृ. 5
21. शेफाली भट्टाचार्य : मालवा क्षेत्र के जनपदीय सिक्कों का अध्ययन, विशेषकर विदिशा, एरण तथा अन्य केन्द्र के संदर्भ में, 1981 ई., अप्रकाशित शोध : सागर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र., पृ. 27
22. वही : पृ. 28
23. वही : पृ. 28
24. कैलाशचन्द्र जैन : मालवा थ्रू दि एजेज, पृ. 9

25. वही : पृ. 10
26. वही : पृ. 7
27. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव एवं एम. श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 509
28. बी.एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. 212
29. वही : पृ.212
30. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव एवं एम. श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 85
31. बी.एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. 227-228
32. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव एवं एम. श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 97
33. गिरिशचन्द्र शुक्ल : भारतीय इतिहास, 1994 ई., इलाहाबाद, पृ. 155
34. वही : पृ. 158
35. हर्षचरित्र : 6/35; मालविकाग्निमित्र : 1/78, मत्स्यपुराण : 4/3/39
36. बी.एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. 447
37. वासुदेव उपाध्याय : प्राचीन भारतीय अभिलेख, प्रथम भाग, पृ. 276-278
38. वही : पृ. 271-275
39. नई दुनियाँ : रविवारीय विशेषांक, 15 मई, 1983 ई. पृ. 5
40. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव एवं एम. श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 233
41. शांति मिश्रा : मालवा का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 41
42. वासुदेव उपाध्याय : प्राचीन भारतीय अभिलेख, प्रथम भाग, पृ. 300-302
43. नीलिमा तिमोधी : पूर्वी मालवा क्षेत्र से प्राप्त सिक्कों का अध्ययन, पृ. 59
44. नई दुनियाँ : रविवारीय विशेषांक, 15 मई, 1983 ई. पृ.6
45. कैलाशचन्द्र जैन : मालवा थ्रू दि एजेज, पृ. 233
46. कार्पस इस्क्रिपशनम् इंडिकेरम, खण्ड 9, पृ. 18
47. वासुदेव उपाध्याय : प्राचीन भारतीय अभिलेख, प्रथम भाग, पृ. 311-313
48. नई दुनियाँ : रविवारीय विशेषांक, 15 मई, 1983 ई. पृ. 6
49. वासुदेव उपाध्याय : प्राचीन भारतीय अभिलेख, प्रथम भाग, पृ. 315-317
50. नई दुनियाँ : रविवारीय विशेषांक, 15 मई, 1983 ई. पृ. 6
51. वासुदेव उपाध्याय : प्राचीन भारतीय अभिलेख, प्रथम भाग, पृ. 317
52. वासुदेव उपाध्याय : प्राचीन भारतीय अभिलेख, प्रथम भाग, पृ. 338-339
53. वही : पृ.341-342
54. राधामुकुन्द मुखर्जी : दि गुप्त इम्पायर : 1977 ई, नई दिल्ली, पृ. 173
55. वही : पृ.175
56. एपिग्राफिका इंडिका : खण्ड 6, पृ. 294-296
57. कैलाशचन्द्र जैन : मालवा थ्रू दि एजेज, पृ. 271

प्राचीन मध्यप्रदेश में सूर्य पूजा

आर.पी. सिंह

रात्रि के गहन अंधकार को अपनी रश्मियों से दूर कर संसार को प्रकाशित करने वाले सूर्य की उपासना वैदिक काल से ही प्रचलित रही है। यहाँ तक कि प्रागैतिहासिक मानव भी गुफाओं की भित्तियों पर सूर्य के प्रतीक को चिन्हित करते थे। इस प्रकार का अंकन सिहनपुर (रायगढ़, छतीसगढ़) की गुफाओं में दर्षित है।[1] वैदिक ऋचाओं में सूर्य को देवताओं का मुख एवं मित्र एवं वरूण का चक्षु भी कहा गया है। चक्षु का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वह मनुष्य के शुभ-अशुभ कार्यो को देखता, मनुष्यों को निर्दोषित घोषित करता और उन्हें निष्पाप भी बनाता है। सूर्य आदित्य और ग्रह के रूप में पूजित थे। यहाँ तक कि स्वास्थ्य से भी सूर्य का स्वाभाविक सम्बन्ध है, जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे।

आदिकाल से ही मानव प्राकृतिक शक्तियों द्वारा प्रभावित एवं आतंकित होता रहा है। संभवतः इसीलिए अग्नि, मेघों के अधीश्वर, इन्द्र, वायु, समुद्र के स्वामी वरूण एवं प्राणीजन को प्रकाश द्वारा जीवन दान देने वाले आदित्य की उपासना करना मानव मात्र का परम कर्तव्य हो गया। इन समस्त प्राकृतिक शक्तियों में सूर्य प्रमुख हैं।

अतः उनकी महत्ता अनिवार्य तत्व बन गयी। कालांतर में इन्द्र, अग्नि, वरूण आदि वैदिक देवता गौण होते गये, परन्तु सूर्य पौराणिक त्रिमूर्ति के साथ तादात्म्य स्थापित कर 'हरिहर हिरण्यगर्भ पितामह' की संज्ञा से आविर्भूत हुए। पौराणिक ग्रंथों एवं शिल्पशास्त्रों में पंचायतन पूजा का उल्लेख मिलता है। इनमें विष्णु शिव, शक्ति, गणेश एवं सूर्य की गणना की गई है।[2] यही कारण है कि मध्ययुगीन मंदिर निर्माण की प्रक्रिया में वैष्णव, शैव, शाक्त एवं सौर मंदिरों के निर्माण न केवल उत्तर भारत वरन् दक्षिण भारत तक होते रहे।[3]

ग्रह मण्डल के अधीष्वर के रूप में सूर्य की स्थापना उसके लोकपूजित होने का सबल प्रमाण है। इस रूप में सूर्य का उत्कीर्णन मंदिरों के द्वार उत्तरंग में उत्कीर्ण ग्रहपट्ट में अनिवार्य रूप से हुई है।[4] सूर्य यद्यपि कि वैदिक कालीन देवता है किन्तु उनके प्रचार-प्रसार में विदेशियों का भी पूर्ण सहयोग रहा। सूर्योपासना में पहले पूजा के विषय प्रतीक थे। मानव कृति मूर्तियाँ पीछे व्यवहार में आयी। सूर्य के प्रतीकों में चक्र, वृत्ताकार सुवर्ण पात्र, कमल आदि मुख्य थे।

प्रारम्भ में सूर्य सम्प्रदाय किसी समय पश्चिमी भारत में ही प्रचलित था, किन्तु शीघ्र ही यह पूर्वी भारत तक फैल गया। पूर्वी भारत तक का यह विस्तार बिना मध्य भारत को स्पर्श किये हो ही नहीं सकता था। सूर्य मूर्तिकला पर चर्चा करना हमारा उद्देश्य नहीं है, हमारे चर्चा का विषय सूर्य पूजा है। किन्तु यहाँ हम उस पर हल्का सा दृष्टिपात करना चाहेंगे। सूर्य मूर्तियों के दो सम्प्रदाय विकसित हुए। एक औदीच्य और दूसरी

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 141-145*

दक्षिणात्य। औदीच्य में पश्चिमोत्तर देशों का बाह्य प्रभाव, विशेषकर वेश में परिलक्षित होता है। दक्षिणात्य में भारतीयता की प्रधानता है, परन्तु मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से दोनों में पूर्ण भारतीयता है। मूर्तियाँ भी दो प्रकार की हैं। एक रथारूढ़ एवं दूसरी स्थानक अथवा खड़ी। रथारूढ़ मूर्तियों में एक चक्र वाला रथ होता है, जिसको एक से लेकर सात अश्व खींचते हैं। कालान्तर में सप्तअश्वरथ ही अधिक लोकप्रिय हुए। सारथि अरूण (जिसके पॉव नहीं होते) रथ का संचालन करता है। रथ तम के प्रतीक राक्षसों के ऊपर से निकलता हुआ दिखाया गया है। सूर्य के दोनों पार्श्व से ऊषा एवं प्रत्युषा (ऊषा के दो रूप) धनुष से आकाश पर बाण फेंकती हुई अंकित की जाती है। दोनों ओर दो पार्षद दण्डी (दण्ड लिए हुए) और पिंगल अथवा कुण्डी (मसीपत्र लेखनी लिये हुए) भी दिखाये जाते हैं। कभी-कभी मूर्तियों में सूर्य की पत्नियों और पुत्रों का भी जो सभी प्रकाश के प्रतीक हैं, का अंकन मिलता है। औदीच्य सूर्य मूर्तियों के पाँवों में भारी-भरकम जूते, चुस्त पाजामा, भारी अंगा, चौड़ी मेखला, किरीट (मुकुट) और उसके पिछे प्रभामण्डल का अंकन होता रहा है। कहीं-कहीं कंधे से दोनों ओर दो पंख भी जुड़े होते हैं जो सूर्य के वैदिक गरूत्मान रूप के अवषेश हैं। हाथों में देखे तो दाहिनें हाथ में कमल अथवा कमल दण्ड और बाये में खड्ग दिखायी देता है। दक्षिणात्य मूर्तियों की विषेशता कमलस्य नग्न पैर, धोती और पूर्णतः अभिव्यक्त (खुला) शरीर।

सूर्य के विवाह की कथा मार्कण्डेय पुराण में अत्यंत मनोरंजक रूप से दी गई है। इसके अुनसार विश्वकर्मा ने अपनी पुत्री संज्ञा का विवाह विवस्वान (सूर्य) के साथ किया। परन्तु संज्ञा सूर्य का तेज सहन न कर सकी, अतः उनके पास अपनी छाया को छोड़कर पितृगृह लौट गयी। विश्वकर्मा ने खराद पर चढ़ाकर सूर्य के तेज को थोड़ा कम कर दिया, जिससे संज्ञा उसको सहन कर सके। सूर्य की चार पत्नियाँ हैं - संज्ञा, राज्ञी, प्रभा और छाया। संज्ञा से मुनि की उत्पत्ति हुई। राज्ञी से यम, यमुना और रेवन्त उत्पन्न हुए। प्रभा से प्रभात, छाया से सावर्णि, शनि और तपती का जन्म हुआ।[5]

प्राचीन भारत के लगभग सभी क्षेत्रों में सूर्योपासना का प्रचलन रहा है। विवेच्य क्षेत्र मध्य प्रदेश भी इससे अछूता नहीं रहा है। मध्य प्रदेष में सूर्योपासना के उदाहरण चहुँओर दिखाई देते हैं, जो गुप्तकाल से प्रारम्भ होकर आने वाली शताब्दियों में और अधिक लोकप्रिय हुए। मध्यप्रदेश में सूर्योपासना से सम्बन्धित सर्वाधिक पुराना ऐतिहासिक कालीन साक्ष्य गुप्त युगीन प्राप्त हुआ है। एरण से गुप्त कालीन सूर्य प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। एक प्रतिमा नावघाट स्थित हनुमान मंदिर समूह के समीप स्थापित है। यह प्रतिमा द्विभुजी है, जिसकी दोनों भुजायें खण्डित हैं यद्यपि दाहिनी भुजा में धारण किया गया सनाल कमल दृष्टत्य हैं। सूर्य को उत्कुटिकासन मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। इस खण्डित प्रतिमा में सूर्य रथ में जुते तीन अश्व ही दृष्टव्य हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रथ में मूलतः सात अश्व जुते होंगे। इस प्रतिमा का मुखमण्डल भग्नावस्था में है। एरण से ही गुप्तकालीन मंदिर से सप्तअश्व रथारूढ़ स्थानक सूर्य प्रतिमा भी प्राप्त हुई है। जो चतुर्भुजी है। इसके अतिरिक्त एक परवर्ती युग की भी सूर्य प्रतिमा एरण के पुराने हनुमान मंदिर के चबुतरे में खण्डित रूप में प्राप्त हुई है। मन्दसौर से प्राप्त 436 ई. के कुमारगुप्त के अभिलेख में लाट देश से आये बुनकरों की श्रेणी द्वारा एक सूर्य मंदिर के बनवाये जाने का उल्लेख मिलता है। इस श्रेणी ने, ना केवल मंदिर निर्माण कराया अपितु उसका पुनरूद्धार भी कराया था, जिसका वर्णन इस अभिलेख में किया गया है।[6]

ग्वालियर से प्राप्त मिहिरकुल के पन्द्रहवें शासनवर्ष के लेख में सूर्य मंदिर के निर्माण का वर्णन प्राप्त होता है।7 यह लेख एक टुटी पट्टिका पर अंकित है, जो ग्वालियर दुर्ग में स्थित एक सूर्य मंदिर के मण्डप की दीवार में लगी पाई गई थी। इस समय यह इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता में रखी हुई है। लेख धर्म प्रधान है, जो सूर्य की स्तुति से आरम्भ होता है। तोरमाण सूर्योपासक था, अतः उसने अपने पुत्र का नाम मिहिर (सूर्य) रखा था। अभिलेख का प्रयोजन मातृचेट द्वारा गोप नामक पर्वत पर एक सूर्य मंदिर के निर्माण का लेखन है।

सूर्योपासक नरेशों में वर्धन वंशीय राजाओं का नाम भी लिया जा सकता है। हर्षवर्धन के तीन पूर्वजों को उसके अभिलेखों में उन्हें परमादित्य भक्त कहा गया है। यद्यपि कि स्वयं हर्षवर्धन बौद्ध धर्मानुयाई था, किन्तु उसने अपने पूर्वजों के धर्म का पूर्ण परित्याग नहीं किया था। उसकी एक पंच वर्षीय धार्मिक सभा, जिसमें हनेवसांग उपस्थित रहा था, में बुद्ध और शिव की प्रतिमा के साथ-साथ सूर्य की प्रतिमा भी स्थापित कराया था।[8]

गुप्तोतर युग में भी सूर्योपासना के लोकप्रियता की लहर मध्यप्रदेश में मन्द नहीं पडी। यहाँ तक कि एक बार जब सूर्य देवपद को प्राप्त कर मुख्य देवों की श्रेणी में आ गये, तब उनके परिवार एवं अनुचरों की कल्पना और उनका शिल्पांकन स्वभाविक ही था।

मध्यप्रदेश के नागौद-भूमरा से प्राप्त गुप्त कालीन सूर्य प्रतिमाओं पर कुषाण काल की भॉति विदेशी प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें सूर्य को रथारूढ़ नहीं प्रदर्शित किया गया है, अपितु सूर्य अलग खडी मुद्रा में है। इनके साथ में क्रमशः दण्ड, कमल, लेखनी, दावात लिए विदेशी परिधान में दण्डी तथा लम्बे कोट एवं जूते पहने पिंगल प्रदर्शित है।[9]

मध्यप्रदेश के छतरपुर के बस स्टेण्ड के पास एक सूर्य मंदिर प्राप्त हुआ है। इसका निर्माण काल 9वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर 10वीं शताब्दी के प्रथमार्ध प्रतीत होता है। मंदिर मण्डप तथा गर्भगृह युक्त है। गर्भगृह में भग्नावस्था में सूर्य स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित है। सूर्य के पादपीठ पर सप्तअश्वरथ बना हुआ है जिस पर सूर्य आरूढ़ दिखाये गये है। यह मंदिर खजुराहों के चित्रगुप्त मंदिर का पूर्ववर्ती है।[10]

विश्वप्रसिद्ध कला केन्द्र खजुराहों से एक चन्देल युगीन सूर्यमंदिर प्राप्त हुआ है जो चित्रगुप्त मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मंदिर सूर्य की उपासना में बना है। पश्चिमी समूह के मंदिरों में यह अत्यंत मनोहर है।[11] यह सूर्य मंदिर जगदम्वी (विष्णु मंदिर) से सटा हुआ है। इस मंदिर का निर्माण संभवतः धंग के उत्तराधिकारी पुत्र गण्ड के शासन काल में हुआ था। धुवेला, तथा अचट नामक ग्रामों से भी सूर्य प्रतिमा प्राप्त हुई है।

छतरपुर के अतिरिक्त टीकमगढ़ जिले के उमरी नामक ग्राम से भी सूर्य मंदिर प्राप्त हुआ है। उमरी सागर-टीकमगढ़ राजमार्ग पर स्थित बड़गाँव से 8 कि.मी. दूर है। ऊँची जयती पर निर्मित यह मंदिर गाँव के बाहर दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित है। मंदिर का निर्माण पंचरथ योजना में मण्डप, अंतराल, गर्भगृह युक्त किया गया है। गर्भगृह में सूर्य का प्रदर्शन स्थानक मुद्रा किया गया हैं।[12] धार्मिक समन्वय सौर सम्प्रदाय की विशिष्टता प्रतीत होती है। मंदिर में सूर्य के साथ-साथ नृवहराह, नृसिंह, गणेश, यम, वायु, अग्नि एवं इन्द्राणी का भी अंकन किया गया है। इसके अतिरिक्त टीकमगढ़ जिले के ही जतारा तहसील के मढ़खेरा गाँव से सूर्य मंदिर प्राप्त हुआ है। यह नौवी शताब्दी का प्रतीत होता है। अभिलेख विहीन होने के कारण इसके निर्माण कार्य की सूचना अप्राप्त है। ललाटबिम्व में सूर्य उत्कटासीन मुद्रा में प्रदर्शित है। सूर्य के साथ-साथ गणेश, सप्तमातृकायें, विष्णु, नृसिंह, चामुण्डा, यम, वामन, अग्नि, वराह एवं कुबेर की प्रतिमायें उत्कीर्ण है। सूर्य अपने पूरे परिवार के साथ प्रदर्शित किये गये है। मंदिर की वाह्य भित्ति पर भी सूर्य सप्तअश्वरथारूढ़ उकडू प्रदर्शित है।[13]

सागर जिले से एरण के अतिरिक्त भी सूर्य मंदिर तथा सूर्य प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं, इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रहली का सूर्य मंदिर है। यह मंदिर वर्तमान में अपने मूलरूप में तो नहीं है किन्तु मूलमंदिर के ध्वंशावरोशों की सामग्रियों से वर्तमान मंदिर का निर्माण कराया गया है।[14] वर्तमान मंदिर मराठा कालीन है। मंदिर के गर्भगृह में स्थित सूर्य प्रतिमा कलचुरी कालीन है। मंदिर सुनार नदी के तट पर स्थित है। मंदिर में सूर्य के साथ-साथ शैव एवं वैष्णव धर्म से सम्बन्धित प्रतिमायें भी हैं। द्विभुजी सूर्य सप्तअश्वरथारूढ़ है। नवग्रह पूजन का विधान भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। ग्रहों के स्वामी के रूप में सूर्य की मान्यता सर्वव्यापी रही है। रहली का सूर्य मंदिर भी इससे अछूता नहीं है। यहाँ से एक नवग्रह पट्ट्ट मिला है। यह पट्ट्ट वर्तमान में डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, मध्यप्रदेश के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व

के संग्रहालय में संरक्षित है। सागर जिले के ही खुरई तहसील के ग्राम माउलखास से एक सूर्य मूर्ति प्राप्त हुई है, जो वर्तमान में जिला पुरातत्व संग्राहालय सागर में संरक्षित है। इसमें सूर्य स्थानक मुद्रा में हैं, तथा पाठ पीठ पर सप्तअष्वरथ विद्यमान है। सूर्य मूर्ति का मुख्य भाग क्षतिग्रस्त है। सूर्योपासना के उदाहरण सागर के सीमावर्ती जिला दमोह से भी प्राप्त हुआ है। इसमें दोनी ग्राम से प्राप्त सूर्य प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ से प्राप्त सूर्य मूर्तियों से एक में सूर्य, ब्रहमा एवं महेश का उत्कीर्णन हुआ है। एक प्रतिमा में सूर्य सम्भंग मुद्रा में प्रदर्शित किये गये है जिनके दाहिने हाथ में त्रिशूल, नाग या लिली और अक्षमाला है, दाहिने हाथ में चक्र, सनाल कमल एवं शंख का अंकन किया गया है।[15] इसके अतिरिक्त पन्ना जिले के अजयगढ़ किला में भी सूर्य की प्रतिमा प्राप्य है।

उपरोक्त स्थलों से सूर्य प्रतिमाओं की प्राप्ति सूर्योपासना की व्यापकता को प्रकट करती है। सूर्य एक समन्वयकारी देव के रूप में प्रतिष्ठित थे। यही कारण है कि विभिन्न सम्प्रदाय पूजकों के मध्य समन्वय के प्रतीक रूप में उनका अंकन शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश आदि के साथ पाया जाता है। प्रायः सूर्य शिव एवं विष्णु के मध्य उकेरे गये हैं। कलचुरि काल में कलाकारों ने सूर्य मुख के साथ-साथ समन्वय के लिए शिव एवं विष्णु की मुखाकृति न बनाकर बृषभ एवं गरूड़ का अंकन उनके प्रतीक रूप में किया है।

सूर्य न केवल प्रकाशदाता एवं जीवन रक्षक हैं, अपितु वे प्रकृति के नियामक तत्वों के सर्जक भी हैं। वे शक्ति, आभा तथा आरोग्य प्रदाय लक्षणों के प्रत्यक्ष रूप हैं। मानव तथा अन्य प्राणियों के साथ सम्पूर्ण वनस्पतिजगत् के पोषक एवं संवर्धक हैं। सूर्य के इन्हीं निर्विवाद गुणों के कारण उनकी मान्यता संसार के अत्यंत प्राचीन देशों-मिश्र, मेसोपोटामिया, भारत, चीन, ईरान आदि में मिलती है।[16] वर्तमान जीवन में अभिरूचि ही अतीत के अनुसंधान के किए प्रेरित करती है और इस प्रकार आतीत तथ्य वर्तमान जीवन के हितों के साथ संयुक्त हो जाता है और विभिन्न परिस्थितियों का समाधान प्रस्तुत करता है। इसी सन्दर्भ में सूर्योपासना आध्यात्मिक शांति तथा भौतिक समृद्धि का माध्यम प्रतीत होती है। वर्तमान युग में सूर्य के महत्व को वैज्ञानिक परिवेश में परखा जाने लगा है। चिकित्सा के क्षेत्र में सूर्य स्नान और सूर्य किरण चिकित्सा अत्यंत लोकप्रिय हो रही है। विटामिन डी का प्रमुख आधार सूर्य ही है। आधुनिक वैज्ञानिक ऊर्जा संकट का स्थायी हल सौर ऊर्जा क्षेत्र में ही देख रहें हैं तथा इसके लिए अनवरत प्रयोग किये जा रहे हैं। इस प्रकार आध्यात्म एवं विज्ञान दोनों ही दृष्टियों से सूर्य हमारे साक्षात् एवं शास्वत देव है।

सूर्य प्रतिमा रहली, सागर

सूर्य प्रतिमा माउलखास, सागर

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. गया प्रसाद पाण्डेय, सन वर्शिप इन ऐशियण्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 1992, पृ. 190
2. शशिबाला श्रीवास्तव, मध्ययुगीन मंदिर वास्तु के संदर्भ में सूर्य मूर्तियाँ, पुरातन, अंक 5, 1987, पृ. 46
3. वही, पृ. 46
4. ग्रहराजो रवि : कायां ग्रैहवो परिवारित : मत्स्य पुराण, इ.एच.आई. वाल्यूम 2, प्रतिमालक्षणानि, पृ. 88
5. राजबली पाण्डेय, हिन्दू धर्म कोश, लखनऊ, तृतीय संस्करण, 2003, पृ. 676-77
6. आर.सी. मजूमदार, श्रेण्ययुग, दिल्ली, 1994, पृ. 493-95, परमेश्वरी लाल गुप्त, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, वाराणसी, पंचम संस्करण, 2008, पृ. 102-13
7. कृष्णदत्त बाजपेयी, ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, जयपुर, 1992, पृ. 201-02
8. आर.सी. मजूमदार, पूर्वोद्धृत, पृ. 494
9. सुरेश व्रत जी राय, सूर्य-पूजा की व्यापकता, कल्याण, सूर्य अंक, वर्ष 53, सं. 1 गोरखपुर, पृ. 410-13
10. विहारी लाल आचार्य, छतरपुर का सूर्य मंदिर, मध्य प्रदेश संदेश, भोपाल, अगस्त, 1993, पृ. 36-38
11. केशव चन्द्र मिश्र, चन्देल और उनका राजत्व काल, वाराणसी, संवत् 2011, पृ. 241
12. एस.एस. यादव, मध्यप्रदेश संदेश, भोपाल, अप्रैल, 1989, पृ. 17-18
13. वही, पृ. 17-18
14. जी.एल. रायकवार, रहली का सूर्य मंदिर, भोपाल, 1984, पृ. 7-8
15. रत्नेश सॉलोमन एवं धीरेन्द्र सिंह सोलंकी, विस्मृत दमोह, उज्जैन, 2002, 145-48
16. कृष्णदत्त बाजपेयी, भारतीय पुरातत्व में सूर्य, कल्याण, सूर्य अंक, वर्ष 53, सं. 1, गोरखपुर, पृ. 423-25

सच्चिदानंद ब्रह्म और आनंद-विद्या

सविता गुप्ता

तत्त्व अन्वेषण की प्रत्यक्-विश्लेषण-प्रवण प्रणाली से मनुष्य को आत्म तत्त्व के रूप में अन्तःस्थित सत्य प्राप्त हुआ तो पराक् बाह्य जगत् के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से परम तत्त्व मिला ब्रह्म। ब्रह्म के स्वरूप विवेचन को लेकर विभिन्न विचारकों के मतानुसार अनेक धारणाएँ विकसित हुई। जिन्होनें अपनी पूर्ववर्ती विषयक चरम तत्त्व की धारणा की अपेक्षा अधिक स्पष्ट व्याख्या की। अन्ततः निर्गुण ब्रह्म की धारणा विकसित हुई और सुदृढ़ बनी। इसी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन सच्चिदानंद रूप से किया गया जिसमें सत्, चित् और आनंद अखण्डैक रस है। ब्रह्म[1] शब्द 'वृह' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है वृद्धि। 'वृह' धातु से व्युत्पत्ति सिद्ध ब्रह्म नित्यत्व, शुद्धत्व, प्रकाशत्व, रसत्व, निरतिशयत्व आदि अर्थ का भी द्योतक है। ब्रह्मनंद सरस्वती[2] शुद्ध की व्याख्या करते हैं कि ब्रह्म राग-द्वेषादि अशुद्धि से रहित है। ब्रह्म के शुद्ध होने का तात्पर्य उसके निर्धर्मक होने से भी है। ब्रह्म निराकार, निर्विकार, निर्विशेष, निर्गुण, अविनाशी, सत्, चैतन्य व आनंद स्वरूप है। उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप के विश्लेषणाधार पर मुख्यतः पाँच पक्ष दृष्टिगोचर होते है - एकत्व या अद्वयत्व, सत्व, चित्व, आनंदत्व और निर्गुणत्व। उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण विधि और निषेध दोनों ही रूपों से किया है। विधि रूप में ब्रह्म सब कुछ और समग्र संसार के कारण का मूल स्त्रोत होने के साथ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्त्ता, सर्वान्तर्यामी आदि गुणों से युक्त है। वहीं निषेध रूप में 'नेति-नेति' (वह यह नहीं है) कह कर उसका प्रतिपादन किया है। निषेध वाक्य निर्गुण ब्रह्म और विधि वाक्य सगुण ब्रह्म के प्रतिपादक है जो ब्रह्म के पर और अपर रूप को बताते है। इसके साथ ही ब्रह्म का संकेत देने के लिए उसके स्वरूप और तटस्थ लक्षणों का उल्लेख भी उपनिषदों में मिलता है। स्वरूप लक्षण वह हैं जो तत्त्व की वास्तविक प्रकृति का संकेत देते हैं और तटस्थ लक्षण तत्त्व की प्रकृति नहीं बताते बल्कि उसकी ओर अभिमुख करने का संकेत करते है। स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत ब्रह्म का सच्चिदानंद होना आता है एवं जगत को लेकर ब्रह्म में जितने भी विश्लेषण (सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता, संहारकर्त्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान इत्यादि) लगाये जाते हैं वह ब्रह्म के तटस्थ लक्षण कहलाते हैं।

I

ब्रह्म का स्वरूप है ''सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म''[3] सत्य, ज्ञान और अनन्त। अनन्तता में आनंद भी है। दोनों में कोई भेद नहीं है इसलिए कहीं-कहीं ब्रह्म को सच्चिदानंद भी कहा है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण से किन्हीं विशेष गुणों या धर्मों का प्रतिपादन नहीं वरन् विरोधी धर्मों का निवारण किया जाता है। सत् पद असत्, चित्

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 146-150*

(ज्ञान) पद अज्ञान तथा अनन्त पद अशान्ति का निवारक है। ये तीनों लक्षण अलग-अलग नहीं वरन् एक ही हैं। ब्रह्म अद्वय है। जो सत् है वही चित् (ज्ञान) है और वही आनंद भी है। ये तीनों एक साथ मिलकर ब्रह्म की ओर संकेत करते हैं।

'सत्' सत्तार्थक भावचन है जो 'अस् भुवि' धातु से शतृ प्रत्यय लगाकर निश्पन्न होता है जिसका अर्थ है विद्यमान। जो असत् का विरोधी होने के साथ अविद्यमानता का प्रतिपक्षी है। अतः सत् में 'नित्यता' भी है। सर्वोपनिशदत्सार में कहा है कि अविनाशी वस्तु सत् है। नाम-देशकालादि का नाश होने पर भी जो नष्ट नहीं होता, जिसका कभी ध्वंस नहीं एवं होता जो सदा एक सा रहे वही सत् है। शंकराचार्य [4]सत्य की व्याख्या करते हैं जिस रूप में पदार्थ अनुभूति का विषय बनता वह रूप कभी अन्यथा न हो, व्यभिचरित न हो तो वह पदार्थ सत्य कहलाता है। सत्य बाध रहित[5] भी होता हैं। बाध रहित का तात्पर्य कभी निषेध न होने से है। संसार की समस्त वस्तुओं का निषेध हो जाता है। सभी के निषेध पश्चात् जो शेष रहता है वही सत्य है। त्रिकालाबाध्य होना, भावरूप होना और शून्य से विपरीत होना ही सत्य हैं। तीनों ही लक्षणों का ब्रह्म में समावेश होने से एकमात्र ब्रह्म ही सत् हैं। सत् के साथ वह निरपेक्ष, नित्य एवं अपना अधिष्ठान स्वयं है।

ब्रह्म सत् के साथ चित् स्वरूप भी है। चित् ज्ञान स्वरूपता का बोधक होने के साथ जड़त्व का निषेधक भी है। चित् शब्द 'चिती सन्ज्ञाने' धातु से क्विप प्रत्यय से निष्पन्न होता है। सन्ज्ञान का अर्थ जीवन, चेतना एवं अनुभव है। जगत् के चराचर पदार्थों में ज्ञानशून्य अचर (जड़) से विपरीत होना संज्ञान का मर्म एवं ब्रह्म का चित् होना है। जो सम्पूर्ण ज्ञानों के, समस्त वृत्तियों के मूल में अद्वितीय ज्ञान स्वरूप सत्ता है वह चित् है। वही चैतन्य का उत्स है। श्रुति [6] में कहा है ब्रह्म चिन्मात्र है, चिदेक रस है, उत्पत्ति विनाश रहित, अप्रतिहत चैतन्य है। उसे प्रज्ञा रूप से जाने। विज्ञान ही ब्रह्म है। चित् की जीवन, ज्ञान और प्रकाश त्रिविध अभिव्यक्तियां है। चेतन की संकुचित शक्ति जड़ता है। जीवन रहित वस्तु जड़ है। जीवन का उद्‌घाटन प्राण, मन व बुद्धि द्वारा संभव नहीं। प्राण देह निर्मित करने वाले भूतों में एक वायु स्वरूप है जो स्वयं किसी के द्वारा नियंत्रित है। मन और बुद्धि समस्त स्थूल भूतों के सूक्ष्म रूप से बने होने के साथ अपना संयोग किसी देह के साथ रखने या हटाने में समर्थ नहीं हैं अतः इन सबसे परे स्थित सत् स्वरूप निरपेक्ष ब्रह्म ही जीवन का उत्स हैं। चित् में प्रकाश का तात्पर्य जड़ आलोक नहीं वरन् ज्ञानरूपता की अभिव्यक्ति के साथ अपने सम्पर्क में आने वाले सभी को स्पष्ट अभिव्यक्त एवं ज्ञानगम्य बना देना है। ज्ञान में स्वयं प्रकाशत्व भी है। अपनी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा ना रखना, किसी का ज्ञेय या प्रकाष्य न होते हुए अपरोक्ष व्यवहार के योग्य होना स्वयं प्रकाशत्व है।[7] ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी से परे नित्य ज्ञान स्वरूप है।

ब्रह्म सत्, चित् के साथ अनन्त स्वरूप है। शंकराचार्यानुसार अनन्त शब्द ब्रह्म के अन्तत्व का प्रतिबोध करने हेतु है। वस्तु, देश और कालानुसार अनन्तता भी तीन प्रकार की है। व्यापक होने के कारण ब्रह्म में देशगत, नित्य होने से कालगत और सबकी आत्मा होने से वस्तु परिच्छेद से परे होने के साथ तीनों ही प्रकार का आनन्त्य भी है।[8] अनन्तता के साथ ही आनन्द है। दोनों में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार सत् और सत्ता, ज्ञान और चेतना अभिन्न है उसी प्रकार अनन्तता व आनंद एक ही है। ब्रह्म का आनंद स्वरूप उसमें दुखाभाव के साथ उसके सुख-रूप का द्योतक है जो सम्पूर्ण सुखों का स्रोत है। वृहदारण्यक उपनिषद्[9] ब्रह्म के आनन्द स्वरूप को बताती है। ब्रह्म ही सर्वोच्च प्रिय एवं आनंद है। तैत्तिरीय उपनिषद्[10] में आनंद को सम्पूर्ण सृष्टि का स्त्रोत मानते हुए कहा है आनंद ही ब्रह्म है। इसी आनंद से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं उत्पन्न होने पर आनंद में ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही समा जाते हैं। ब्रह्म ही अद्वैत होने से स्वाभाविक परमानंद स्वरूप है जिसमें आनंद और आनंदी का अभेद है।

सत्, चित् एवं आनंद पदों के लक्ष्यार्थ परस्पर भिन्न नहीं वरन् उनमें अद्वय है। अतः सत्, चित् और आनंद तीन सत्ताएं नहीं। सत्ता ज्ञान के बिना और ज्ञान बिना सत्ता के नहीं होता। ज्ञान के बिना आनंद नहीं होता और आनंद के लिए उसका भासना (सत्ता) आवश्यक हैं। अतएव सत्, चित् और आनंद का पृथकत्व संभव नहीं है। यह सत्, चित्, आंनद अद्वय तत्व सच्चिदानंद ब्रह्म हैं।

II

सृष्टि का मूल तत्व ब्रह्म है जो सच्चिदानंद स्वरूप है। सृष्टि का उद्गम स्त्रोत आनंद है और मनुष्य को आनंद-प्राप्ति कराना लक्ष्य भी। जीवात्म भी ब्रह्म स्वरूप होने से सत्, चिद् और आनंद स्वरूप हैं किन्तु अज्ञान वश अपने आनंद रूपी आत्मस्वरूप से विस्मृत चराचर जगत में विभिन्न भोग-विषयों का उपभोग करता हुआ स्वयं को सुखी और दुखी मानता हुआ शोक संतप्त रहता है। किन्तु वह इनसे परे जाकर एक ऐसे आनंद-प्राप्ति की अभीप्सा रखता है जो निर्बाध, अनादि, अनंत है। जिसे पाकर मनुष्य सदैव के लिए शोक-निवृत्त हो जाता और अपने आनंदमय स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

श्रुतियों में प्रतिपाद्य है कि मनुष्य के अज्ञान, अभिमान, शोक, मोह, परतन्त्रतादि की निवृत्ति ब्रह्म-विद्या के बिना नहीं हो सकती। यह ब्रह्म-विद्या, ब्रह्म-ज्ञान का हेतु है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म-विद्या की तीन प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है - छठे अध्याय में सद्-विद्या की सत्-प्रधान-प्रक्रिया, सातवें अध्याय में आनंद-विद्या (भूम-विद्या) की आनंद-प्रधान-प्रक्रिया और आठवें अध्याय में चिद्-विद्या की चिद्-प्रधान-प्रक्रिया। यह तीनों सत्, चित् और आनंद का साधन नहीं वरन् उनकी विधा है, उनके जानने की कला, उनके अधिगम की एक शैली है। सद्-विद्या का पात्र है श्वेत-केतु जो विद्याभिमानी है। आनंद-विद्या (भूम-विद्या) के पात्र नारद हैं जिनमें अभिमान का दोष नहीं हैं किन्तु वे शोक-निवृत्ति हेतु सविनय जिज्ञासु है और चिद्-विद्या के पात्र इन्द्र हैं जो भोगी होने पर भी धैर्यशील हैं उनका विचार जागृत है और एक सौ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके भी तत्त्वजिज्ञासा बनाये रखते हैं। सद्-विद्या के प्रकाशक श्वेतकेतु के पिता आरूणि, आनंद-विद्या के सनतकुमार और चिद्-विद्या श्री ब्रह्म जी इन्द्र को प्रदान करते है। इन तीनो विद्याओं से मिलकर ही छान्दोग्य उपनिषद् की ब्रह्म-विद्या पूर्ण होती है जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर अपने सच्चिदानंद स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में सनतकुमार ने नारद के लिए आनंद-विद्या का उपदेश कर सम्पूर्ण मानव जाति के लिए परमानंद प्राप्ति की विधा का प्रकाशन किया है। नारद सनत्कुमार संवाद ऋषिलोक में है। ब्रह्म के मानस पुत्र देवर्षि नारद ने समस्त कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करने के साथ सारी विद्याएँ भी प्राप्त कर लीं। तत्पश्चात् भी उनके कर्म और विद्या से उनकी शोक-निवृत्ति नहीं हुई। अतएव नारद शोक-निवृत्ति हेतु सनत्कुमार के समक्ष सविनय जिज्ञासु हैं। नारद को सनत्कुमार आनंद-विद्या का जो उपदेश देते हैं वहीं परमानंद का ज्ञान है एवं आत्मा के निरतिशय श्रेय का साधन भी। आनंद-विद्या का उपदेश है - यो वै भूमा तत् सुखम्''[11] अर्थात् जो भूमा है, व्यापक, विभु है, वही सुख है, आनंद है। जो भूमा होगा वह स्वतंत्र होगा। वस्तुतः सारे दुख के मूल में परतंत्रता ही है। ये परतन्त्रता अज्ञान, इन्द्रिय, मोहादि की है। जैसे ही मनुष्य अपनी सारी परतन्त्रता से मुक्त हो जाता है वह व्यापक हो जाता है, भूमा हो जाता है। उसकी शोक-निवृत्ति हो जाती है। भूमा में पूर्णतः दुखाभाव है जिसे जानकर मनुष्य परमानंद को प्राप्त हो जाता है।

सनत्कुमार आनंद-विद्या की जो विधा बताते हैं वह शाखा-चन्द्र-न्याय के समान है। दूसरे के द्वारा दूसरे को दिखाने की विद्या को शाखा-चन्द्र-न्याय कहते हैं। जैसे वृक्ष की शाखा द्वारा चन्द्रमा का निर्देश किया जाता है। उसी तरह नामादि से प्रारंभ कर उसमे विशिष्ट भूमा तत्त्व का निर्देश किया जाता है। यहां शिखर बिन्दु

की प्राप्ति हेतु जैसे क्रमशः सोपान पर आरोहण करते है वैसे ही नाम से प्रारम्भ कर क्रम से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व वाक्, मन, संकल्प, चित्त, प्राणादि एक से एक विशिष्ट तत्त्व को बताकर उन सबसे विशिष्ट भूमा तत्त्व का निर्देश मात्र किया जाता है। ये सब उसकी ओर निर्देश मात्र करते है स्वयं उसे बताते नहीं। उसका ज्ञान नहीं कराते हैं क्योंकि शब्द नाममात्र होते है और इन्हीं से विभिन्न कर्मों का सम्पादन होता है। सारा व्यवहार शब्द द्वारा ही सम्पादित है। शब्द और उसका अर्थ, अभिधान-अभिधेय से विकार है अतः आत्मा नहीं है और इनसे भूमा को जाना भी नहीं जा सकता। नारद ज्ञानी थे परन्तु आत्मज्ञान नहीं होने से शोक संतप्त थे। अत वे शोक निवृत्ति हेतु सनत्कुमार के शरणागत हुए। सनत्कुमार नारद को आनंद-विद्या का उपदेश करते है - नारद। अब तक जो कुछ जाना गया है एवं व्यवहार में जो कुछ जाना गया है वह सब नाम ही है। नाम विकार है यथा-घट क्या है? कलश, कलश क्या है? कुम्भ? कुम्भ क्या है तो घड़ा। इसी चक्कर में सारी सृष्टि पड़ी हुई है। इसी असत्य के माया जाल में लोग पड़ जाते है और सत् भूमा तत्त्व को नहीं देख पाते। विद्या-अर्जन पूर्व ताप-त्रय के कारण शोक होता है और पश्चात् में अभ्यास का बोझ, विस्मरण, गर्व और गर्व के भंग होने का भय-ये सब आ जाते हैं। हृदय में बहुत बड़ी शब्द वासना है उसका संक्षेप करना आवश्यक है। नाम ही ब्रह्म है। यह शुद्ध-अशुद्ध, रात-दिन, अंदर-बाहर, अधिकारी-अनाधिकारी को देखे बिना अपने आप रहता है। अतः केवल एक नाम ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

नाम का उच्चारण तो करने से होता है अतः नाम से कुछ बड़ा हो उसकी उपासना ब्रह्म-दृटि से करने का उपदेश सनत्कुमार करते हैं कि एक से एक बड़ा क्रमशः वाक्, मन, संकल्प, चित्, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मर (स्मृति) और आशा में ब्रह्म-दृष्टि करनी चाहिए। आशा में ब्रह्म दृष्टि करने से सारी कामनाएं पूर्ण होने के साथ जहाँ तक आशा की गति है वहाँ तक स्वच्छन्द गति हो जाती है। परन्तु आशा ही अंतिम सोपान नहीं है आगे प्राण है अतः प्राण में ब्रह्म-दृष्टि रखनी चाहिए। जो प्राण में ब्रह्म-दृष्टि रखता है वह सम्पूर्ण वेदों के ऊपर नाम से आशा पर्यन्त सब पदार्थों से अतीत होकर बोलता है मैं प्राण हूँ। प्राण भी विकार है अनृत है, अज्ञान है इसमें कोई आनंद नहीं क्योंकि यह व्यापक नहीं है। यहाँ शंका हो सकती है कि विकार भी सत्य ही है क्योंकि श्रुति में [12]कहा है नाम रूप सत्य है और उनके द्वारा यह प्राण ढक गया है। श्रुति[13] प्रमाण है कि प्राण ही सत्य है। यहां ध्यातव्य है कि श्रुतियों में इन्द्रियों की विषयापेक्षा से विकार को सत्य कहा गया है परमार्थापेक्षा में नहीं। अतः इन्द्रियों द्वारा बाह्य अनुभव से लेकर बुद्धि में सत्य अनुभव करना और बुद्धि के स्वप्रकाश अधिष्ठान का अनुभव करके सत्य जानना दो अलग तथ्य है। जिसे सद्-वस्तु का विज्ञान नहीं होता वह तेज, जल, अन्नादि को भी सद् रूप मानता है। परन्तु इन सबसे परे परमार्थ सत्य है। उसी का विज्ञान अपेक्षित है वही भूमा है, आनंद रूप है।

परम सत्य का विज्ञान मनन से होता है। मनन का तात्पर्य तर्क-वितर्क नहीं वरन् मति भाव है अर्थात् मन्तव्य विषय का आदर पूर्वक चिन्तन करना। मनन के लिए श्रद्धा और श्रद्धा के लिए निष्ठा आवश्यक है। निष्ठा इन्द्रियों के संयम और चित्त की एकाग्रता से होती है। इस तरह क्रमशः वृत्ति, निष्ठा, श्रृद्धा, मनन और विज्ञान होता है। विज्ञान ही सत्य को प्रकाशित करता है जो भूमा है, महान है। जिससे बड़ा और कोई नहीं है। जिसमें देश-काल-वस्तु, सजातीय-विजातीय, स्वगत् भेद का कोई बन्धन नहीं है। यही भूमा सुख है, आनंद है परमानंद है। छान्दोग्य [14]उपनिषद् में कहा है जो भूमा है, व्यापक है, वहीं सुख है, आनंद है। जो अल्प है वह सुख नहीं होता वह आनंद भी नहीं होता। कारण जो अल्प है उससे कुछ न कुछ वृहत् होता हैं अतएव अल्प सुख-तृष्णा की वृद्धि करता है। तृष्णा दुख का बीज है। अतः जिससे वृहत् कोई नहीं, जो व्यापक है वह भूमा ही

सच्चा सुख है, आनंद है। उसमें तृष्णादि दुख-बीजों की संभावना ही नहीं रहती है। वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। उसको प्रतिष्ठित होने के लिए किसी की भी आवश्यकता नहीं। वह प्रतिष्ठा एवं आश्रय रहित है।[15] वह भूमा ही नीचे है, ऊपर है, पीछे, सामने बायें है। इदम् के रूप में जो भी प्रतीति है वह सब भूमा ही हैं।[16] वह एक अजन्मा, आकाशवत्, सर्वत्र परिपूर्ण अन्य से सर्वदा मुक्त है - ऐसा अनुभव जो कर लेता है उसका अज्ञान सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है और शोक की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि शोक अज्ञान का कार्य है और जब कारण (अज्ञान) नहीं हो तो कार्य (शोक) कैसे रहेगा। ऐसा आत्मज्ञ, आत्मरति, आत्मक्रीङ, आत्ममिथुन और आत्मानंद हो कर जीवन काल में ही स्वराज्य पद पर अभिशिक्त हो परमानंद को प्राप्त हो जाता है।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र) 470003

सन्दर्भ -

1. *ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य। 1/1/1*
2. *शुद्ध .... रागद्वोय शुद्धि रहितम्। न्याय रत्नावली पृ. 8*
3. *तत्त्वोपदेश, 18*
4. *यद्रूपेण यन्निविचतं, तद्रूपं न व्यभिचरित तत्सत्यम्। तैत्तिरीय उपनिशद् शांकर भाष्य। 2/1/1*
5. *सत्यत्वं बाध राहित्यं। पंचदशी 3/29*
6. *प्रज्ञेत्येनदुपासीत्। विज्ञानमान्नदं ब्रह्म। वृहदारण्यक उपनिषद् 4/1/2, 3/9/28*
7. *अद्वैत सिद्धि - पृ. 783*
8. *न व्यापित्वाद्देशऽतो नित्यत्वान्नाशि कालतः।*
   न वस्तुतोपि सांवत्यिादानन्त्यं ब्रह्माणि त्रिधाः।। पंचदशी 3/35
9. *वृहदारण्यक उपनिषद् - 2/4/5*
10. *आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्वयेक खल्विमानि भूतानि जायंते।*
    आनन्देन जातानि जीवन्ति। आन्नदं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।।
    स एव परमानन्दः स्वाभाविकोऽद्वैतत्वादानन्दानन्दिनोश्वाविभाभोऽत्र।।
    तैत्तिरीय उपनिषद् 3/6/1, 2/8/4
11. *छान्दोग्य उपनिषद् 7/23/1*
12. *नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्न। वृहदारण्यक उपनिशद्। 1/6/3*
13. *प्राणावै सत्यं तेशामेव सत्यम्। वही 2/1/20*
14. *यो वै भूमा तत्सुखं नाल्वे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्।*
    छान्दोग्य उपनिषद् - 7/23/1
15. *स्वेमहिम्नि यदि वा न महिम्नीति। छान्दोग्य उपनिषाद् 7/24/1*
16. *स एवाधस्तात् स पश्चात् स उपरिष्ठात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति। छान्दोग्य उपनिषद् 7/24/1*

स्वास्थ्य बीमा कंपनियों की व्यवसायिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन

डी.के. नेमा एवं अनुराधा चौरसिया

प्रस्तावना :-

स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय एक ऐसा व्यवसाय है जो व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य से संबंधित समस्याओं से चिंता कम करने में मदद करता है। भारत में स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में 26 कंपनियाँ कार्य कर रही हैं। जिनमें से 4 सार्वजनिक स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ, 22 निजी क्षेत्र की कंपनियाँ हैं। स्वास्थ्य बीमा से संबंधित सभी सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की कंपनियाँ विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य बीमा उत्पाद लेकर आ रही हैं जिससे उपभोक्ताओं को अच्छी स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त हो सके। सर्वप्रथम वर्ष 1912 में स्वास्थ्य बीमा अधिनियम बनाया गया। वर्ष 1948 में पहली बार केन्द्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना का प्रारम्भ किया गया और तभी से निरन्तर सभी सार्वजनिक स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ अपनी सुविधाएँ प्रदान कर रही हैं। वर्ष 1986 में मेंडीक्लेम स्वास्थ्य बीमा योजना का प्रारम्भ किया गया था। वर्ष 2000 में बीमा नियामक और विकास प्रधिकरण की स्थापना के बाद बीमा क्षेत्र में निजी बीमा कंपनियों की स्थापना की गई। प्रस्तुत शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य भारत में स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में कार्यरत कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या का तुलनात्मक अध्ययन करना है। यह शोधपत्र द्वितीयक समंकों पर आधारित और विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि पर आधारित है।

पॉलिसियों का विक्रय बीमा व्यवसाय की आय का प्रमुख स्त्रोत है। बीमा कंपनियाँ जितनी अधिक पॉलिसी जारी करती हैं उतनी ही अधिक उन्हें आय होती है क्यों कि बीमा कंपनियों द्वारा पॉलिसी जारी करने पर प्रीमियम के रूप में आय प्राप्त होती है। वर्तमान समय में भारत में स्वास्थ्य बीमा से संबंधित सभी सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की कंपनियाँ विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य बीमा उत्पाद लेकर आ रही है जिससे उपभोक्ताओं को अच्छी स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त हो सके। बीमा व्यवसाय में संलग्न कंपनियाँ व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य, परिवार तथा आय के अनुसार स्वास्थ्य बीमा पॉलिसी का चयन करने की सुविधा देती है। भारत में स्वास्थ्य बीमा का प्रारम्भ सर्वप्रथम वर्ष 1912 में स्वास्थ्य बीमा अधिनियम बनाकर किया गया था। उस समय भारत में विदेशी स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ कार्य करती थीं जो कि सामान्यतः भारतीय व्यक्तियों का स्वास्थ्य बीमा नहीं करती थीं और यदि कुछ बीमा कंपनियाँ बीमा करती भी तो प्रीमियम की दर ऊँची रखती थीं जिसके कारण व्यक्ति स्वास्थ्य बीमा नहीं ले पाते थे। इसलिए वर्ष 1912 में स्वास्थ्य बीमा अधिनियम बनाया गया। भारत के स्वतंत्र होने के बाद वर्ष 1948 में पहली बार केन्द्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना का प्रारम्भ किया गया और तभी से निरन्तर सभी सर्वाजनिक स्वास्थ्य बीमा

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 151-156*

कंपनियाँ अपनी सुविधाएँ प्रदान कर रही हैं। वर्ष 1986 में मेंडीक्लेम स्वास्थ्य बीमा योजना का प्रारम्भ किया गया था। वर्ष 2000 में बीमा नियामक और विकास प्राधिकरण की स्थापना के बाद बीमा क्षेत्र में निजी बीमा कंपनियों की स्थापना की गई। उसके बाद निजी स्वास्थ्य बीमा कंपनियों ने भी स्वास्थ्य बीमा करना प्रारम्भ कर दिया। आज सभी बीमा कंपनियाँ विभिन्न प्रकार के नये-नये स्वास्थ्य बीमा उत्पाद लेकर आ रही हैं।

भारतीय स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय में दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही है, जिससे भारतीय बीमाबाजार और अर्थव्यवस्था में भी इनकी हिस्सेदारी में भी निरंतर वृद्धि हो रही है। मार्श इंडिया द्वारा प्रकाशित रिर्पोट के अनुसार वर्तमान में भारत में स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय की विकास दर 18 प्रतिशत से अधिक है।[1] वर्ष 2000 में बीमा नियामक और विकास प्रधिकरण के आने के बाद बीमा क्षेत्र में अस्पताल और स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ साथ मिलकर कार्य रही हैं। जिससे व्यक्ति के लिए इलाज करवाना भी आसान हो गया है, और वह अब कैशलेस सुविधा का भी उपयोग कर सकता है। स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में आईटी कंपनियों के आने के बाद व्यक्ति अब ऑनलाइन अपनी पसंद की स्वास्थ्य बीमा पॉलिसी ले सकता है, वो भी प्रीमियम दरों में असानी से तुलना करके।

उद्देश्य :-

प्रस्तुत शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य भारत में स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में कार्यरत कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियोंका अनुमान लगाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न लिखित सहायक उद्देश्य होंगे -

1. सार्वजनिक स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या ज्ञात करना।
2. निजी स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या ज्ञात करना।

शोध प्रविधि :-

प्रस्तुत शोधपत्र द्वितीयक समंकों पर आधारित है तथा विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि पर आधारित है। द्वितीयक समंक एवं सूचनायें स्वास्थ्य बीमा क्षेत्र में कार्यरत बीमा कम्पनियों की वेवसाइट्स तथा इन संस्थाओं द्वारा प्रकाशित वार्षिक रिपोर्ट एवं हैंड बुक ऑन इंण्यिन इंश्योरंस स्टेटिसक 2012-13 तथा 2016-17 के माध्यम से एकत्रित किया गया है। प्रस्तुत शोधपत्र में सरकारी एवं निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कम्पनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

परिकल्पना :- H_{01}: स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में कार्यरत सरकारी एवं निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कम्पनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियोंकी संख्या में अंतर नहीं है।

$H_{\bar{a}1}$: स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में कार्यरत सरकारी एवं निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कम्पनियों की द्वारा जारी की गई पॉलिसियोंकी संख्या में अंतर है।

स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में कार्यरत कंपनियाँ :-

वर्तमान समय में भारत में स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में 26 कंपनियाँ कार्य कर रही हैं। जिसमें 4 सार्वजनिक स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ, 22 निजी क्षेत्र की कंपनियाँ हैं।

स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में कार्यरत बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसीयों की संख्या - भारत में स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय निरंतर प्रगति कर रहा है। जो कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।

तालिका क्रमांक 1

स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्यावर्ष 2011-2016 तक

(वास्तविक पॉलिसियों की संख्या)

वर्ष	सार्वजनिक स्वास्थ्य बीमा कंपनी	निजी स्वास्थ्य बीमा कंपनी	कुलयोग
2011	5383122	2852914	8236086
2012	5653231 (5.01)	3332182 (16.79)	8985413 (9.09)
2013	5620574 (4.41)	4405526 (54.42)	10026100 (21.73)
2014	5863454 (8.92)	5065750 (77.56)	10929205 (32.69)
2015	6078615 (12.91)	5737315 (101.10)	11815923 (43.46)
2016	6104537 (13.40)	7032891 (146.51)	13137428 (59.51)

(Source: IRDAI- Hānd book on Indiān Insurānce Stātistics 2012-13, 2014-15, 2015-16 ānd 2016-17 Nonlife Insurānce segment (Heālth Insurānce))

उपरोक्त तालिका क्रमांक 1 के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या वर्ष 2011 में 53,83,122 थी, जो वर्ष 2016 में बढ़कर 61,04,537 हो गई है। अर्थात् सार्वजनिक क्षेत्र के स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय में 13.40 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। वहीं निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या वर्ष 2011 में 28,52,914 थी, जो वर्ष 2016 में बढ़कर 70,32,891 हो गई है। अर्थात् निजी क्षेत्र के स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय में 146.51 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यदि सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों की तुलना की जाये तो वर्ष 2011 में सार्वजनिक कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या 53,83,122 थी जबकि निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या 28,52,914 थी जो कि सार्वजनिक कंपनियों की तुलना में लगभग 47 प्रतिशत कम थी। वर्ष 2016 में सार्वजनिक कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या 61,04,537 है, जबकि निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या 70,32,891 हो गई है, जो सार्वजनिक कंपनियों की तुलना में लगभग 13.20 प्रतिशत अधिक हैं। अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ अनेक प्रकार के नये-नये स्वास्थ्य बीमा उत्पाद लेकर आ रही हैं। जिनकी ओर व्यक्ति अधिक आकर्षित हो रहे हैं।

वर्ष 2017-2020 तक जारी होने वाली पॉलिसियों की संख्या का पूर्वनुमान

(न्यूनतम वर्ग विधि के आधार पर अगणित) -

तालिका क्रमांक 1 में दिये गये ऑकडों के आधार पर यह जानने के प्रयास किया गया है कि विकास की दर स्थिर रहती है तो भविष्य में भारत में स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय की क्या स्थिति रहेगी? अर्थात परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं होने पर स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ कितनी पॉलिसी जारी करेंगी। यह ज्ञात करने के लिए न्यूनतम वर्ग विधि का प्रयोग किया है। इस विधि से प्राप्त आँकड़ों को तालिका क्रमांक 2 में वर्ष 2017 से वर्ष 2020 तक दर्शाया गया है जो इस प्रकार है।

तालिका क्रमांक 2

(वास्तविक पॉलिसियों की संख्या)

Year Public health insurance company forecasting YC= a+bx	Private health insurance company forecasting YC= a+bx	Total health insurance company forecasting YC= a+bx
2017 6296532 (16.96)	7615313 (166.93)	13911827(68.91)
2018 6424513 (19.34)	8528428 (198.93)	14952926(81.55)
2019 6599189 (2.2.59)	9353415 (227.85)	15952585(93.69)
2020 6718643 (24.80)	10261594 (259.68)	16980213(106.16)

(स्रोत- तालिका क्रमांक 1)

तालिका क्रमांक 2 के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वर्ष 2020 तक सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या बढ़कर 67,18,643 (24.80 प्रतिशत वृद्धि) होने का अनुमान है। निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या 1,02,61,594 (259.68 प्रतिशतवृद्धि) हो सकती है। अर्थात् कुल मिलाकर स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय में 106.16 प्रतिशत की वृद्धि होने का अनुमान है। जिस के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भविष्य में भारत में स्वास्थ्य बीमा व्यवसाय के विकास की संभावनाएँ अधिक है। निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या में सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों की तुलना में अधिक वृद्धि होनी की संभावना है, जिसे रेखाचित्र क्रमांक 1 से 0 और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

Forecāst

$\bar{a} = \Sigma y / N$

$b = \Sigma xy / \Sigma x^2$

Trend Vālue (T) = YC = ā+bx (Forecāst vālue)

रेखाचित्र क्रमांक 1

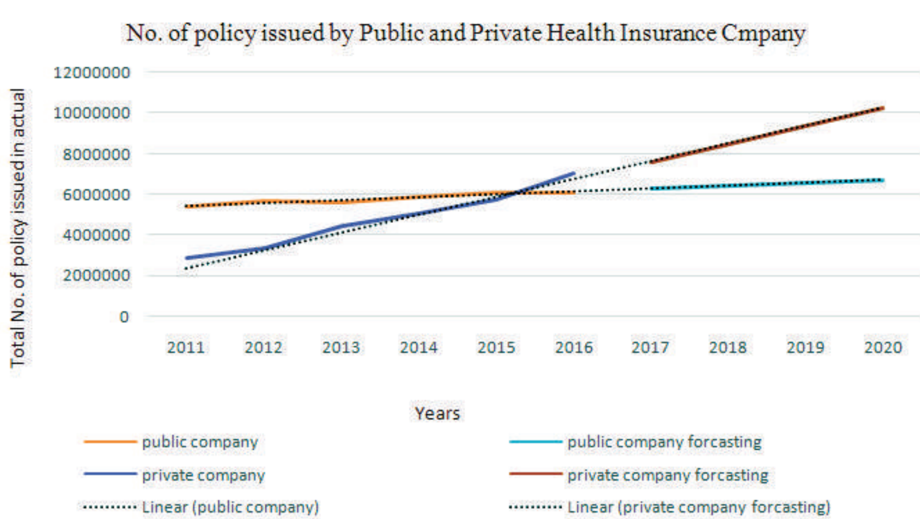

(स्रोत - तालिका क्रमांक 1 व 2)

रेखाचित्र क्रमांक 2

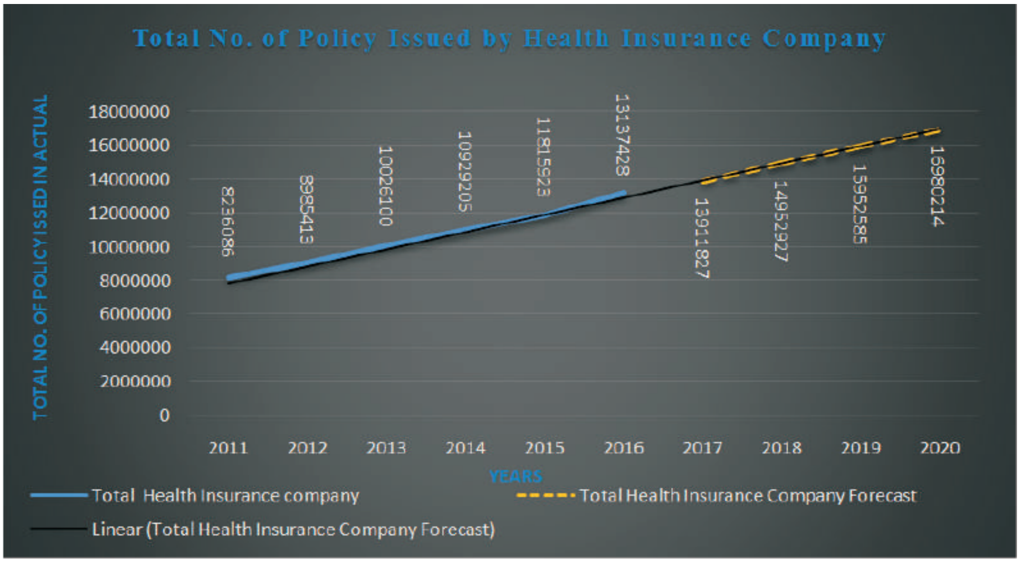

(स्रोत - तालिका क्रमांक 1 व 2)

निष्कर्ष :-

भारत में कार्यरत सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि भविष्य में सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या की तुलना में निजी क्षेत्र की कंपनियों द्वारा ज्यादा पॉलिसियॉ जारी करने की संभावना अधिक है। इसके कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हो सकते है :-

- निजी क्षेत्र में नई-नई स्वास्थ्य बीमा कंपनियों की स्थापना हो रही है, साथ ही निजी स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ व्यक्तियों की आय के अनुसार नये-नये स्वास्थ्य बीमा उत्पाद भी लाती हैं।
- निजी स्वास्थ्य बीमा कंपनियों की कार्यप्रणाली में लोच होती है, जिसके कारण व्यक्ति निजी स्वास्थ्य बीमा कंपनियों की ओर आकर्षित होते हैं जबकि सरकारी स्वास्थ्य बीमा कंपनियाँ पूर्व निर्धारित प्रक्रिया से काम करती हैं एवं उनमें लोच का भी आभाव होता है, जिसके परिणामस्वरूप निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों द्वारा पॉलिसी जारी करने की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

अतः वैकल्पिक परिकल्पना को स्वीकार किया जाता है कि ''स्वास्थ्य बीमा के क्षेत्र में कार्यरत सरकारी एवं निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कम्पनियों के द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या में अंतर है।''

सुझाव :-

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित सुझाव प्रस्तावित किये जा सकते हैं :-

- अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों को व्यवसाय में वृद्धि करने के लिए सरकार को नई-नई स्वास्थ्य बीमा योजनाओं को संचालित करना होगा।

- सार्वजनिक स्वास्थ्य बीमा कंपनियों को स्वास्थ्य बीमा लेने की प्रक्रिया को सरल करना होगा जिससे व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र की स्वास्थ्य बीमा कंपनियों की ओर आकर्षित हो, जिसके परिणाम स्वरूप बीमा कंपनियों द्वारा जारी की गई पॉलिसियों की संख्या में वृद्धि होगी और उनके व्यवसाय का विस्तार होगा।
- बीमा कंपनियाँ जितनी अधिक पॉलिसीयों का विक्रय करती हैं उनकी आय में उतनी ही अधिक वृद्धि होती है और जितना अधिक प्रीमियम प्राप्त होता है, वे उतने ही अधिक विनियोग करती हैं जो कि बीमा व्यवसाय के विकास में तो सहायता करता ही है साथ ही देश के आर्थिक विकास में मदद करता है।

वाणिज्य विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

सन्दर्भ -

1. *https://www.policybazaar.com/health-insurance/general-info/articles/a-glance-at-the-evolution-of-health-insurance-in-india/*
2. *www.irda.in*
3. *www.indianhealthinsurancestatistics.in*
4. *आईआरडीए वार्षिक रिपोर्ट वर्ष 2012-13, वर्ष 2016-17*

बलूचिस्तान का भविष्य व भारत : स्वतंत्र राष्ट्र या पाकिस्तान का प्रान्त

अनुपमा कौशिक

बलूचिस्तान पाकिस्तान के चार प्रान्तों में से सबसे बड़ा प्रान्त है। यह पाकिस्तान के भूभाग का 44 प्रतिशत है परन्तु इसकी जनसंख्या पाकिस्तान की जनसंख्या का दस प्रतिशत भी नहीं है। यहाँ रहने वाले अधिक्तर लोग बलोच हैं हालांकि कुछ पशतून व ब्राहुई हैं। ये इलाका प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर है जैसे सोना, तेल, गैस व तांबा परन्तु यह पाकिस्तान का सबसे पिछड़ा इलाका है। बलूच लोग स्वयं को अन्य पाकिस्तानियों से अलग मानते हैं तथा मानते है कि पंजाबियों द्वारा उनका शोषण किया जा रहा है। वे ये भी मानते है कि पाकिस्तान ने बलूनिस्तान पर जबरदस्ती कब्जा कर लिया है जबकि बलूचिस्तान पाकिस्तान निर्माण के पहले ही एक स्वतंत्र राष्ट्र बन चुका था। बलूच पाकिस्तान से स्वतंत्र होकर एक स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य के रूप में मान्यता चाहते हैं व उसके लिए संघर्ष कर रहे हैं व इसमें भारत की मदद चाहते है जो मदद भारत ने उन्हें कभी नहीं दी। परन्तु पाकिस्तान बलूचिस्तान में होने वाले स्वतंत्रता संग्राम के लिए (जिसे वह आतंकवाद कहता है) भारत को जिम्मेदार ठहराता है व पाकिस्तान बलूची लोगों की हत्या करता है व उनके ऊपर आत्याचार करता है। प्रश्न यह है कि क्या भारत को बलूचिस्तान में फैले असंतोष व स्वतंत्रता संग्राम को समर्थन देना चाहिए? ये प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योकि चीन इस इलाके पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास कर रहा है।

स्वतंत्र इतिहास -

बलूचिस्तान का नाम बलूच लोगों से निकला जो यहाँ के निवासी हैं। ये लोग सुन्नी मुसलमान हैं जो एक ईरानी भाषा बलूची बोलते हैं जो कुर्दिश भाषा के करीब है। सांस्कृतिक बलूचिस्तान का बड़ा हिस्सा पाकिस्तान में है परन्तु कुछ हिस्सा ईरान व अफगास्तिान में भी है।

प्राचीन काल मे ये क्षेत्र एकाकमेनिड परसियन साम्राज्य का हिस्सा था पर बाद में ईरानी व भारतीय साम्प्रज्यों का हिस्सा था। यहाँ ईरानी व भारतीय लोग रहा करते थे जो बौद्धधर्म व जोरोस्ट्रियन धर्म के मानने वाले थे। इस्लाम के यहाँ आने से पहले यहाँ सिंध के राय वंश का नियंत्रण था। 644 ईस्वी में अरब लोगों ने इन्हें हराया व इस्लाम का प्रचार किया। 1500 में ये सफाविद परशियन साम्राज्य (आज का ईरान) तथा मुगल साम्राज्य (आज का पाकिस्तान) के बीच बँट गया जो विभाजन अब तक कायम है। मुगलों ने इसका नियंत्रण अपने स्थानीय अधिनस्त कालाट के खनातों को सौंप दिया। बलूचिस्तान का बँटवारा कुछ समय के लिए गायब हो गया जब इन साम्राज्यों का अंत हुआ व बलूचिस्तान कई राज्यों में बँट गया जिसमें कालाट सबसे महत्त्वपूर्ण

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 157-162*

था। अंग्रेजों ने 1839 में कालाट पर आक्रमण किया और 1854 को यह अंग्रेजों का संरक्षित राज्य बन गया और 1871 में अंग्रेजों ने आधे हिस्से पर सीधा नियंत्रण कर लिया। दूसरी ओर ईरान ने कुछ हिस्से पर पुनः नियंत्रण कर लिया जो अब भी ईरान का हिस्सा है। (पिललामारी, 2016)

ब्रिटिश बलूचिस्तान चार रजवाड़ो से बनता था। कालाट, लस्बेला, खरान, व मकरन। इनमें से तीन लस्बेला, खरान व मकरन को अंग्रेजों ने कालाट के अधीन कर दिया था। पाकिस्तान बनने के तीन महीने पहले कालाट के खान ने जिन्ना (उनके वकील) के माध्यम से बलूचिस्तान की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजो से बातचीत की थी। कई बैठकों के बाद जिसमें वायसराय, जिन्ना व खान शामिल थे, 11 अगस्त 1947 को घोषणा की गयी कि पाकिस्तान की सरकार कालाट को एक स्वतंत्र संप्रभू राष्ट्र के रूप में मान्यता देती है जिसकी स्थिति अन्य भारतीय रजवाड़ों से भिन्न है व जो ब्रिटिश सरकार से संधि के रिश्ते में है। पाकिस्तान सरकार द्वारा विरासत में पट्टा समझौता प्राप्त की जाएगी कि नहीं इस बारे में कानूनी मत प्राप्त किया जाएगा। तब तक यथास्थिति समझौता पाकिस्तान व कालाट के बीच किया गया है। सुरक्षा, विदेश संबंध व संचार को लेकर निर्णय बाद में किया जायेगा। परन्तु 17 अक्टूबर 1947 में एक अंग्रेज अधिकारी ग्रेफरी स्मिथ के तार पर राजनीति विभाग की टिप्पणी से स्पष्ट है कि जिन्ना का कालाट को लेकर विचार बदलने लगा था और वे उसका एक हिस्सा पाकिस्तान में मिलाना चाहते थे। 15 फरवरी 1948 में जिन्ना खान से मिलने गए पर खान अंतिम मुलाकात में बीमारी का बहाना करके नहीं आए और उन्होंने जिन्ना को लिखा कि उन्होंने संसद के दोनों सदनों (दार-उल-उमरा और दार-उल-आवाम) की बैठक को लोगों के विचार जानने के लिए बुलाया है जिससें भविष्य में कालाट व पाकिस्तान के रिश्ते के बारे में उनके विचारों को जानने के बाद वे उनसे जिन्ना को अवगत करायेंगे। 21 फरवरी को दार-उल आवाम की बैठक हुई और उन्होंने पाकिस्तान में ना शामिल होने का निर्णय लिया और पाकिस्तान के साथ भविष्य के रिश्तों को लेकर एक संधि पर बातचीत करेंगे ऐसा भी निर्णय लिया। इस पर जिन्ना ने खान को सूचित किया कि अब इस मामले को जिन्ना नहीं बल्कि पाकिस्तान की सरकार देखेगी।

बलूचिस्तान पर पाकिस्तान का कब्जा व पाकिस्तान का विरोध -

26 मार्च 1948 को पाकिस्तानी सेना बलूच इलाके में घुस गई और कराची में घोषणा कर दी गई कि कालाट के खान ने पाकिस्तान में मिलना स्वीकार कर लिया है। बलूचिस्तान 227 दिन स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य रहने के बाद पाकिस्तान में जबरदस्ती मिला लिया गया। इस स्वतंत्रता के काल में कराची में उसका दूतावास था जहाँ उसका झंडा लहराता था। कानूनी रूप से जब कालाट/बलूचिस्तान की संसद ने स्वतंत्र रहना व पाकिस्तान में न मिलना स्वीकार कर लिया था तो कालाट के खान को कोई अधिकार नहीं था कि वो पाकिस्तान से मिलने की सहमति देता। स्पष्ट है कि बलूचिस्तान पर पाकिस्तानी कब्जा गैर कानूनी था। पाकिस्तान में पंजाबी-उर्दू बोलने वालों की फौज ने बलूचों को कभी बराबरी का दर्जा नही दिया व उनके साथ दुर्व्यवहार किया। बलूचों ने उनका लगातार विरोध किया। सबसे बड़ा विरोध 2006 में हुआ जब सरदार अकबर बुगती व उनके 26 साथियों को पाकिस्तानी फौज ने मार डाला। पाकिस्तान के मानवधिकार आयोग ने भी माना कि मनमाने ढंग से गिरतारियाँ हुई, लोगो को यंत्रणा दी गई, लोग गायब किए गए व मार दिये गये। एमनेस्टी इंटरनेशल ने भी उन आरोपों को सही माना जो बलूची नेता काचकोल अली बलूच ने लगाये थे कि 4000 लोग या तो गायब कर दिये गए या बिना कानूनी प्रक्रिया के गिरतार कर लिए गए। गायब होने वालों में 1000 विद्यार्थी व राजनीतिक कार्यकर्ता थे। बलूच नेशनल दल के नेता सरदार अखतर मेनराल को भी आंतकवाद के आरोपों मे गिरतार किया गया।

पाकिस्तान सरकार दूसरे क्षेत्रों में रहने वाले पाकिस्तानियों को भी तथ्यों को जानने नही देती और पाकिस्तानियों को गलत इतिहास पढ़ाकर भ्रम में रखा जाता है। (वीना, 2015) 2006 के पूर्व भी 1948, 1958-59 1962-63, 1973-77 और 2003, 2004-2012 में बलूचों ने पाकिस्तान के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम किया था। बलूची स्वतंत्रता सेनानी कहते है कि पाकिस्तान के अन्य क्षेत्रों की तुलना मे बलूचिस्तान पिछड़ा हुआ है। स्वतंत्रता चाहने वाले संगठनों को पाकिस्तानी सरकार आतंकवादी कहती है। इनमें प्रमुख संगठन है बलूच लिबरेशन आर्मी, लशकर-ए-बलूचिस्तान और बलूच लिबरेशन फ्रन्ट। (इन्सरजेन्सी इन बलूचिस्तान, 2018)

कानूनी तथ्य यह है कि कालाट का खान संप्रभु शासक नहीं था और उसने जिन्ना के दबाव में पाकिस्तान से मिलने की संधि पर हस्ताक्षर किए थे और जब कालाट की संसद ने पाकिस्तान में न मिलने का निर्णय लिया था तो खान उसे पलट नहीं सकते थे। कालाट के पाकिस्तान में मिलते ही पाकिस्तान विरोधी रेलियाँ व बैठकें होने लगीं। खान के छोटे भाई ने भी खान के इस निर्णय के विरोध में विद्रोह कर दिया। पर सभी प्रमुख विरोधियों को गिरतार कर लिया गया और कांग्रेस समर्थक अंजुमन-ए-वतन पार्टी को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। खान ने स्वंय भी माना कि उन्हें पाकिस्तान में कालाट को मिलाने का कोई अधिकार नहीं था तथा उन्होनें ऐसा इसलिए किया कि उन पर सैनिक हस्तक्षेप का दबाव था।(हिस्ट्री ऑफ बलूचिस्तान', 2018)

वर्तमान स्थिति यह है कि बलूचिस्तान एक अविकसित इलाका है जहाँ के लोग स्वतंत्र होना चाहते है परन्तु पाकिस्तान ने जबरदस्ती उस इलाके पर कब्जा कर रखा है व स्वतंत्रता माँगने वालों पर अत्याचार किया जाता है व उन्हें मार दिया जाता है तथा विकास के नाम पर अब पाकिस्तान इस इलाके को चीन को सौंप रहा है। ग्वादर पोर्ट को चीन ने बनाया है व वह उसके अधिकार में है। बलूच इसे चीनी उपनिवेशवाद कहते हैं व उन्हें मार डालने की चेतावनी देते हैं।(बलूचिस्तान इज नॉट जिनजियांग, बलूच लीडर वार्नस चाइना, 2018) वे चीनी-पाकिस्तानी आर्थिक कारिडोर का विरोध करते हैं। चीनी उन्हें पटाने की कोशिश कर रहे हैं पर अब तक असफल रहे हैं। (चौधरी, 2018)

पाकिस्तान बलूचिस्तान में वो नहीं होने देना चाहता जो पूर्वी पाकिस्तान (बांग्लादेश) में हुआ। अतः वे बलूचियों को कोई रियायत ना देकर पूरी तरह नियंत्रित करना चाहते हैं। वे बलूचों को परेशानी समझते है। (अहमद 2018) दूसरी ओर बलूची लोग स्वतंत्रता के लिए आंदोलन कर रहे हैं, बलूचिस्तान में भी और अन्य देशों में भी जैसे अफगानिस्तान, जर्मनी, स्वीडन, कनाडा, नेदरलैण्ड। (बलूच मारटायर डे : फ्री बलूचिस्तान मूवमेन्ट हेल्ड रेफरेन्सेज इन बलूचिस्तान एण्ड अब्रोड', 2017)

भारत और बलूचिस्तान -

भारत ने स्वतंत्रता के बाद से यह नीति अपनाई थी कि वह अन्य देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह नीति पाकिस्तान के संदर्भ में भी अपनाई गई हाँलाकि पाकिस्तान ने भारत के कश्मीर में हमेशा हस्तक्षेप किया है पर भारत ने कभी बलूचिस्तान मुद्दे का इस्तेमाल नहीं किया। जबकि कालाट ने 1948 में भारत में मिलने की इच्छा जताई थी तथा भारत सरकार को ऐसी प्रार्थना की थी जिसे भारत सरकार ने नकार दिया था।(इंसरजेन्सी इन बलूचिस्तान, 2018) उसके पूर्व कालाट ने स्वतंत्रता की घोषणा भी की थी जिसे भारत ने बिल्कुल समर्थन नही दिया। (बलूचिस्तान, पाकिस्तान', 2018) आल इंडिया रेडियो ने 27 मार्च 1948 को घोषणा कर दी थी कि कालाट के खान ने भारत में मिलने की इच्छा जताई है। इसके बाद खान के ऊपर पाकिस्तान में मिलने के लिए दबाब बढ़ गया था। (हिस्ट्री ऑफ बलूचिस्तान, 2018) पूरी घोषणा यह थी कि आल इंडिया रेडियो पर वी.पी. मेनन की एक प्रेस कांफेंस के बारे में बताया गया था कि मेनन के अनुसार

कालाट के खान ने भारत में मिलने की प्रार्थना की है, जिसे भारत ने नकार दिया है। अगले दिन सरदार पटेल ने कहा कि कालाट के खान ने ऐसी कोई प्रार्थना नही की है। 30 मार्च को नेहरू ने भी मेनन का खंडन किया पर इस समय तक पाकिस्तान की बंदूक खान के सिर पर लगा दी गई थी। 28 मार्च 1948 को खान को जबरदस्ती कराची ले जाकर उनसे विलय की संधि पर हस्ताक्षर करवा लिए गए। वास्तविकता यह थी कि कालाट के खान से मार्च 1946 में समद खान को, जो कांग्रेस के सदस्य थे, कांग्रेस का बलूचिस्तान के लिए समर्थन प्राप्त करने का भेजा था। अन्य बलूच नेताओं जैसे मीर गौस बख्श बिजेनो को भी दिल्ली भेजा गया था, ताकि मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, जो कांग्रेस अध्यक्ष थे, से बलूचिस्तान के लिए समर्थन माँगा जा सके। परन्तु मौलाना आजाद को लगता था कि बलूचिस्तान एक स्थिर राज्य नहीं होगा तथा वो अंग्रेजों का अड्डा बन जायेगा जिससे दक्षिण एशिया की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जायेगी। अतः जब पाकिस्तान ने जबरदस्ती बलूचिस्तान पर कब्जा किया गया और वहाँ अत्याचार किया तब भारतीय नेता चुपचाप बैठे रहे हाँलाकि तब तक पाकिस्तान कश्मीर पर आक्रमण कर चुका था तथा भारतीय कश्मीर के एक बड़े हिस्से पर कब्जा कर चुका था। (मुस्तिखान, 2015)

भारत ने 1948 में पाकिस्तान द्वारा बलूचिस्तान पर कब्जे का ना तो विरोध किया ना ही उसके बाद किसी भी प्रकार से बलूचिस्तान के स्वतत्रता संग्राम को सहायता पहुँचाई। इस दौरान भारत की सरकार ने पाकिस्तान के द्वारा किए गए आक्रमणों, भेजे गए आतंकवादियों व नकली मुद्राओं तथा अतंर्राष्ट्रीय मंच पर किए गए भारत विरोधी दुष्प्रचार को केवल बर्दाश्त किया। भारत की सरकारों ने कभी बलूचियों को किसी भी प्रकार का समर्थन नहीं दिया, इस आशा में, कि ऐसा करने से भारत की छवि विश्व में एक सम्मानित व जिम्मेदार देश की बनेगी। परन्तु पाकिस्तान ने भारत पर आंतकवाद फैलाने का झूठा आरोप लगाया। पाकिस्तान ने 2016 में एक भारतीय कुलभूषण जाधव को जासूसी करने के झूठे आरोप मे गिरफ्तार करके प्रताड़ित किया तथा उससे जबरदस्ती एक बयान दिलवाया कि वह बलूचिस्तान में आतंकवादियों की मदद कर रहा था। पाकिस्तानी आरोप लगाते हैं कि भारत बलूविस्तान में दो तरह से अस्थिरता फैला रहा है- प्रथम आतंकवाद को मदद देकर तथा द्वितीय पाकिस्तान के बाहर जो बलोच अलगावादी है उन्हें सहायता देकर। पाकिस्तान आरोप लगाता है कि भारत इन बलूची अलगावादियों को (जैसे ब्रहमुदाग खान बुगती) को भारतीय नागरिता प्रदान करने वाला है। वे भी आरोप लगाते हैं कि भारत ने नई दिल्ली में 23 जून 2018 को ''फ्री बलूचिस्तान'' का आफिस खोला है जो इन मुद्दों पर भारत में जागरूकता फैलायेगा। (हनीफ, 21.08.2018) हालांकि ये आरोप कभी साबित नही किए गए। भारत के द्वारा प्रथम बार बलूचिस्तान में मानवधिकार का मुद्दा प्रधानमंत्री मोदी द्वारा उठाया गया था क्योंकि उसके पूर्व पाकिस्तानी प्रधानमंत्री ने कश्मीर का मुद्दा संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाया था। इसके बाद यह मुद्दा कई दिनों तक भारतीय मीडिया में छाया रहा। इसके बाद भारत ने संयुक्त राष्ट्र की मानवधिकार काऊसिंल में 7 जून को कहा कि पाकिस्तान बलूचिस्तान में लगातार मानवधिकारों का उल्लघंन कर रहा है। परन्तु बलूचिस्तान को लेकर भारत सरकार की नीति अभी तक सार्वजनिक नहीं हुई है तथा बलूची लोग जितनी सहायता चाहते है भारत सरकार ने अब तक प्रदान नही की है। (सेन, 2017) जब प्रधानमंत्री मोदी ने बलूचिस्तान का मुद्दा उठाया तो कांग्रेस ने इसका विरोध किया जबकि भाजपा ने समर्थन किया। भारत सरकार ने अब तक बलूचिस्तान को लेकर बहुत संयम से काम लिया है। भारत सरकार को अब तय करना होगा कि वो किस हद तक बलूचिस्तान का समर्थन कर सकती है। भारत के पास निम्न विकल्प हैं -

1. बलूचिस्तान की कोई सहायता ना करना जो कि 2014 में पहले की सरकारो की नीति रही है।
2. बलूचिस्तान में हो रहे मानवधिकार उल्लंघन को समाप्त करना व उसके बारे में अंतरराष्ट्रीय मंचो पर चर्चा करना जिससे बलूची स्वतंत्रता सेनानियों को नैतिक बल मिले तथा उन्हें भारतीय मीडिया में भी मंच प्रदान करना जैसे श्री तारिक फतेह को मिल भी रहा है। बलूची स्वतंत्रता सेनानियों को भारत में शरण देना जिससे पाकिस्तान उन्हें परेशान ना कर सके।
3. बलूची स्वतंत्रता सेनानियों को धन से मदद करना। ये खर्च सरकार को करने की आवश्यकता भी नहीं है सामान्य भारतीय भी खुशी-खुशी ये कार्य करेंगे।
4. बलूची स्वतंत्रता सेनानियों को सैनिक सहायता प्रदान करना जिससे वे पाकिस्तानी सेना का मुकाबला कर सकें व स्वतंत्रता प्राप्त कर सकें।
5. उपरोक्त में से दूसरे व तीसरे उपायों को एक साथ इस्तेमाल करना।

निष्कर्ष -

पाँचवाँ उपाय सबसे बेतरीन है क्योकि पाकिस्तान तो भारत के कुछ भी ना करने पर भी भारत को बदनाम करता ही है तथा जाधव को पकड़कर यातनाएं दे ही रहा है। साथ ही कश्मीर और पंजाब मे समस्याएँ खड़ी कर रहा है, हमारे सैनिकों को मार रहा है और आतंकवादी भेजकर मरवा रहा है। पाकिस्तान भारत में नकली नोट भेजकर भारत की अर्थव्यवस्था को भी बरबाद कर रहा है। वास्तविकता यह है कि पाकिस्तान से अच्छे संबंधों की उम्मीद भारत को छोड़ देनी चाहिए और ये समझ लेना चाहिए कि पाकिस्तान गजवा-ए-हिन्द अर्थात आखरी जंग अर्थात भारत पर इस्लामिक राज्य कायम करना चाहता है और भारत के अच्छे व्यवहार को भारत की कमजोरी समझता है। अतः भारत को अपने से छोटे और कमजोर पाकिस्तान को समझाना चाहिए कि बलूची लोग पाकिस्तान को अपना मुल्क नहीं समझते तथा स्वतंत्र होना चाहते हैं तथा वे एक स्वतंत्र राष्ट्र थे जिस पर पाकिस्तान ने जबरदस्ती कब्जा कर लिया था। ये गलती सुधारनी चाहिए तथा पाकिस्तान को बलूचिस्तान को स्वतंत्र देश बनने देना चाहिए तथा वहाँ तत्काल प्रभाव से मानवधिकारों का दमन रोकना चाहिए।

राजनीति विज्ञान एवं लोकप्रशासन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. *पिललामारी, अखिलेश (2016), 'ए ब्रीफ हिसट्री ऑफ बलूचिस्तान', दी डिप्लोमेट, https://thediplomat.com/2016/02/a-brief-history-of-balochistan/, देखा 18.9.18*
2. *वीना, योगिना (2015) 'हाउ बलूचिस्तान बिकेम ए पार्ट ऑफ पाकिस्तान-ए हिस्टोरिकल परस्पेक्टिव', दी नेशन, https://nation.com.pk/05-Dec-2015/how-balochistan-became-a-part-of-pakistan-a-historical-perspective, देखा 18.9.18*
3. *'इन्सरजेन्सी इन बलूचिस्तान', (2018) https://en.wikipedia.org/wiki/Insurgency in Balochistan, देखा 18.9.18*
4. *'हिस्ट्री ऑफ बलूचिस्तान', (2018) https://en.wikipedia.org/wiki/History_of_Balochistan , देखा 19.9.18*
5. *'बलूचिस्तान इज नॉट जिनजियांग, बलूच लीडर वार्नस चाइना', बिजनेस स्टेंडर्ड, (2018) https://www.business-standard.com/article/news-ani/balochistan-is-not-xinjiang-baloch-leader-warns-china-118081700468_1.html , देखा 19.9.18*

6. *चौधरी, दीपानजन राय (2018) 'सुसाइड अटैक इन बलूचिस्तान वैक अप कॉल फॉर चाइना एण्ड पाकिस्तान', इकॉनॉमिक टाइम्स, https://economictimes.indiatimes.com/news/ defence/suicide-attack-in-balochistan-wake-up-call-for-china- pakistan/articleshow/65595456.cms , देखा 19.9.18*
7. *अहमद अकबर शहीद (2018) 'चाइना एण्ड पाकिस्तान प्लान टु गेट रिच टुगैदर, दी प्राइस?हूमन राइटस', हफिंगटन पोस्ट, https://www.huffingtonpost.in/entry/china-pakistan-balochistan-gwadar-plan-human-rights us 5b560d39e4b0fd5c73c7c122, देखा 19.9.18*
8. *'बलूच मारटायर डे : फ्री बलूचिस्तान मूवमेन्ट हेल्ड रेफरेन्सेज इन बलूचिस्तान एण्ड अब्रोड', (2017) बलूचवरना-पूज http://balochwarnaw.com/2017/11/15/baloch-martyrs-day-free-balochistan-movenent-held-reference-in-balochistan-and- abroad/, देखा 31.12.18*
9. *'बलूचिस्तान, पाकिस्तान', (2018) https://en.wikipedia.org/wiki/Balochistan,_Pakistan , देखा 18.9.18*
10. *मुस्तिखान, अहमर (2015) 'डिड नेहरू रिजेक्ट बलूच रूलर्स एक्सेशन रिक्वेस्ट?', डेली ओ, https://www.dailyo.in/ politics/nehru-baloch conflict-india-pakistan-army-kashmir-british/story/1/2825.html , देखा 19.9.18*
11. *हनीफ, मुहम्मद 'इंडियाज रिन्यूड स्ट्रेटजी ऑफ डिस्टेबलेइजिंग बलूचिस्तान', (21.08.2018) डेली टाइम्स https:// dailytimes.com. pk/286526/Indias-renewed strategy-of- destabilizing-balochistan/, देखा 20.9.18*
12. *सेन, अवीक (2017) 'ए ईयर ऑन इंडियाज स्टैंड ऑन बलूचिस्तान', रेडीफ न्यूज, https://m.rediff.com/ news/special/a-year-on-indias- stand-on-balochistan/20170614.htm, देखा 20.9.18*

ब्रिटिश कालीन भारत में रेलवे के विकास पर महात्मा गाँधी के विचार

अखिल कुमार गुप्ता

ब्रिटिश कालीन भारत में साम्राज्यवादी मंशा के अनुरूप अंग्रेजों ने स्थानीय समाज में कई बदलाव किए। कृषि, राजस्व, शिक्षा, चिकित्सा, विधि, उद्योग-व्यापार तथा परिवहन के साधनों का विकास इसी नीति का परिणाम रहा। अंग्रेजी व्यापारिक कंपनी ने अपने व्यापार व मुनाफे के लिए कृषि तथा परिवहन के साधनों के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया। भारत में रेलवे की स्थापना मुख्य रूप से व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए की गई थी लेकिन इसके साथ ही सेना के आवागमन, रसद की आपूर्ति तथा शासन को और केन्द्रीकृत करने में गति प्रदान की। मुनाफे और स्वार्थ की आधारशिला पर स्थापित रेलवे ने भारत को एकजुट करने तथा नवनिर्मित राष्ट्र के लिए एक जमीन भी मुहैया कराई जिस पर आज का भारत खड़ा है। रेलवे ने न सिर्फ आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक संरचना में बदलाव किया बल्कि सांस्कृतिक जीवन में भी बदलाव आया। भारत में रेलवे के आगमन से समाज में कई भ्रांतियों व चेतना का उदय एवं विकास हुआ, तत्कालीन समय में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का यह उदाहरण स्थानीय समाज के लिए एक अनूठे अजूबे से कम नहीं था। कुछ लोग रेलवे को एक लोहे की दानवी मशीन के रूप में देख रहें थे, तो कुछ आवागमन के तीव्र साधन व रोजगार के रूप में। स्थानीय स्तर पर भारतीय मजदूर, कुली तथा असंगठित क्षेत्र से जुड़कर कामगार के रूप में उभरे एवं रेलवे के माध्यम से ही डाकतार, अखबार, साहित्य, भाषा तथा खान-पान ने सांस्कृतिक चेतना का प्रसार कर बौद्धिकता में वृद्धि की।

भारत में रेलवे की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के वित्तीय पूंजीवाद चरण में की गई, जब इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति के लिए कच्चे माल की आपूर्ति तथा तैयार माल के लिए भारत एक बाजार बन चुका था। ब्रिटेन का पूंजीपति वर्ग सस्ती मजदूरी तथा कच्चे माल की पर्याप्त उपलब्धता के कारण भारत में पूंजी लगाने के लिए तैयार बैठा था। इस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से भारत में पूंजी निवेश अपरिहार्य हो गया।[1] ब्रिटिश कालीन भारत में यह बदलाव अब इंग्लैंड के स्वार्थों की पूर्ति करने लगा था जिसके कारण स्थानीय अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हुई। ब्रिटिश कालीन भारत के आर्थिक इतिहास का विश्लेषण करने वालों में दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, वाचा तथा रोमेशचन्द्र दत्त ने रेलवे की स्थापना पर इसके आर्थिक प्रभाव का निष्कर्ष प्रस्तुत किया। तत्कालीन समय में आवागमन के साधनों में बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी तथा नावें प्रमुख भूमिका निभा रहीं थीं। यह सिर्फ एक साधन भर नहीं थें बल्कि रोजगार तथा जीविका के साधन भी थे, जिस समय कृषि के विकास पर अधिक ध्यान देने की जरूरत थी उस समय ब्रिटिश सरकार रेलवे पर विदेशी कंपनियों को ब्याज की गारंटी दे रही थी। भारत में रेलों के वर्तमान ढाँचे में वाणिज्य संबंधी जरूरतों को अधिक

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 163-176*

प्रभावशाली ढंग से पूरा कर सकने की क्षमता है, किन्तु इसमें विदेशी रेल कंपनियों की पूंजी लगी हुई है और उसी पूंजी से रेले चलती हैं और विदेशी अंशभागियों को ब्याज देना होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि लाखों नाविकों और नाव बनाने वालों, गाड़ी वालों और गाड़ी मालिकों की रोजी खत्म हो गयी है।[2] ब्रिटिश कालीन भारत में बड़े उद्योगों की कमी के कारण स्थानीय लोगों की निर्भरता कुटीर उद्योग, हस्तशिल्प तथा कृषि पर थी। इसलिए ग्रामीणों का परिवहन के रूप में बैलगाड़ी तथा नावों का प्रयोग अधिक होता था और यह साधन उनके जीवन का एक अभिन्न हिस्सा बन गए थे।

ब्रिटिश कालीन भारत में रेलवे की स्थापना से जहाँ एक ओर आवागमन की सुविधा प्राप्त हुई वहीं इसके विस्तार में निवेश होने वाली पूंजी का भार आम भारतीयों पर पड़ा। एक ओर राजस्व में जबरन वसूली जारी रही दूसरी ओर कृषि का वाणिज्यीकरण करके खाद्यान्नों का संकट भी गहराने लगा। इसी आर्थिक संकट से जूझते हुए कांग्रेस के नरम दल और गरम दलों के बीच भी रास्साकशी चल रही थी। कांग्रेस का नेतृत्व कमजोर पड़ने लगा, इसी समय भारत में गांधी का आगमन होता है। तत्कालीन समय में तिलक को जेल जाने से गरमदल का नेतृत्व शिथिल हुआ तो नरमदल भी निष्क्रिय पड़ गया। दूसरे शब्दों में 1915-1917 तक राजनीति की ये दोनों धाराएं एक अंधी गली में फँस चुकीं थीं और जब इन राजनीतिज्ञों का सामना गांधी से हुआ तो उन लोगों के पास जोड़-तोड़ की बहुत कम गुंजाइश बची थी।[3] भारत में गांधी का आगमन एक आकर्षण से कम नही था, वह आमजन मानस के हर उस पहलू को देखने की कोशिश करते थे जिससे वो व्यथित होते थे। तत्कालीन भारत में कृषि तथा इससे जुड़े हुए क्षेत्रों में अंग्रेजों की नीतियां शोषण भरी तथा मानव सभ्यता पर बर्बर थीं। यहाँ की स्थिति भी गांधी को ठीक उसी प्रकार लगी जैसे वह दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष करके आए थे।

गांधी ने जब भारत को ठीक से जानने की इच्छा प्रकट की तो उनके राजनैतिक गुरू गोखले ने उन्हें भारत भ्रमण करने का परामर्श दिया। भारत में उनकी राजनीतिक यात्रा का आरम्भ चम्पारण से हुआ और फिर खेड़ा, अहमदाबाद ने उन्हें कांग्रेस के निर्विवाद सर्वमान्य नेता की श्रेणी में ला दिया। उनकी लोकप्रियता बढ़ाने में उनकी राजनीतिक शैली भी पर्याप्त सहायक हुई : तीसरी श्रेणी में यात्रा करना, आसान हिन्दुस्तानी में बोलना, 1921 के पश्चात् केवल लंगोटी पहनकर रहना और तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के बिंब-विधान को प्रयुक्त करना जो उत्तरी भारत के हिन्दू जनमानस में गहन रूप से पैठा हुआ था।[4] भारतीय समाज की संरचना को ठीक से समझने के लिए उन्होंने रेलवे से भारत का भ्रमण आरम्भ किया। अंग्रेजों के द्वारा स्थापित इस यातायात व्यवस्था को वैसे तो वह दासता के संदर्भ में ही देख रहें थें लेकिन उनका संघर्ष रेलवे से सबसे पहले दक्षिण अफ्रीका में हुआ था। डरबन से प्रिटोरिया जाते हुए एक बार उन्हें एक गोरे ने ट्रेन के प्रथम श्रेणी के डिब्बे से उतार दिया था। गांधी जी के पास प्रथम श्रेणी का टिकट था, फिर भी जबरन उतार दिया गया। गांधीजी ने प्रतीक्षालय में ठिठुरते हुए जाड़े की रात बिताई।[5] गांधी ने यहीं से अपने उस जीवन की शुरुआत की जिससे भारत की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त हुआ। भारत भ्रमण संग उन्होंने तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दशा को समझकर ब्रिटिश नीतियों के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ किया जिसकी परिणति हमें स्वतंत्रता प्राप्त होने पर देखने को मिलती है। गांधी ने ब्रिटिश भारत के प्रत्येक पहलू पर चर्चा की। उनका मानना था कि भारत का विकास स्वदेशी तकनीक से होना चाहिए जिसमें मानवतावाद तथा प्रकृति का समागम हो। गांधी ने अंग्रेजों द्वारा विकसित कई प्रणालियों का विरोध किया जिसमें रेलवे व्यवस्था भी शामिल थी।

ब्रिटिश कालीन भारत में रेलवे की स्थापना से पहले लोग परम्परागत रूप से बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी तथा ठेलागाड़ी के माध्यम से यात्रा करते व समान ढोते थे। तत्कालीन समय में मालवाहक के रूप में बंजारों की भूमिका अग्रणी रही क्योंकि वह अपने काफिले के द्वारा भारी मात्रा में माल को एक जगह से दूसरी जगह तक

आसानी से लेकर आते जाते थे। उनका समूह, कारवाँ या काफिले के रूप में जाना जाता था जिसमें सैकड़ों लोग एक साथ चलते थे। एक बंजारे के समूह में लगभग 10000 तक बैलगाड़ियाँ, 250-350 पाउंड तक का माल तथा उनकी यात्रा 2000 मील तक लम्बी होती थी।[6] प्रायः यह लोग भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक मालवाहक का काम करते थे जिससे जरूरत का हर सामान एक जगह से दूसरी जगह तक आसानी से पहुँच जाता था। समस्या इस बात की थी कि लोग एक जगह से दूसरी जगह तक आने जाने के लिए बैलगाड़ी का ही प्रयोग करते थे जिससे एक साथ ज्यादा लोग यात्रा नहीं कर सकते थे तथा समय भी ज्यादा लगता था। इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने व्यापार को और बढ़ाने के उद्देश्य से रेलवे की स्थापना की आवश्यकता महसूस की। ब्रिटिश कालीन भारत में रेलवे की योजना पर काम जल्द शुरू किया गया और ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने प्रस्ताव को इंग्लैंड भेजा, इसकी सहमति भी जल्द मिल गई। इंग्लैंड में पहली ट्रेन चलने के लगभग 20 वर्षों बाद मई 1845 में ईस्ट इंडिया कंपनी संगठित की गई।[7] इसे कलकत्ता से मिर्जापुर होते हुए दिल्ली तक रेलवे लाइन बिछाने का प्रस्ताव सौंपा गया लेकिन तत्कालीन समय में हुए एक अन्य समझौते में द ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे कंपनी ने ब्रिटिश कालीन भारत में पहली रेल चलाई। शनिवार 16 अप्रैल 1853 को एक रंगारंग कार्यक्रम में बांबे से थाणे तक 3 इंजनों की सहायता से भारत में पहली रेल चली जिसमें 400 लोग थे। 10 वर्षों के भीतर 552 मील लम्बी लाइनें शुरू हुईं और 1870 तक एक छोर से दूसरे छोर तक यानी जबलपुर होते हुए कलकत्ता और दिल्ली तथा शोलापुर और रायचूर होते हुए मद्रास तक रेलों का जाल बिछ चुका था।[8] ब्रिटिश कालीन भारत में रेलवे की स्थापना के बाद व्यापार, सेना का संचालन तथा आवागमन की सुविधा में बढ़ोत्तरी हुई और शासन में गतिशीलता आई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के विभिन्न भागों में अलग-अलग रेलवे कंपनियों के माध्यम से रेलवे का विस्तार किया। शासन तथा संगठन में मिले स्थायित्व ने कंपनी को एक अच्छे शासक की भूमिका में ला दिया। कुछ समय बाद ही 1857 की घटना ने कंपनी के हाथ से शासन की बागडोर ब्रिटिश क्राउन के अन्तर्गत आ गई, इसलिए सेना की पहुँच को देश के अन्दरूनी भागों तक महसूस की जाने लगी। धीरे-धीरे ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण सम्पूर्ण भारत पर हो गया। कांग्रेस की स्थापना से देश को एक नई संस्था मिली जो उनकी समस्याओं को उठा सकती थी। गांधी की भूमिका ने देश की राजनीति में एक नई क्रांति, चेतना तथा जागृति प्रदान कर जन आंदोलन का मार्ग प्रशस्त किया जिससे भारत को आखिर में स्वतंत्रता मिली। गांधी की इसी भूमिका में रेलवे ने भी अपना अप्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष योगदान दिया। गांधी से पहले ब्रिटिश भारत की स्थिति बिल्कुल भिन्न थी, उनके आने के बाद संघर्ष तथा विरोध करने के तरीके बदल गए। मोहन दास करमचंद्र से महात्मा की भूमिका में रेलवे का अविस्मरणीय योगदान है जिसका फलन स्वतंत्रता आंदोलन में देखने को मिलता है।

इंग्लैंड से अपनी वकालत पूरी करने के बाद गांधी को दादा अब्दुला दक्षिण अफ्रीका के एक बड़े व्यापारी के मुकदमें के सिलसिले में डरबन जाना पड़ा। डरबन से प्रिटोरिया के बीच मेरित्सबर्ग नेटाल की राजधानी में लगभग रात 9 बजे ट्रेन स्टेशन पर पहुँची। इसी स्टेशन पर एक अन्य यात्री आया और उसे गांधी के साथ में ट्रेन के पहले दर्ज में बैठना नागवार लगा। उसे रंगभेद के आधार पर एक भारतीय के साथ में यात्रा करना अच्छा न लगा और रेलवे अफसरों को बुलाकर गांधी को डिब्बे से बाहर निकालने का प्रयास किया। अफसर ने गांधी को डिब्बे से बाहर निकलने के लिए कहा। गांधी ने इंकार कर दिया। गांधी ने कहा, 'मेरे पास पहले दर्ज का टिकट है। उसने जबाब दिया, 'इसकी कोई बात नही। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें आखिरी डिब्बे में जाना है।' मैं कहता हूँ कि मुझे इस डिब्बे में डरबन से बैठाया गया है और मैं इसी में जाने का इरादा रखता हूँ।

अफसर ने कहा, यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना ही पड़ेगा और न उतरे तो सिपाही उतारेगा। मैंने कहा, 'तो फिर सिपाही भले उतारे, मैं खुद तो नही उतरूगाँ।' सिपाही आया उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे धक्का देकर नीचे उतरा।[9] दक्षिण अफ्रीका पहुँचते ही उन्हें रंगभेद का सामना करना पड़ा और प्रिटोरिया तक जाते-जाते वह अंग्रेजों की भेदभाव भरी नीतियों को समझ चुके थे। रेलवे में उनकी यह यात्रा एक कड़े अनुभव से गुजरी मगर उन्होंने रेलवे कानूनों को भली-भांति जानकर इस व्यवस्था से संघर्ष करते हुए नस्ली भेदभाव, मताधिकार, भूस्वामी तथा विवाह के अधिकार सहित विभिन्न मुद्दों के लिए आवाज उठाई। उन्हें इसमें बड़ी सफलता भी मिली, इसलिए जब वह भारत आए तो देश की दशा एवं स्थिति को ठीक से समझकर भारतीय राजनीति में एक नया और अनूठा प्रयोग शुरू किया। सत्याग्रह और अहिंसा के माध्यम से उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में कई बदलाव किए। भारत में अपने इन्हीं प्रयोगों को और विकसित करके अंग्रेजों से संघर्ष शुरू किया। गांधी के भारत पहुँचने से पहले ही इंग्लैंड के व्यापारियों के द्वारा रेलवे की स्थापना हो चुकी थी और उसका विस्तार साल दर साल बढ़ता ही जा रहा था। इसकी कीमत, प्रभाव तथा आर्थिक दबाव भारत पर ही पड़ रहा था, जिसका विश्लेषण दादाभाई नौरोजी सहित अन्य भारतीय भी कर चुके थे। गांधी अपने राजनैतिक गुरू की सलाह मानकर रेलवे की यात्रा से भारत को जानने के लिए तीसरे दर्जे से अपने सफर की शुरुआत की। तत्कालीन समय में अधिकतर भारतीय इसी दर्जे में यात्रा करते थे। इस दर्जे में बैठने के लिए आम भारतीयों को स्वतंत्रता थी तथा इसी में सबसे ज्यादा स्थान भी होता था। गांधी अभी सिर्फ मोहनदास करमचंद ही थे रेलवे की तीसरे दर्जे की यात्राओं ने उन्हें महात्मा की श्रेणी तक पहुँचाया। गांधी रेलवे में यात्रा करने से पहले भारत के आर्थिक इतिहास का विश्लेषण करने वालों में दादाभाई नौरोजी तथा आर. सी. दत्त से अधिक प्रभावित थे क्योंकि इन विद्वानों ने ही ब्रिटिश नीतियों का सर्वप्रथम वर्णन प्रस्तुत किया। इसके साथ ही इंग्लैंड में रहते हुए गांधी ने दादाभाई नौरोजी के कई लेखों को पढ़ा। गोखले ने स्वयं भी रेलवे के विकास पर अपनी लेखनी के द्वारा चिंता व्यक्त की लेकिन भारत को करीब से जानने के लिए उन्होंने गांधी को इसी साधन का सुझाव दिया क्योंकि तत्कालीन समय में यह साधन न सिर्फ सुलभ था बल्कि विकसित अवस्था में भी था।

भारत में रेलवे की स्थापना तथा विकास पर दादाभाई नौजोजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में लिखा कि यहाँ की पूंजी पर लाभ कमाकर कैसे इंग्लैंड भेजा जाता था और वही धन वापस भारत में निवेश किया जाता था। रेलवे निर्माण के लिए कभी-कभी बाहर के देशों से पूंजी उधार ले ली जाती है और उस पूंजी से अत्यधिक लाभ भी कमा लिया जाता था जिससे वह पूंजी अप्रत्यक्ष रूप से उस देश के उत्पादन में वृद्धि करती है। उधार ली हुई पूंजी का ब्याज उस विदेशी देने वाले देश को दे दिया जाता है और बची हुई पूरी राशि उस देश में रह जाती है लेकिन लाभ के इस प्रकार परिणाम रेलवे में अंत तक देखने को नही मिलते जो देश के वार्षिक आमदनी को सिद्ध और समविष्ट करें। यह भारत का दुर्भाग्य है कि वह इस प्रकार के किसी लाभ को प्राप्त नहीं कर सकती।[10] इस प्रकार की चर्चा तत्कालीन समय में कई विद्वानों के लेखों में देखने को मिलती है। गांधी इंग्लैंड में रहते हुए इस प्रकार के निष्कर्ष तथा आंकड़े देखते, पढ़ते रहें। इंग्लैंड से दक्षिण अफ्रीका वापस आने के समय उनके द्वारा लिखित पाश्चात्य सभ्यता पर टिप्पणी के रूप में हिन्द स्वराज एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसमें उन्होंने कई विमर्शों पर अपने विचार रखे। वह रेलवे के बारे में स्वयं कहते है; पहले लोग बैलगाड़ी से रोज बारह कोस की मंजिल तय करते थे, आज रेलगाड़ी से चार सौ कोस की मंजिल मारते हैं। यह तो सभ्यता की चोटी मानी गई है।[11] वह आधुनिक सभ्यता को भारतीय परिवेश के लिए अनुकूल नही मानते थे बल्कि वह भारत का विकास स्वयं धीरे-धीरे स्वतः ही होगा, क्योंकि भारतीय ग्रामीण सभ्यता स्वयं

गतिशील है और इस पर बाहर की कोई भी चीज थोपी न जाए। चाहे वह लोकतंत्र, संवैधानिक संसद, कोर्ट, वकील, डॉक्टर या रेलवे कोई भी हो। उनके अनुसार भारत पर अंग्रेज शासन नहीं कर रहें हैं बल्कि यह पाश्चात्य सभ्यता ही हम पर राज कर रही है। रेलवे के बारे में उनके विचार डॉक्टर तथा वकीलों के साथ में सामूहिकता से देश का नाश करने वालें हैं। देश को रेलों, वकीलों और डॉक्टरों ने आर्थिक रूप से नष्ट कर दिया हैं यह ऐसी स्थिति है कि यदि हम समय पर नही जागे तो बरबाद हो जाएगें।[12] उनका कहना था कि रेल के माध्यम से ही अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर कब्जा करके रखा है। रेल से महामारी फैलती है, एक व्यक्ति यदि किसी संक्रामक रोग से पीड़ित है तो वह रोग रेल से एक जगह से दूसरी जगह तक फैल जाता है। रेल से अकाल बढ़ते हैं लोग इस सुविधा के कारण अपना अनाज बेच डालते हैं। बुरे लोग भी पवित्र जगहों पर जाकर दुष्टता बढ़ाते हैं। यह सब इसी पाश्चात्य सभ्यता की देन है। इससे जितना हो सके बचना चाहिए। गांधी के यह विचार इंग्लैंड से दक्षिण अफ्रीका लौटते समय के थे। जब वह भारत आए तो दक्षिण अफ्रीका में किए गए संघर्ष से उन्हें हौसला मिला तथा भारत की स्थिति में भी बदलाव देखने को मिल रहा था। गोखले का सुझाव था कि भारत की वास्तविक दशा एवं स्थिति का ज्ञान बिना भारत भ्रमण बगैर पूर्ण न हो पाएगा। तत्कालीन समय में उन्होंने गांधी को रेलवे से भारत को देखने का सुझाव दिया। वह यह जानना चाहते थे कि ब्रिटिश द्वारा स्थापित इस व्यवस्था का भारतीय संदर्भ कैसा है। उन्होंने गांधी को रेलवे के प्रथम दर्जे में ही सफर करने को कहा लेकिन गांधी ने उस दर्जे को चुना जिसके माध्यम से वह दक्षिण अफ्रीका को भी देख, संघर्ष कर चुके थे। ब्रिटिश भारत में आरम्भ हुआ उनका सफर तृतीय दर्जे का पर्याय बन गया क्योंकि तत्कालीन समय में आम आदमी इसी दर्जे में सफर करता था।

हिन्द स्वराज में गांधी के विचार रेलवे के संदर्भ में उसी परिपेक्ष्य में थे जब भारत में रेलवे का विकास तथा विस्तार हो रहा था। तत्कालीन समय में रेलवे व्यवस्था ब्रिटिश साम्राज्यवाद का एक अंग थी जिसके द्वारा भारतीयों तथा भारत के संसाधनों का शोषण किया जा रहा था। ब्रिटिश कालीन भारत में अधिकतर भारतीय तीसरे दर्जे में ही सफर करते थे क्योंकि तत्कालीन समय में आरक्षण तरह की कोई व्यवस्था नही थी। गांधी यदि पहले या दूसरे दर्जे में यात्रा करते तो शायद वह भारत की वास्तविक दशा को न जान पाते और नही वे जन सामान्य से रूबरू हो पाते। उस समय सबसे ज्यादा स्थान रेलवे के तृतीय दर्जे में होता था। गांधी की भारत में लम्बी दूरी की रेल यात्रा दक्षिण अफ्रीका से लौटकर अपने परिवार को ले जाने के लिए की थी। वे जुलाई 1896 में कलकत्ता से राजकोट रेल से गए। कलकत्ता आने पर वह गोखले से मिले तथा उनके साथ रहें। अपनी रेलवे से जाने की मंशा को उन्होंने गोखले के समक्ष रखा। गोखले ने पहले तो इस बात को हँसकर टाल दिया लेकिन जब गांधी ने अपनी यात्रा के विषय तथा आशाओं को बताया तब वह मान गए। गोखले ने उनकी यात्रा के लिए सामान जुटाया, पीतल के एक डिब्बे में बेसन के लड्डू और पूरियाँ गांधी के लिए रखवा दीं गईं। बारह आने में किरमिच का एक थैला लिया। छाया (पोरबंदर के पास एक गाँव) की ऊँन का एक ओवरकोट बनवाया। थैले में यह ओवरकोट, तौलिया, कुर्ता और धोती थी। ओढ़ने को एक कम्बल था। इसके अलावा एक छोटा लोटा भी साथ में रख लिया था।[13] गांधी को स्टेशन तक गोखले तथा उनके एक मित्र डॉ. राय भी साथ में छोड़ने आए। कलकत्ता से राजकोट तक की उनकी यात्रा में काशी, आगरा, जयपुर, पालनपुर तथा राजकोट में उन्हें एक-एक दिन रूकना भी था। तीसरे डिब्बों में तत्कालीन समय में साफ-सफाई नाम मात्र की ही होती थी। यात्री भेड़ बकरी की तरह भरे होते थे। दक्षिण अफ्रीका की अपेक्षा ब्रिटिश कालीन भारत में रेलवे के तृतीय दर्जे की स्थिति अत्यंत दयनीय होती थी। गांधी स्वयं अपनी आत्मकथा में इस बात का जिक्र करते हैं

कि अन्य दूसरे प्रदेशों में तो तीसरे दर्जे में सोने की सुविधा भी रहती है बैठके गद्दीदार होती हैं। प्रत्येक डिब्बे में बैठने वालों की संख्या का भी ध्यान रखा जाता है लेकिन भारत में तो जैसे किसी को परवाह ही नही है। यहाँ पर रेलवे विभाग तथा अधिकारियों के व्यवहार, असुविधाएँ, भारतीय यात्रियों की गंदी आदतें चाहे जहाँ थूकना, चाहे जहाँ कचरा डालना, चाहे जैसे और चाहे जब बीड़ी पीना, पान-तम्बाकू चबाना और जहाँ बैठे वहीं उसकी पिचकारियाँ छोड़ना, फर्श पर जूठन गिराना, चिल्ला-चिल्लाकर बातें करना, पास में बैठे हुए आदमी की सुख-सुविधा का विचार न करना और गंदी बोली बोलना-यह तो सार्वत्रिक अनुभव है।[14] तत्कालीन समय में इस प्रकार की दिक्कतें आम बात थीं। गांधी की भारत में तृतीय दर्जे की इस लम्बी यात्रा में उन्हें कई अनुभव हासिल हुए। उन्होंने 1902 के अनुभव और 1915 से 1919 तक के दूसरी बार के अनुभवों में कोई बदलाव नहीं पाया। 1920 के आस-पास उन्हें तीसरे दर्जे की यात्रा अपनी बीमारी के कारण लगभग बन्द करनी पड़ी। इसका उन्हें खेद तथा दुख दोनों रहा।

दक्षिण अफ्रीका से हमेशा के लिए भारत वापस आने पर वह 9 जनवरी 1915 को बम्बई पहुँचे। वह परम्परागत गुजराती पोशाक में थे। प्रारम्भ में वे बम्बई से 15 जनवरी को अहमदाबाद गए और 4 फरवरी को वापस आए। 17 फरवरी को वे शांति निकेतन (बोलपुर रेलवे स्टेशन) पहुँचे जहाँ गुरूदेव टैगोर ने फीनिक्स आश्रम की उनकी पार्टी को अस्थाई निवास उपलब्ध करवाया था। फरवरी 1916 से पूर्व तक उनकी यात्राएँ मुख्यतः बम्बई और पूना तक सीमित रहीं और फिर उन्होंने बनारस, चेन्नई, हैदराबाद (सिंध, पाकिस्तान), कराँची और हरिद्वार की यात्राएँ की। ये भ्रमणशील यात्राएँ उनके पटना, मुजफ्फरपुर, मोतिहारी और उत्तरी बिहार के दूसरे स्थानों तक पहुँचने तक जारी रहीं, जहाँ उन्होंने अप्रैल 1917 में भारत में अपना पहला सत्याग्रह प्रारम्भ किया।[15] यह तो सिर्फ एक शुरुआत भर थी गांधी को रेलवे से भारत को देखने की, इसके बाद उन्होंने भारत के राजनैतिक विकास के लिए रेलवे को एक माध्यम ही बना लिया। कांग्रेस के देश के विभिन्न भागों में होने वाले अधिवेशनों से लेकर उनकी व्यक्तिगत राजनीतिक तथा सामाजिक यात्राएँ भी तीसरे दर्जे से होती रहीं। उन्हें रेलवे अधिकारियों के द्वारा तीसरे दर्जे के यात्रियों को अपमानित करने, अपशब्द बोलने तथा आदमी ही न समझना इस पर बहुत ठेस पहुँची। तत्कालीन समय भी उसी सामंती सोच का हिस्सा था जो ऊँच-नीच, जातिवाद, अस्पृश्यता तथा अमीरी-गरीबी के आधार पर ही भेदभाव को बढ़ाता था।

गांधी की दूसरी लम्बी यात्रा गोखले की मृत्यु का समाचार मिलने पर शांति निकेतन से पूना तक की थी। जिसके बारे में उन्होंने अपनी आत्मकथा में 'तीसरे दर्जे की विडम्बना' शीर्षक लेख में लिखा है। तीसरे दर्जे का टिकट पहले से न मिलना, रेलवे कर्मचारियों से उनका वाद-विवाद, अत्यधिक भीड़-भाड़, तीसरे दर्जे में यात्रा करने पर आने वाली समस्याएँ, अपनी पत्नी को दूसरे दर्जे के स्नानघर का प्रयोग करने का संकोच इत्यादि दिक्कतें आईं। वह कहते हैं, पत्नी को दूसरे दर्जे के स्नानघर का उपयोग करने का अधिकार नहीं था, इसे मैं जानता था। पर मैंने उसे इस स्नानघर में नहाने देने के अनौचित्य के प्रति आँखे मूंद ली। सत्य के पुजारी को यह भी शोभा नही देता। पत्नी का वहाँ जाने का कोई आग्रह नहीं था, पर पति के मोह रूपी युवर्णपात्र ने सत्य को ढांक लिया।[16] गांधी को जब बर्द्धमान रेलवे स्टेशन पर जगह नहीं मिली तो वह बा को लेकर ड्योढ़े दर्जे में गए। उन्हें जाते हुए गार्ड ने देख लिया और आसनसोल स्टेशन पर ज्यादा किराया लेने के उद्देश्य से आया। वह उससे बहस करना मुनासिब न समझे और पूना तक का ड्योढ़े दर्जे का किराया देकर बैठे। मुगलसराय स्टेशन पर अगले दिन वह तीसरे दर्जे में फिर वापस गए। पूना स्टेशन पहुँचकर उन्होंनें 23 फरवरी 1915 को ईस्ट इंडियन रेलवे के ट्रैफिक मैनेजर को तीसरे दर्जे के डिब्बे में दाखिल होने में हर प्रकार से असफल रहने पर ऊँचे दर्जे के

डिब्बे में चढ़ जाने के कारण अतिरिक्त किराया वसूले जाने पर एक पत्र लिखा। सारी गतिविधियों से उन्होंने रेलवे अधिकारियों को अवगत कराया। अतः उनके कथन को सही मानकर मनिऑर्डर द्वारा मुगलसराय से जबलपुर तक के किराये के अन्तर की रकम भेजा गया। यह न सिर्फ उनकी सफलता थी बल्कि तत्कालीन समय में रेलवे ब्रिटिश स्वामित्व में थी इसलिए एक आम भारतीय की जीत थी। गांधी भले ही रेलवे व्यवस्था का विरोध करते रहें लेकिन इसकी उपयोगिता तथा महत्व पर आँख नही मूंद सके। रेलवे अब धीरे-धीरे उनकी जिन्दगी में शामिल होने लगी, इसका असर उनकी यात्राओं पर भी था। इसलिए वह रेलवे के विकास पर दोबारा सोचने की ओर उन्मुख हुए।

गांधी की अगली यात्रा कलकत्ता से हरिद्वार की रही, जहाँ वे कुम्भ मेले में शामिल होने जा रहें थें। यह एक विशेष थका देने वाली यात्रा थी क्योंकि कुम्भ मेला हिन्दू धर्म को मानने वालों के लिए एक महत्वपूर्ण तीर्थ यात्रा है जो प्रत्येक 12 वर्ष में एक बार हरिद्वार, इलाहाबाद, उज्जैन तथा नासिक में बारी-बारी से होती है। इस आयोजन के लिए रेलवे पर और दबाव तथा दिक्कते बढ़ जातीं हैं क्योंकि धर्म के नाम पर बाटने वाली संस्कृति निकलकर सामने आती है। तत्कालीन समय में भी रेलगाड़ियों में धर्म के आधार पर खाने-पीने की वस्तुएँ अलग-अलग धर्म के लोग बेचते थे जिसका जिक्र गांधी ने भी किया। कलकत्ते से हरिद्वार पहुँचने में खूब परेशानी उठानी पड़ी। गाड़ी के डिब्बों में कभी-कभी रोशनी तक नहीं होती थी। सहारनपुर से तो यात्रियों को माल के या जानवरों के डिब्बों में ही ठूँस दिया गया था। खुले बिना छतवाले डिब्बों पर दोपहर का सूरज तपता था। नीचे निरे लोहे का फर्श था। फिर घबराहट का क्या पूछना। इतने पर भी श्रद्धालू हिन्दू अत्यंत प्यासे होने पर भी मुसलमान-पानी के आने पर उसे कभी न पीते थें। 'हिन्दू पानी' की आवाज आती तभी वे पानी पीते। इन्हीं श्रद्धालु हिन्दुओं को डॉक्टर दवा में शराब दे, माँस का सत दे अथवा मुसलमान या ईसाई कम्पाउन्डर पानी दे तो उसे लेने में इन्हें संकोच नहीं होता और न पूछताछ करने की जरूरत होती है।[17] धार्मिक अंधविश्वास और सामंती सोच के कारण लोग व्यक्ति को इंसान न समझकर उसे जाति, धर्म, सम्प्रदाय, क्षेत्र तथा भाषा के आधार पर देखतें हैं। इसी कारण अराजकता को बढ़ावा मिलता है। गांधी ने इन सभी के विरुद्ध सामाजिक संघर्ष का आन्दोलन चलाया इसके साथ ही रेलवे ने सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने में सफलता प्राप्त की। भले ही कुछ समय तक क्षेत्र आधार पर अलग-अलग धर्म व जाति के लोग खाने-पीने की वस्तुएँ बेचते रहें लेकिन समयान्तर में जब अधिकतर लोग रेलवे से जुड़ने लगे तो इस प्रकार की मानसिकता तथा विचारधारा भी कमजोर पड़ने लगी। धीरे-धीरे रेलवे ने खाने-पीने के लिए ठेकेदारी व्यवस्था को बढ़ावा दिया तब यह कोई नहीं पूछता था कि तुम किस जाति या धर्म के हो।

गांधी ने कुम्भ मेले के दौरान अव्यवस्था पर भी दुख प्रकट किया, विशेष रूप से साफ सफाई और पाखाने (शौचालय) को लेकर। गांधी अब इस समय धीरे-धीरे मोहनदास करमचंद से महात्मा की श्रेणी में आने लगे। लोग उन्हें देखने तथा सुनने के लिए आमंत्रित करने लगे। कई बार उन्हें अपनी विकसित व लोकप्रिय होती भारत व्यापी छवि से दिक्कतें भी होतीं थीं, जिन्हें वह स्वीकार भी करते। नहाने व खान के लिए भी उन्हें कभी-कभी एकांत नही मिल पाता था। वह जितनी सेवा या संघर्ष दक्षिण अफ्रीका में किए उसका प्रभाव भारत पर कितना पड़ा, उसका असर या अनुभव उन्हें हरिद्वार में देखने को मिला। 1916 में जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की गई तो देश भर से उन्हें बोलने के लिए आमंत्रित किया गया। बनारस में दिए गए भाषण में विस्तार से विभिन्न विषयों को जोड़ा गया था जिसमें रेलगाड़ियों के तीसरे दर्जे के यात्री की तकलीफों पर ध्यान जाता है किन्तु इन सभी तकलीफों की जिम्मेदारी रेलवे के अधिकारियों के ऊपर नही मढ़ी

जा सकती। यह जानते हुए भी कि डिब्बे का फर्श अकसर सोने के काम में बरता जाता है हम उस पर जहाँ तहाँ थूकते रहतें हैं। हम जरा भी यह नही सोचते कि हमें वहाँ क्या फेकना चाहिए, क्या नही और नतीजा यह होता है कि सारा डिब्बा गन्दगी का अवर्णनीय नमूना बन जाता है। जिन्हें कुछ ऊँचे दर्जे का माना जाता है, वे अपने को कम भाग्यशाली अपने भाइयों के साथ डाँट-डपटकर व्यवहार करतें हैं। विद्यार्थी वर्ग को भी मैंने ऐसा करते पाया है। वे भी (गरीब), सहयात्रियों के साथ (कुछ अच्छा) व्यवहार नहीं करते। वे अंग्रेजी बोल सकतें हैं और नारफॉक जकिटें पहने होतें हैं और इसलिए वे अधिकार जताकर डिब्बे में घुस जातें हैं और बैठने की जगह ले लेतें हैं।[18] गांधी धीरे-धीरे अब भारतीय राजनीति के नए पथ प्रदर्शक बन गए। देश के प्रत्येक हिस्से में उनकी यात्राएं, भाषण तथा भ्रमण जारी रहें। वह अपनी सभा के माध्यम से भारतीय राजनीति की तो चर्चा करते ही थे, इसके साथ ही रेलवे तथा विशेष रूप से तीसरे दर्जे की यात्रा से संबंधित विभिन्न दिक्कतों एवं चिन्ताओं को भी व्यक्त करते थे।

मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में 16 फरवरी, 1916 के दिन 'मद्रास सर्विस लीग' के वार्षिक सत्र को संबोधित अपने भाषण को उन्होंने इन शब्दों के साथ समाप्त किया; अब जो विद्यार्थी तृतीय श्रेणी में यात्रा करतें हैं उनसे एक बात कहना चाहूँगा। आप उन लोगों पर रौब न जमायें जो आपके वस्त्रों को देखकर भ्रमवश अपने-आपकों आपसे निम्नतर श्रेणी का मान लेतें हैं। यदि आपने ऐसा किया तो आप समाज-सेवा के अयोग्य माने जायेगें।[19] गांधी अब ब्रिटिश कालीन भारत में स्थापित, विकसित व विस्तारित रेलवे की आलोचना नहीं करते बल्कि देश की जागरूकता, बदलाव तथा लोगों के अंदर सेवा भाव जगाने का कार्य भी रेलवे के माध्यम से करने लगे। विद्यार्थियों के समक्ष उन्होंने इस बात को मजबूती के साथ रखा कि अपने देशवासियों के साथ में समानता का व्यवहार करना चाहिए तथा किसी को कमतर न आंकना चाहिए। रेलवे के तृतीय दर्जे के लगाव के प्रति ही उन्होंने गुजराती में एक लघु पुस्तिका प्रकाशित की जो 'काठियावाड़ टाइम्स' के 26 जुलाई 1916 के अंक में प्रकाशित हुई थी। इसमें उन्होंने कहा कि, रेल यात्रियों को बहुत तकलीफें उठानी पड़तीं हैं। भारत में चारों ओर एकता की लहर उठ रही है उसका उपयोग हम इन तकलीफों को दूर करने में कर सकते है। इसके साथ ही ब्रिटिश तथा भारतीय रेलवे अधिकारियों, कर्मचारियों, सिपाही तथा शिक्षित यात्रियों को स्थानीय लोगों के साथ में समानता व अपने जैसा व्यवहार करना चाहिए जैसा उन्हें स्वयं पसंद है। यात्रा के समय आप ब्राह्मण हैं, दूसरा वैश्य अथवा शूद्र है, आप हिन्दू हैं दूसरा मुसलमान, आप बम्बई के निवासी हैं दूसरा मद्रास का आदि भेदभावों को मन में स्थान देकर द्वेष की सृष्टि करने के बदले यदि आप यह मानकर भ्रातृभाव से बरते कि हम सब भारत माता के पुत्र हैं और संयोग से एकत्र हुए हैं तो आपकी वह घड़ी सुख से बीतेगी और भारत की शोभा बढ़ेगी।[20] इस प्रकार गांधी अपने लेखन, भाषण तथा व्यक्तित्व के माध्यम से भारत को राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से जोड़ने की मुहिम में लगे हुए थे। उनकी इस दीर्घ यात्रा में रेलवे हमसफर की तरह उनके साथ रही। वह रेलवे के द्वारा जाति-पात, धर्म, भाषा तथा क्षेत्र की विषमताओं को दूर करने का प्रयास कर रहे थे। भारत रेलवे के द्वारा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक रूप से एकीकरण की ओर भी बढ़ रहा था तथा लोगों में आई चेतना तथा जागृति ने स्वतंत्रता संग्राम में और गति प्रदान की।

अपनी लम्बी-लम्बी यात्राओं में गांधी को कभी-कभी काफी तकलीफों का सामना भी करना पड़ा। कराची से कलकत्ता तक की उनकी यात्रा एक कड़वे अनुभव से गुजरी। लाहौर से दिल्ली तक आने के लिए उन्हें डिब्बे में जाने के लिए जगह नहीं मिल पा रही थी, इसके लिए उन्होंने एक मजदूर से बात की। उसने बारह आने की माँग की फिर भी उन्हें अन्दर घुसने नही दिया जा रहा था। यात्रियों ने कहा यहाँ जगह नहीं है अगर खड़े

रहना है तो अन्दर घुस आओ। मजदूर ने उन्हें खिड़की से अन्दर की ओर घुसा दिया और बारह आने ले लिए। काफी समय गुजरने के बाद भी जब वो खड़े ही रहें और लोग उन्हें परेशान करते रहे और वो शांति से जबाब देते रहे। जब बाद में उनसे उनका नाम पूछा गया तब लोग शर्मिंदा हुए और अपने बगल में जगह दी।[21] तीसरे दर्जे में की जा रही उनकी यात्राओं में लोग उन्हें अभी पहचान नहीं रहें थें लेकिन नाम धीरे-धीरे प्रसिद्ध हो रहा था। जब उन्होंने अपना नाम बतलाया तो लोग अफसोस करते हुए शर्मिंदगी महसूस किए। गांधी यह नही चाहते थे कि लोग उन्हें जानकर जगह दे दें, इसलिए वे देश के कई भागों की यात्राएँ ऐसे ही करते रहें।

ब्रिटिश कालीन भारत में उनके यह दिन ऐसे थे जब वे गुमनामी में रेल गाड़ियों पर यात्रा कर सकते थे और देश भर में घूम सकते थे। इस संदर्भ में एक यादगार अवसर का वर्णन अरुण गांधी ने किया है : उनसे (गांधीजी और कस्तूरबा) मिलने वाले विद्यार्थियों का एक दल मद्रास रेलवे स्टेशन पर तीसरे दर्जे के अन्तिम डिब्बे में उन्हें खोज पाने से पूर्व पहले और दूसरे दर्जे के डिब्बों में उन्हें तलाश करता रहा और अन्त में उन्हें चार दिनों की यात्रा के पश्चात् थके और धूल-धूसरित अवस्था में पाया। व्यवहार में त्याग के इस नये प्रकार के उदाहरण ने आदर्शवासी विद्यार्थियों का स्वतः स्फूर्त अनुमोदन जीत लिया। विद्यार्थियों ने घोड़ा गाड़ी से घोड़े को हटा दिया और मेरे दादा-दादी को उसमें बिठाकर विजयघोष करते हुए शहर की सड़कों पर स्वयं खींचते चलें गयें।[22] यह वह समय था जब ब्रिटिश कालीन भारत में गांधी की लोकप्रियता धीरे-धीरे बढ़ रही थी। अपनी बढ़ती राजनैतिक व्यस्तता के बीच उन्होंनें कभी भी रेलगाड़ियों पर आम यात्रियों की स्थिति के बारे में अपनी दिलचस्पी में कमी नही आने दी। गांधी को दक्षिण अफ्रीका से भारत आए हुए लगभग ढाई वर्ष बीत चुके थे। इस दौरान उन्होंने इस समय का लगभग एक चौथाई समय रेलवे के तृतीय दर्जे की यात्राओं में बिताया। उन्होंने उत्तर में लाहौर, दक्षिण में ट्रेकेबार और कराची से कलकत्ता तक की यात्रा की। उनका एक उद्देश्य इस दर्जे के यात्रियों की स्थिति तथा हालात का जायजा लेना भी था जो तत्कालीन समय में विद्यमान था। ब्रिटिश कालीन भारत में न सिर्फ रेलवे में इस प्रकार स्थिति बनी हुई थी बल्कि देश की सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था भी संक्रमण से गुजर रही थी।

सितम्बर 1917 को बम्बई से मद्रास तक की उनकी यात्रा एक डाकगाड़ी के द्वारा की गई। यह यात्रा भी उनके लिए एक चुनौती रही। गाड़ी का डिब्बा जिसमें ऊपर लिखा हुआ था यह 22 यात्रियों के लिए है लेकिन धीरे-धीरे इसमें भीड़ बढ़ती ही गई। रायचूर पहुँचने तक लोगों को रोक पाना सम्भव नहीं था। यात्रियों के लिए न तो सोने की व्यवस्था और न ही शौचालय की। इसके अलावा स्टेशनों पर बिकने वाली चीजें काफी गंदी थीं। भारतीय यात्रियों के द्वारा रेल में किया जाने वाला व्यवहार भी शोचनीय और अकथनीय होता था। ब्रिटिश कालीन भारत में रेलवे सुविधाओं का न तो ध्यान रखा जाता था और न ही कोई वैकल्पिक व्यवस्था उपलब्ध कराई जाती थी। तत्कालीन समय में रेलवे का किराया भी सुविधाओं के अनुसार नही होता था। मद्रास का पहले दर्जे का किराया तीसरे दर्जे के किराये से पांच गुने से कुछ अधिक होता है किन्तु पहले दर्जे के यात्रियों को जितनी सुविधाएँ मिलती है, तीसरे दर्जे के यात्रियों को क्या उसका पांचवा हिस्सा बल्कि दसवां हिस्सा भी मिलता है? यह मांग करना निःसन्देह न्याय है कि खर्च और सुविधाओं में कुछ अनुपात रखा जाना चाहिए। यह बात सभी लोग जानते हैं कि पहले और दूसरे दर्जे के यात्रा की दिन पर दिन बढ़ने वाली सुख सुविधाओं का खर्च तीसरे दर्जे के यात्री ही देते हैं। तीसरे दर्जे के यात्रियों को कम से कम बिल्कुल जरूरी सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार तो है ही।[23] तत्कालीन समय में अंग्रेज और भारतीय कुलीन वर्ग ही पहले और दूसरे दर्जे में यात्रा करते थे। साधारण वर्ग को तृतीय दर्जे में ही जाने का अधिकार था। तृतीय दर्जे की स्थिति अत्यंत दयनीय बनी रही,

गांधी ने कई लम्बे-लम्बे पत्र अंग्रेज रेलवे अधिकारियों को लिखे मगर सुविधाओं में कोई बदलाव नहीं आ रहा था। गांधी फिर भी अंग्रेजो की नीतियों पर विश्वास कर रहें थें कि धीरे-धीरे सरकार हमारी माँगों को जरूर स्वीकार कर लेगी तथा तृतीय दर्जे की स्थिति में कुछ सुधार करेगी।

प्रथम विश्व युद्ध के समय जब वे लोगों को सेना में भर्ती होने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे क्योंकि तब तक वे ब्रिटिश सरकार को एक सहयोगी की भूमिका में देख रहे थे और सोचते थे कि यह साम्राज्यिक सरकार के प्रति एक वफादार नागरिक का कर्तव्य है। तब 11 अगस्त 1918 को नाडियाद में वे गम्भीर रूप से बीमार पड़ गये। इस लम्बी बीमारी ने उन्हें बारंबार की यात्राओं से रोक दिया। फिर भी भारत के राजनैतिक जीवन में उनके बढ़ते प्रभुत्व, लोकप्रियता के परिणामस्वरूप उनकी पूर्व निर्धारित व्यस्तताओं के बावजूद, रेलवे में उनकी दिलचस्पी बरकरार रही। 16 नवम्बर 1918 से कुछ दिनों पूर्व 'पहले रेलवे अधिवेशन' के लिए उन्होनें साबरमती आश्रम से संदेश भेजा जो नाडियाद में 'गुजरात राजनैतिक परिषद' के साथ-साथ आयोजित होने वाला था जो कि उस समय रेलवे के महत्त्व को रेखांकित करता है : ''तबीयत ठीक न होने के कारण उपस्थित न हो सका, इसका मुझे दुख है। रेलवे संबंधी सुधार के दो विभाग किये जा सकते है : एक तो सरकार से न्याय प्राप्त करना और दूसरा यात्रियों के अज्ञान को दूर करना। स्वराज की कुंजी स्वावलम्बन में है।''[24] उनका मानना था कि साधारण लोगों तथा सरकार के सामूहिक प्रयासों से ही रेलवे में सुधार किया जा सकता है। व्यक्तिगत कार्यों के द्वारा ही सामूहिकता वाले उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। 1920 के आस-पास गांधी की तबीयत खराब रहने लगी जिसके कारण तीसरे दर्जे की उनकी यात्रा कुछ समय के लिए बन्द हो गयी, उन्हें इस बात का खेद रहा कि जब रेलवे की समस्याएँ सुलझाई जा सकती थीं तब उन्हें विराम लेना पड़ा। फिर भी वो लगातार तीसरे दर्जे की समस्याओं के प्रति सचेत रहे तथा लोगों को जागरूक करते हुए समाधान निकालते रहे। वे रेलवे में होने वाली वस्तुओं की चोरी के बारे में लोगों से आग्रह करते रहे कि यह काम सरकार तो करेगी नहीं, यह हम में से कुछ लोग करतें हैं। इसलिए जब तक हम नही सुधरेगें तब तक ब्रिटिश सरकार की नींव हम और मजबूत करतें रहेंगें।

अस्वस्थ्य रहने पर वह कुछ समय के लिए पहले और दूसरे दर्जे की यात्राएँ भी किए लेकिन इसका उन्हें खेद भी रहा। एक बार एक संवाददाता को उत्तर देते हुए उन्होंने वैसे ही खेद और विरह के भाव व्यक्त किये, आप कहते हैं कि वे यन्त्र तो सभ्यता के लिए अभिशाप सिद्ध हुए हैं तब आप रेलगाड़ी और मोटर में क्यों सफर करते हैं? कुछ बाते ऐसी हैं जिनके फन्दे से, प्रयत्न करते हुए भी, एक बार भी नहीं छूट सकते। मेरा यह पार्थिक ढाँचा जिसमें मैं बन्द हूँ, मेरे जीवन में अनेक परेशानियों और चिन्ताओं का कारण है, परन्तु मैं उसको सहन करने के लिए और जैसा आप जानते है, उनके आगे झुकने के लिए भी मजबूर हूँ। परन्तु क्या आपको वास्तव में इस बात में शक है कि इस पिछले महायुद्ध में जो आयोजित नरसंहार हुआ उसका कारण यह यन्त्र-युग ही है। क्या यह बात सच है कि पहले आप रेलगाड़ी में तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठकर यात्रा करते थे और अब आप स्पेशल गाड़ी में और पहले दर्जे के डिब्बे में बैठकर चलते है? अफसोस! आपको यह सही खबर मिली है। स्पेशल गाड़ियों का कारण तो यह महात्मापन है और दूसरे दर्जे के डिब्बों तक पहुँचने के अद्यःपतन का कारण यह पार्थिक कलेवर।[25] गांधी जिस प्रक्रिया से गुजरकर महात्मा बने और सम्पूर्ण देश में वह निर्विवाद एक नेतृत्वकर्ता के रूप में उभरे, उससे अब वह साधारण व्यक्ति नहीं रह गए। बड़ी शक्तियों के साथ बड़ी जिम्मेदारियाँ भी उन पर पड़ी तथा भारतीय राजनीति व स्वतंत्रता आन्दोलन उनसे संचालित होने लगा। इससे उन पर काम का बोझ भी बढ़ा तथा शरीर अस्वस्थ्य रहने लगा। लोग उनसे मिलने, देखने तथा सुनने के लिए सैकड़ों किलोमीटर दूर से आने लगे, अब ब्रिटिश सरकार भी उनकी नेतृत्व क्षमता तथा ख्याति को स्वीकार करने लगी।

गांधी भी रेलवे के महत्त्व व इसकी आवश्यकता का अनुभव करने लगे क्योंकि उन तक पहुँचने वाली भीड़ रेलवे से भी आती थी। उनके विचार हिन्द स्वराज से भारत में रहने के बाद बदलने लगे। गांधी जब दोबारा स्वस्थ्य हुए तब तक वो महात्मा बन चुके थे और अब वो एक साधारण व्यक्ति की तरह तृतीय दर्जे में सफर नहीं कर सकते थे क्योंकि लोग उन्हें देखने के लिए उमड़ने लगे। 1 मई 1925 को वे कलकत्ता पहुँचते हैं और दूसरे दिन ढाका मेल के पीछे जोड़े गए एक डिब्बे में अपने साथियों के साथ फरीदपुर के लिए रवाना हो जाते हैं उसके आगे चन्द्रनगर, कलकत्ता, पूर्वी बंगाल का एक विस्तृत दौरा जिसमें चिटगांव, कोमिल्ला, नोआखली, मैमनसिंध और दीनाजपुर शामिल हैं। कलकत्ता वापसी, शांति निकेतन (बोलपुर), दार्जिलिंग से होते हुए 10 जून को जलपाईगुड़ी पहुँचते हैं वहाँ से उन्हें दूसरे दिन ढाका जिले के एक गांव नवाबगंज पहुँचना था। किन्तु दार्जिलिंग-कलकत्ता मेल जिससे उनके साथियों को नवाबगंज जाना था, लगभग डेढ़ घण्टे विलम्ब से चल रही थी। इसलिए पारादह से ढाका मेल में आगे की यात्रा के लिये उनका डिब्बा जुड़ने से रह गया। जब श्री सतीश बाबू ने सुझाव दिया कि नवाबगंज के कार्यक्रम को अपरिवर्तित रखने के लिए एक विशेष गाड़ी की व्यवस्था की जानी चाहिए तो गांधी जी ने इस विचार को तुरन्त ही स्वीकार किया और बड़ी भावुकता से कहा, हमारी जनता के साथ किये गये हमारे वादों का पालन भी उसी तत्परता से होना चाहिए जितना हम वाइसराय के साथ बातचीत के लिए करते हैं। तदनुसार एक विशेष रेलगाड़ी पार्वतिपुर से गोलुण्डो तक के लिए व्यवस्थित की गई जिसमें एक इंजन, एक डिब्बा और गार्ड का डिब्बा जोड़ा गया और जिसका खर्च एक हजार रुपये से थोड़ा अधिक (रूपये 1,140/-) आया। गांधी जी और उनके साथी दार्जिलिंग मेल से यात्रा करके पार्वतिपुर तक आये और वहां से उक्त विशेष रेलगाड़ी द्वारा गोलुण्डों समय पर नवाबगंज के लिए नाव पकड़ने पहुँचे।[26] गांधी ने भारतीयों को उसी प्रकार समय दिया जिस प्रकार वह ब्रिटिश सरकार के साथ व्यवहार करते थे। रेलवे गांधी के लिए अब एक ऐसा साधन बन गई जो जनता से मिलाती थी, वो लोगों से मिलते, उनकी व्यथा सुनते और देश की स्थिति तथा राजनीति पर चर्चा करते।

तत्कालीन समय तक वह बात भी निकलकर सामने आनी लगी कि अवसरों के अनुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है। भले ही अंग्रेजों के द्वारा स्थापित इस व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण ब्रिटिशों का था लेकिन अब आम भारतीय भी इसमें शामिल होने लगे थे। रेलवे मजदूरों के रूप में शुरू हुआ भारतीयों का सफर कर्मचारियों तक आ गया। गांधी रेलवे में व्याप्त गंदगी से हमेशा व्यथित रहें चाहें बात बांबे, बड़ौदा एण्ड सेन्ट्रल इंडिया रेलवे कंपनी की लाइनों में जोधपुर की हो या यूनाईटेड प्रॉविन्स की। कई स्टेशनों पर मुसाफिर खानों में अव्यवस्था, शौचालय तथा यूरोपीयों का व्यक्तिगत व्यवहार इत्यादि दिक्कतें आजादी तक बनीं रहीं। गांधी जब भारतीय राजनीति के एक सूत्र कर्ताधर्ता बन गए और दांडी मार्च, गांधी इरविन समझौता, लन्दन में गोलमेज सम्मेलन, कारावास, आमरण उपवास, पूना पैक्ट तथा अस्पृश्यता के खिलाफ उनका संघर्ष लगातार उनकी सक्रियता को बढ़ा रहा था, तब उनकी रेलवे यात्राएं धीरे-धीरे कम भी हुई।

1945 में गांधी बंगाल यात्रा पर गए, दो डिब्बे तीसरे दर्जे के उनके लिए आरक्षित करवाए गए लेकिन जब उन्होंने पाया कि वह और उनके साथियों के लिए एक डिब्बा पर्याप्त है तो एक डिब्बे को जो भीड़ में पिस रहें हैं उनके लिए दे दिया जाए। गांधी ने रेलवे की कई बारीकियों को उसी समय पहचान लिया था जिन्हें हम आज देखते हैं, उनका कहना था रेलवे श्रेणी विहीन यात्राएँ कराएँ। रेलवे में सफाई तथा स्वच्छता को लेकर अपनी चिन्ताओं को व्यक्त करते हुए हिन्दू और मुसलमान पीने के लिए पानी तथा चाय को आप्राकृतिक और अधार्मिक बतलाया। 8 फरवरी 1946 को अपने सेवाग्राम आश्रम से त्रिचुरापल्ली के पास 'गोल्डन रॉक

कार्यशाला' के 'ऑल इंडिया रेलवे मैंस फेडरेशन' के लिए लिखा जिसमें रेलवे से जुड़ी विभिन्न बातें शामिल थीं। मजदूरों का कहना था कि रेलवे से अभी करीब 2,64000 कर्मचारी निकाले जाने वाले हैं अकेले साउथ इंडियन रेलवे में से 10000 निकाले जायेगें और अब तक 2000 निकाले जा चुके हैं। हमारी माँग है कि हमें कम से कम 30 रुपये मासिक निर्वाह वेतन मिलना चाहिए। अभी हमें 8 से 15 रूपये के बीच मिलता है। 42000 रेलवे कर्मचारियों में से सिर्फ 8000 को ही मकान मिले हुए हैं जिनकी स्थिति बहुत ही खराब है। मजदूरों की 16 मांगे थी जो रेलवे कर्मचारी संघ ने रेलवे बोर्ड और सरकार को भेजी थीं। मजदूरों का गांधी से आग्रह था पूरा काम, निर्वाह वेतन, अच्छे मकानों की सुविधा आदि पाने की हमारी जो मांगे हैं उनके लिए हम आपसे हमारा समर्थन करने की प्रार्थना करतें हैं और आशा करतें हैं कि आप इस मामले में देश का नेतृत्व करेंगें और रेलवे बोर्ड को हमारी माँगे मानने के लिए मजबूर करेंगें और इस तरह हजारों रेलवे कर्मचारियों और दूसरों की बेकारी, मुसीबत और गरीबी से बचा लेगें।[27] गांधी अब अखिल भारतीय कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि बनकर उभरे तथा वो एक भारत के सर्वमान्य नेता बन गए। किसानों से शुरू हुआ उनका सफर, मजदूरों, स्त्रियों तथा अस्पृश्यता से होते हुए आजादी तक आया। मजदूर भी यह मानने लगे कि हम उनके द्वारा अपनी माँगों को पूर्ण करा सकते हैं। गांधी ने हमेशा तीसरे दर्जे के यात्रियों की दिक्कतों के बारे में लोगों का ध्यान खींचा। वह कहते थे कि रेलवे में सबसे ज्यादा यात्री तीसरे दर्जे के होते हैं इसलिए उनकी सुविधाओं का ख्याल रखना चाहिए। वह कहते थे कि अब वह समय बहुत दूर नहीं है जब रेलगाड़ियाँ दर्जे विहीन हो जाएगी क्योंकि एक आदर्श समाज वर्गहीन होना चाहिए। इसे हम सबकों मिलकर अमल में लाना चाहिए। रेलवे के माध्यम से उन्होंने जाति व्यवस्था तथा धर्म के आधार पर बटे समाज पर भी प्रहार किया। उनका मानना था कि रेलवे और रेलवे स्टेशन तो लोगों के अहंकार को दूर करने, उनमें एकता फैलाने, समाज में सभ्यता के साथ रहने तथा साफ-सफाई जैसे सामूहिक कामों को दिखाने का एक सुन्दर साधन बन सकते हैं।

8 अक्टूबर 1946 को 'अखिल भारतीय चर्खा संघ' के दिल्ली अधिवेशन के पश्चात् उन्होंने साम्प्रदायिक सद्भाव विषय पर 'हिन्दू पानी और मुस्लिम पानी' शीर्षक के अन्तर्गत एक पर्चा लिखा जिसमें उन्होंनें धर्म के आधार पर अलग-अलग खान-पान बिकने पर चिन्ता जताई। तत्कालीन समय में आसफ अली रेलवे का काम देख रहे थे। गांधी ने कहा किसी को भी ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए कि रेलवे के एक मुसलमान के अन्तर्गत होने से हिन्दूओं को न्याय नहीं मिलेगा। केन्द्र और प्रदेश की सरकारों में हिन्दू मुस्लिम और किसी अन्य प्रकार का साम्प्रदायिक विभेद नही है और न होना चाहिए। सभी भारतीय हैं। धर्म एक व्यक्तिगत चीजें हैं।[28] वास्तविकता में धर्म और जाति जितने भी विभाजन है वो तो सब व्यक्तिगत चीजें हैं। हमें इस विभाजन को अपने तक ही सीमित रखना चाहिए। जैसे-जैसे स्वतंत्रता नजदीक आ रही थी वैसे महात्मा गांधी अत्यधिक सक्रिय और चिंतित रहने लगे। 15 अगसत 1946 को मुस्लिम लीग के डाइरैक्ट एक्शन की घोषणा के बाद देश भर में कई जगहों पर दंगे हुए। गांधी अकेले ही इस भीषण रक्तपात से संघर्ष करते रहे। इसलिए लार्ड माउंटबैटन ने उन्हें 'वन मैन बाऊड्री फोर्स' कहा। अन्त तक वह विभाजन के खिलाफ रहें लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों ने उन्हें हरा दिया और देश का विभाजन हो गया। इस सबके बावजूद वह लोगों एक करने के लिए दिन रात लगे रहे। 15 अगस्त 1947 को जब देश स्वतंत्र होकर हर्ष और उल्लाह के एक नए मार्ग पर आया तो गांधी कलकत्ता में अपने रचनात्मक कार्य करते हुए लोगों को समझा रहें थें। गांधी ब्रिटिश कालीन भारत में जिस समय भारतीय राजनीति में प्रवेश कर रहें थें उस समय तक रेलवे का विस्तार देश के अधिकांश हिस्सों तक हो चुका था लेकिन अपने राजनैतिक गुरू की सलाह मानकर रेलवे से भारत को जानना, यह एक

नया प्रयास था भारत को देखने का। रेलवे के माध्यम उन्होंने भारत की जाति व्यवस्था, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा तथा वर्ग विभाजन को देखा, यह न सिर्फ ग्रामीण भारत की तस्वीर थी बल्कि शहरी क्षेत्रों में भी इस प्रकार की भिन्नता देखने को मिल रही थी। गांधी ने इसलिए कहा भी कि एक दिन ऐसा आएगा जब रेलवे क्लासों (वर्ग) में विभाजित नही होगी। ब्रिटिश कालीन भारत में स्थापित रेलवे में न सिर्फ अंग्रेजों के द्वारा भारतीयों के साथ में भेदभाव किया जा रहा था बल्कि भारतीय भी ग्रामीणों या अपने से कमतर, आर्थिक रूप से कमजोर लोगों के साथ में भिन्नता का व्यवहार कर रहें थें। इसके साथ ही गांधी ने तत्कालीन देश की राजनीति में किसानों, मजदूरों, विद्यार्थियों, कर्मचारियों तथा जन सामान्य को एकजुट करके देश को संगठित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1915 में लिखे गए हिन्द स्वराज से लेकर 1947 तक की स्थिति धीरे-धीरे बदली और गांधी ने अपने भारत भ्रमण के दौरान रेलवे का पूर्ण रूप से उपयोग किया। उन्होंने भले ही प्रत्यक्ष रूप से यह नहीं कहा कि रेलवे देश की तरक्की में सहायक या योगदान करेगी लेकिन रेलवे की भूमिका को स्पष्ट रूप से नकारा भी नहीं। गांधी तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त लोगों की मानसिकता, गलत व्यवहार, साफ-सफाई, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, चोरी तथा रेलवे में बिना टिकट यात्रा करना इत्यादि मसलों पर खुलकर चर्चा की। इसके अलावा रेलवे कर्मचारी, मजदूर व इससे जुड़े लोगों से भी बात की, उनके मुद्दे उठाए तथा उनकी माँगों को सरकार तक भी पहुँचाया।

गांधी ने स्थिति व अवसर के अनुसार सामान्य जन तक पहुँचने के लिए पैसे भी खर्च किए क्योंकि उनका कहना था कि हमारे लिए हमारी जनता वायसराय के समान है। इसलिए की हमने उन्हें समय दिया है तो निश्चित समय पर पहुँचना हमारी नैतिक जिम्मेदारी है। गांधी दादाभाई नौरोजी, आर. सी. दत्त तथा गोपालकृष्ण गोखले के रेलवे संबंधित आर्थिक विचारों से प्रभावित थे लेकिन स्वयं उन्होंने कभी रेलवे की आर्थिक समीक्षा नहीं की। इसी प्रकार रेलवे में प्रयुक्त विज्ञान, तकनीक तथा अभियांत्रिकी पर भी चर्चा नहीं की भले ही वह पाश्चात्य सभ्यता के विमर्श में रेलवे को देख रहे थे लेकिन उनका मकसद रेलवे के जरिये भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक स्थिति व दशा में बदलाव लाना था। वह रेलवे के माध्यम से देश को एकजुट करने में लगे रहे और कहा कि देश की स्वतंत्रता में रेलवे को एक साधन की तरह उपयोग किया जा सकता है। वह स्वयं भी यह देख रहे थे कि रेलवे निर्माण, संचालन तथा कार्य प्रणाली में लाखों आम भारतीय भी संलग्न हैं। इसलिए देश को आगे ले जाने में रेलवे एक साधन हो सकती है। उन्होंने जोर देकर कहा कि हम लोगों को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे रेलवे प्रभावित हो फिर चाहे बात साफ सफाई, अभद्र व्यवहार, शौचालय का प्रयोग, घूसखोरी, चोरी तथा आपस में लड़ने या बिना टिकट यात्रा करना। इन सभी के कारण ब्रिटिश सरकार और मजबूत होगी और हम लोग संगठित नहीं हो सकेंगे। प्रकृति निर्मित इस संसार में समय व परिस्थिति के अनुसार मानवीय व्यवहार में भी धीरे-धीरे परिवर्तन आता है। हमें एक समय में पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना आश्यर्च जनक लगा लेकिन बाद में उसे स्वीकार कर लिया गया, ठीक इसी प्रकार गांधी एक समय में रेलवे को देश के लिए बाधक मानते थे लेकिन धीरे-धीरे वे रेलवे को देश के विकास में एक साधन के रूप में देखने लगे। रेलवे ने उन्हें कुछ ऐसा प्रभावित किया कि वह उसके आलोचक से साधक बन गए।

इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. *प्रधान, रामचन्द्र, राज से स्वराज : भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2015, पेज. न. 107.*
2. *दत्त, रोमेश चन्द्र, भारत का आर्थिक इतिहास, एस. चन्द्र एण्ड कंपनी प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पेज नं. 219.*
3. *बंधोपाध्याय, शेखर, प्लासी से विभाजन तक : आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2012, पेज नं. 310.*
4. *सरकार, सुमित, आधुनिक भारत : 1885-1947, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पेज नं. 201.*
5. *चन्द्र, बिपिन, मृदुला मुखर्जी तथा अन्य, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2009, पेज नं. 148.*
6. *केर, इयान, जे., इंजंस ऑफ चेंज : द रेलरोड्स देट मेड इंडिया, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2012, पेज नं. 5.*
7. *जी. हडल्सटन, हिस्ट्री ऑफ द ईस्ट इंडियन रेलवे, ट्रेकर स्पिंक एण्ड को, कलकत्ता, 1906, पेज नं. 1.*
8. *भंडारी, रतन राज, भारतीय रेल 150 वर्षों का सफर, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2009, पेज नं. 11.*
9. *गांधी, मोहनदास करमचंद, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2014, पेज नं.105.*
10. *नौरोजी, दादाभाई, पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, पब्लिकेशन डिवीजन, मिनिस्ट्री ऑफ इनफोरमेशन एण्ड ब्राडकॉस्टिंग, गर्वमेंट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1962, पेज नं. 111.*
11. *गांधी, महात्मा, हिन्द स्वराज, शिक्षा भारती, दिल्ली, 2010, पेज नं. 26.*
12. *केर, इयान, जे., रेलवेज इन मॉडर्न इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1957, पेज नं. 77.*
13. *गांधी, मोहनदास करमचंद, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 2014, पेज नं. 223.*
14. *वही, पेज नं. 225.*
15. *आनन्द, डॉ. वाई पी., महात्मा गांधी और रेलवे, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2002, पेज नं. 45.*
16. *गांधी, मोहनदास करमचंद, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पूर्वोक्त, पेज नं. 361.*
17. *वही, पेज नं. 365.*
18. *आनन्द, डॉ. वाई. पी. पूर्वोक्त, पेज नं. 51.*
19. *वही, पेज नं. 52.*
20. *वही, पेज नं. 55.*
21. *गांधी, मोहनदास करमचंद, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पूर्वोक्त, पेज नं. 378.*
22. *आनन्द, डॉ. वाई. पी. पूर्वोक्त, पेज नं. 56.*
23. *गांधी, एम. के., थर्ड क्लास इन इंडियन रेलवे, गांधी पब्लिकेशन लीग, लाहौर, 1917, पेज नं. 4.*
24. *आनन्द, डॉ. वाई. पी. पूर्वोक्त, पेज नं. 65.*
25. *वही, पेज नं. 68.*
26. *वही, पेज नं. 70.*
27. *वही, पेज नं. 81.*
28. *वही, पेज नं. 84*